

प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१

लेखन एवं गाथा व कलशों का पद्यानुवाद
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

प्रकाशक
रवीन्द्र पाटनी फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई
एवं
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२ ०१५

प्रथम संस्करण हिन्दी (१ जनवरी, २००५)	:	५ हजार
प्रथम संस्करण मराठी (१ जनवरी, २००५)	:	१ हजार
वीतराग-विज्ञान (हिन्दी-मराठी) के सम्पादकीयों के रूप में	:	८ हजार ६५०
कुल	:	१४ हजार ६५०

मूल्य : ३० रुपए

लैजर टाइपसेटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-४, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
एम.आई.रोड.
जयपुर

प्रकाशकीय

यह तो सर्वविदित ही है कि विगत २८ वर्षों में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में जो भी लिखा है; वह सब आज जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है, पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थाई साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है।

न केवल हिन्दी भाषा में उनके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं; अपितु गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद हो चुके हैं तथा अनेकों बार प्रकाशित भी हो चुके हैं।

इनमें परमभावप्रकाशक नयचक्र, समयसार अनुशीलन, धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारहभावना : एक अनुशीलन, चैतन्यचमत्कार, निमित्तोपादान, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, शाश्वत तीर्थधाम: सम्मेद शिखर, शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में, आत्मा ही है शरण और गोम्मटेश्वर बाहुबली प्रमुख हैं और भी अनेक ग्रंथ आपने लिखे हैं।

डॉ. भारिल्ल के द्वारा लिखित साहित्य की सूची अन्त में दी गई है।

इन सब कृतियों ने जैनसमाज एवं हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उनके लिखे साहित्य की अबतक आठ भाषाओं में चालीस लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने अबतक लगभग ७ हजार पृष्ठ लिखे हैं, जो लगभग सभी प्रकाशित हैं। लगभग १० हजार पृष्ठों का संपादन भी किया है।

आज के बहुचर्चित और जैनदर्शन के महत्वपूर्ण लगभग सभी विषयों पर उन्होंने कलम चलाई है और उन्हें सर्वांगरूप से प्रस्तुत किया है।

डॉ. भारिल्ल के साहित्य पर लिखित शोध-प्रबन्ध डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व विषय पर सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ने डॉ. महावीरप्रसादजी जैन, टोकर (उदयपुर) को पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की है। अनेक छात्रों ने लघु शोध-प्रबंध भी लिखे हैं, जो राजस्थान विश्वविद्यालय में स्वीकृत हो चुके हैं एवं अनेक शोधार्थी अभी भी डॉ. भारिल्ल के साहित्य पर शोधकार्य कर रहे हैं। उनके साहित्य पर शोधकार्य

करनेवाले छात्रों को डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा छात्रवृत्ति भी प्रदान की जाती है। इच्छुक व्यक्ति संपर्क कर सकते हैं।

समयसार अनुशीलन की लोकप्रियता ने प्रवचनसार अनुशीलन लिखने को प्रेरित किया। अपनी रुचि एवं पाठकों की प्रेरणा प्राप्त होने पर वीतराग-विज्ञान मासिक के संपादकीयों के रूप में प्रवचनसार अनुशीलन लिखना आरंभ हुआ।

वीतराग-विज्ञान के मई, २००३ के अंक से जब प्रवचनसार अनुशीलन सम्पादकीय के रूप में प्रकाशन आरम्भ हुआ, तब ही से अनुकूल प्रतिक्रियायें आने लगीं और इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माँग भी आने लगी; वैसे तो हम उनके सभी सम्पादकीयों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते ही आ रहे हैं, इन्हें भी करना ही था; पर जबतक प्रवचनसार ग्रंथ का एक महाधिकार पूर्ण नहीं हुआ, तबतक तो रुकना ही था।

प्रवचनसार का विषय गूढ़, गंभीर एवं सूक्ष्म है। इसे समझने के लिए बौद्धिक पात्रता भी अधिक चाहिए। विशेष रुचि एवं खास लगन के बिना प्रवचनसार के विषय को समझना सहज नहीं है। अतः पाठकों को अधिक धैर्य रखते हुए इसका अध्ययन करना आवश्यक है।

अब विदेश में २३ वर्षों से डॉ. भारिल्ल के द्वारा तत्त्वप्रचार होने से इस अनुशीलन का विदेशी पाठक भी लाभ लिए बिना नहीं रहेंगे।

सुन्दर टाइपसैटिंग हेतु श्री दिनेश शास्त्री तथा ग्रंथ को आकर्षक कलेवर में प्रकाशित करने हेतु प्रकाशन विभाग के मैनेजर श्री अखिल बंसल भी धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ के प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने में जिन दातारों ने सहयोग दिया है, उनकी सूची अन्यत्र प्रकाशित की जा रही है; उन्हें भी ट्रस्ट की ओर से हार्दिक धन्यवाद !

सौभागमल पाटनी

अध्यक्ष

रवीन्द्र पाटनी फैमिली चैरिटेबल ट्रस्ट

मुम्बई

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

जयपुर

अनुक्रमणिका

कलश १	६	गाथा २३	१२४
कलश २	११	गाथा २४-२५	१२९
कलश ३	१२	गाथा २६	१३४
गाथा १-५	१५	गाथा २७	१३९
गाथा ६	३७	गाथा २८-२९	१४४
गाथा ७	४२	गाथा ३०-३१	१५२
गाथा ८	४९	गाथा ३२	१५८
गाथा ९	५३	गाथा ३३	१६३
गाथा १०	५७	गाथा ३४	१७२
गाथा ११	६७	गाथा ३५	१७५
गाथा १२	७२	गाथा ३६	१८०
गाथा १३	७५	गाथा ३७	१८५
गाथा १४	७९	गाथा ३८-३९	१९२
गाथा १५	८५	गाथा ४०-४१	१९५
गाथा १६	९०	गाथा ४२	१९९
गाथा १७	१०१	गाथा ४३	२०३
गाथा १८	१०६	गाथा ४४	२०७
गाथा १९-२०	११२	गाथा ४५	२१३
गाथा २१-२२	१२१	गाथा ४६	२१९

अनुक्रमणिका

गाथा ४७	२२३	गाथा ७५	३१९
गाथा ४८	२२६	गाथा ७६	३२४
गाथा ४९	२३२	गाथा ७७	३३१
गाथा ५०-५१	२३८	गाथा ७८	३३८
गाथा ५२	२४१	गाथा ७९	३४४
गाथा ५३	२४८	गाथा ८०	३५४
गाथा ५४	२५२	गाथा ८१	३७९
गाथा ५५-५६	२५६	गाथा ८२	३८३
गाथा ५७-५८	२६१	गाथा ८३-८४	३८८
गाथा ५९	२६५	गाथा ८५	३९४
गाथा ६०	२६९	गाथा ८६	४०५
गाथा ६१-६२	२७४	गाथा ८७	४०९
गाथा ६३-६४	२७९	गाथा ८८-८९	४१४
गाथा ६५-६६	२८४	गाथा ९०	४१९
गाथा ६७-६८	२८९	गाथा ९१	४२४
गाथा ६९-७०	२९६	गाथा ९२	४२७
गाथा ७१	३०२	गाथा पद्यानुवाद	४३६
गाथा ७२	३०८	कलश पद्यानुवाद	४४५
गाथा ७३-७४	३१२	●●●	

प्रवचनसार अनुशीलन

मंगलाचरण

(अडिल्ल)

ज्ञान-ज्ञेयमय निज आतम आराध्य है।

ज्ञान-ज्ञेयमय आतम ही प्रतिपाद्य है॥

ज्ञान-ज्ञेयमय एक आतमा सार है।

जिनप्रवचन का सारहि प्रवचनसार है॥१॥

लोकालोक प्रकाशित जिनके ज्ञान में।

किन्तु आतमा एक है जिनके ध्यान में॥

भव्यजनों को जिनका एक अधार है।

जिनकी ध्वनि का सार ये प्रवचनसार है॥२॥

उनके वचनों में ही निशदिन जो रमें।

उनके ही वचनों का प्रतिपादन करें॥

कुन्दकुन्द से उन गुरुओं को धन्य है।

उनके सदृश जग में कोई न अन्य है॥३॥

उन्हें नमन कर उनकी वाणी में रमूँ।

जिसमें वे हैं जमे उसी में मैं जमूँ॥

उनके ही पदचिह्नों पर अब मैं चलूँ।

उनकी ही वाणी का अनुशीलन करूँ॥४॥

मेरा यह उपयोग इसी में नित रहे।

मेरा यह उपयोग सतत् निर्मल रहे॥

यही कामना जग समझे निजतत्त्व को।

यही भावना परमविशुद्धि प्राप्त हो॥५॥

पृष्ठभूमि

जिनेन्द्र भगवान के प्रवचनों (दिव्यध्वनि) का सार यह कालजयी प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रचलित अद्भुत सशक्त संरचना है। समस्त जगत को ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के रूप में प्रस्तुत करनेवाली यह अमर कृति विगत दो हजार वर्षों से निरन्तर पठन-पाठन में रही है। आज भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इसे स्थान प्राप्त है।

यद्यपि आचार्यों में कुन्दकुन्द और उनकी कृतियों में समयसार सर्वोपरि है; तथापि समयसार अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक विषयवस्तु के कारण विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त नहीं कर सका; पर अपनी विशिष्ट शैली में वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक प्रवचनसार का प्रवेश सर्वत्र अबाध है।

प्रमाण और प्रमेय व्यवस्था का प्रतिपादक यह ग्रन्थराज आचार्य कुन्दकुन्द की ऐसी प्रौढतम कृति है कि जिसमें वे आध्यात्मिक संत के साथ-साथ गुरु-गंभीर दार्शनिक के रूप में प्रस्फुटित हुए हैं, प्रतिष्ठित हुए हैं।

आचार्य जयसेन के अनुसार यदि पंचास्तिकाय की रचना संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के लिए हुई थी, तो इस ग्रन्थराज प्रवचनसार की रचना मध्यम रुचिवाले शिष्यों के लिए हुई है।^१

यद्यपि इस ग्रन्थराज पर अद्यावधि विभिन्न भाषाओं में अनेक टीकायें लिखी गई हैं; तथापि इस ग्रन्थराज की रचना के लगभग एक हजार वर्ष बाद और आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका और उसके लगभग तीन सौ वर्ष बाद आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति संस्कृत भाषा में लिखी गई ऐसी टीकायें हैं कि जो आज सर्वाधिक प्रचलित हैं, पठन-पाठन में हैं।

तत्त्वप्रदीपिका एक प्रांजल भाषा में लिखी गई प्रौढतम कृति है और तात्पर्यवृत्ति सरल भाषा और सुबोध शैली में लिखी गई खण्डान्वयी टीका है।

इस ग्रंथराज की विषयवस्तु को तीन महाधिकारों में विभाजित किया गया है। जहाँ एक ओर 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका में आचार्य अमृतचन्द्र उक्त तीन महाधिकारों को ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन और चरणानुयोग-सूचक चूलिका नाम से अभिहित करते हैं; वहीं दूसरी ओर 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में आचार्य जयसेन सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार और सम्यक्चारित्राधिकार कहते हैं।

प्रश्न – अधिकारों के नामकरण में आचार्यों में इसप्रकार के मतभेद क्यों हैं ?

उत्तर – ये मतभेद नहीं हैं; क्योंकि मतभेद तो तब हो, जब विषयवस्तु के प्रतिपादन में विभिन्नता हो। वह तो है नहीं, इसलिए मतभेद का तो सवाल ही नहीं उठता।

बात यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने तो अधिकारों का विभाजन किया नहीं; वे तो समग्ररूप से वस्तु का प्रतिपादन करते गये। टीकाकारों ने पाठकों की सुविधा के लिए वर्गीकरण किए हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र तो प्रथम टीकाकार हैं; अतः उनका किसी से मतभेद था; इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है और आचार्य जयसेन ने अमृतचन्द्र के वर्गीकरण को विनम्रतापूर्वक स्वीकार करते हुए अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अतः मतभेद की बात ही नहीं है। हमें दोनों टीकाओं का भरपूर लाभ लेना है; अतः इसप्रकार विकल्पों का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

मेरी दृष्टि में प्रवचनसार की विषयवस्तु को देव-शास्त्र-गुरु के रूप में भी विभाजित किया जा सकता है। ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन या सम्यग्ज्ञान महाधिकार में मुख्यरूप से देव के स्वरूप पर ही विचार किया गया है।

१. (क) प्रवचनसार : तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ-१ (ख) पंचास्तिकाय : तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ २

जैनमान्यतानुसार देवों में अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी आते हैं और गुरुओं में आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी आते हैं।

अरहंतदेव द्वारा प्रतिपादित और गुरुओं द्वारा लिपिबद्ध वाणी ही शास्त्र है। इसप्रकार ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन या सम्यग्ज्ञान महाधिकार में देव का स्वरूप, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में या सम्यग्दर्शनाधिकार में शास्त्र का और चरणानुयोगसूचक चूलिका अथवा सम्यक्चारित्राधिकार में गुरुओं के स्वरूप का प्रतिपादन है।

ध्यान रहे, मंगलाचरण में देव और गुरुओं को याद किया ही गया है, विशेषरूप से आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में बीच-बीच में जो गाथाएँ उपलब्ध होती हैं और जो तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं पाई जातीं; वे सभी अरहंत और सिद्ध परमेष्ठियों के स्मरणरूप ही है। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि वे इस महाधिकार में देव का स्वरूप ही समझा रहे हैं।

अतीन्द्रियज्ञान (सर्वज्ञता-केवलज्ञान) और अतीन्द्रिय अनंतसुख भी तो अरहंत-सिद्धों को ही प्राप्त है। इसप्रकार शुद्धोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान और सुख का प्रतिपादन भी देव के स्वरूप का ही प्रतिपादन है।

सिद्ध परमेष्ठी तो हमारे लिए मात्र आदर्श हैं, पर अरहंत परमेष्ठी जिन-शास्त्रों के मूलाधार भी हैं। यही कारण है कि ८०वीं गाथा में साफ-साफ लिख दिया कि जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानते हैं; उनका मोह नाश को प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि मोह के नाश के लिए अरहंत का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि पूरे ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन नामक प्रथम अधिकार में अरहंत-सिद्ध भगवान के प्रमुख गुण अनंतज्ञान और अनंतसुख का विस्तार से निरूपण है। इसप्रकार यह देव के स्वरूप का प्रतिपादन होने से देवाधिकार ही है।

इस देवाधिकार के अन्त में शास्त्रों के स्वाध्याय करने की पावन प्रेरणा देकर अगले अधिकार में शास्त्रों में प्रतिपादित वस्तु के स्वरूप का सामान्य और विशेष प्रतिपादन किया गया है और स्व-पर का विवेक जागृत करने के लिए ज्ञान और ज्ञेय के विभाग को समझाया गया है और अन्तिम महाधिकार में गुरुओं के स्वरूप का प्रतिपादन है ही।

इसप्रकार देवाधिदेवमहाधिकार, शास्त्रमहाधिकार और गुरुमहाधिकार के रूप में भी वर्गीकरण किया जाना भी अयुक्त नहीं है।

श्रुतस्कन्धों के नाम से अभिहित इन महाधिकारों के अन्तर्गत भी अनेक अवान्तर अधिकार हैं; जिनकी चर्चा यथास्थान आवश्यकतानुसार होगी ही।

तात्पर्यवृत्ति टीका के आरंभ में ही अपने वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हुए आचार्य जयसेन पूर्ववर्ती आचार्य अमृतचन्द्र के वर्गीकरण का भी उल्लेख करते हैं।

‘तात्पर्यवृत्ति’ में आचार्य जयसेन ने अपने वर्गीकरण को पातनिका के रूप में यथास्थान सर्वत्र स्पष्ट किया ही है।

यद्यपि यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र के वर्गीकरण के अनुसार प्रवचनसार के प्रतिपाद्य का अनुशीलन अभीष्ट है; इसकारण तत्त्वप्रदीपिका को मुख्य आधार बनाकर ही यह अनुशीलन किया जायेगा; तथापि आवश्यकता-नुसार यथास्थान तात्पर्यवृत्ति का भी भरपूर उपयोग किया जायेगा। प्रयत्न रहेगा कि कोई भी नया प्रमेय अनुल्लिखित न रह जाय।

इस अनुशीलन में आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका की पाण्डे हेमराजजी की ब्रजभाषा में की गई टीका का पण्डित मनोहरलालजीकृत आधुनिक हिन्दी अनुवाद, पण्डित हिम्मतलाल जेठालाल शाह के गुजराती अनुवाद का पण्डित परमेष्ठीदासजीकृत हिन्दी अनुवाद, कविवर वृन्दावन-दासजी के प्रवचनसार परमागम एवं आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का भी भरपूर उपयोग किया जायेगा। इनके अतिरिक्त तत्संबंधी

अन्य उपलब्ध साहित्य का उपयोग भी विषयवस्तु के स्पष्टीकरण की आवश्यकतानुसार यथास्थान बिना संकोच के किया जायेगा।

समयसार अनुशीलन के निर्विघ्न पूर्ण हो जाने के उपरान्त उसके अनुशीलन से प्राप्त अभूतपूर्व आध्यात्मिक लाभ और अद्भुत आनन्द के कारण ही प्रवचनसार का अनुशीलन करने का प्रयास आरंभ किया जा रहा है।

यद्यपि समयसार के अनुशीलन करते समय भी उसके उपरान्त प्रवचनसार के अनुशीलन करने का विकल्प निरन्तर चलता रहा है और आत्मार्थी बन्धुओं से भी इस उपक्रम के लिए सतत् प्रेरणा मिलती रही है; तथापि संयोगों की क्षणभंगुरता ध्यान में आते ही तत्संबंधी विकल्प तरंगे विलीन हो जाती थीं; किन्तु आज इस उपक्रम को आरंभ होता देखकर चित्त आह्लादित है।

आशा ही नहीं, पूर्व विश्वास है कि समयसार अनुशीलन के समान ही यह प्रयास भी मुझे तो लाभप्रद होगा ही, अन्य साधर्मि आत्मार्थी बन्धुओं को भी उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका का मंगलाचरण इसप्रकार है -

(अनुष्टुप)

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।

स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥१॥

(दोहा)

स्वानुभूति से जो प्रगट सर्वव्यापि चिद्रूप ।

ज्ञान और आनन्दमय नमो परात्मस्वरूप ॥१॥

सर्वव्यापी होने पर भी मात्र एक चैतन्यरूप है स्वरूप जिसका और जो स्वानुभव से प्रसिद्ध होनेवाला है; उस ज्ञानानन्दस्वभावी उत्कृष्ट आत्मा को नमस्कार हो।

मंगलाचरण के उक्त छन्द में ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को नमस्कार किया गया है। यहाँ जिसे नमस्कार किया जा रहा है, उस आत्मा को परमात्मा न कहकर परात्मा कहा गया है। परमात्मा कहने से अरहंत-सिद्धपर्यायरूप से परिणमित आत्मा अर्थात् कार्यपरमात्मा पकड़ में आता है; किन्तु यहाँ अरहंत-सिद्धरूपकार्यपरमात्मा को नमस्कार न करके पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा त्रिकालीध्रुव कारणपरमात्मा को नमस्कार किया गया है।

ज्ञानानन्दस्वभावी कहकर उक्त कारणपरमात्मा को परिभाषित किया गया है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान और आनन्द है स्वभाव जिसका - ऐसा दृष्टि का विषयभूत त्रिकाली ध्रुव आत्मा ही कारणपरमात्मा है और उसे ही यहाँ नमस्कार किया गया है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा कहा जाता है; क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग माना गया है और उपयोग ज्ञान-दर्शनरूप होता है। यही कारण है कि 'ज्ञाता-दृष्टा आत्म राम' कहा जाता है; पर यहाँ आत्मा को ज्ञानानन्दात्मक क्यों कहा गया है?

अरे भाई ! जिसप्रकार ज्ञान और दर्शन आत्मा का स्वभाव है; उसीप्रकार ज्ञान और आनन्द भी आत्मा का स्वभाव ही है। जब दार्शनिक या सैद्धान्तिक चर्चा होती है तो ज्ञान-दर्शनस्वभाव को मुख्य रखा जाता है और जब आध्यात्मिक चर्चा होती है तो ज्ञानानन्दस्वभाव प्रमुख हो जाता है।

ज्ञान-दर्शन तो चैतन्य के ही रूप हैं; अतः ज्ञान कहने से दर्शन भी आ ही जाता है और आनन्द की प्राप्ति ही तो हमारे आध्यात्मिक जीवन का एकमात्र उद्देश्य है; इसलिए यहाँ ज्ञान के साथ आनन्द का उल्लेख करना उचित ही है।

दूसरे इस प्रवचनसार ग्रन्थ के प्रथम महाधिकार ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन

में अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द की अन्तराधिकार के रूप में विशेष चर्चा होगी। उक्त चर्चा का बीज भी 'ज्ञानानन्दात्मने' के रूप में इस कलश में आ गया है।

यद्यपि यह ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा सर्वपदार्थों को जानने के स्वभाववाला होने से सर्व पदार्थों में व्यापक है - ऐसा कहा जाता है; तथापि वह अपने एक ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यस्वरूप ही रहता है।

'भगवान आत्मा सर्वव्यापक है' इस बात को आचार्य कुन्दकुन्ददेव आगे यथास्थान स्वयं गाथा द्वारा स्पष्ट करेंगे; अतः इसके संदर्भ में विशेष मंथन वहाँ ही होगा। यहाँ तो मात्र इतना कहना ही पर्याप्त है कि आत्मा सर्व पदार्थों को जानने के स्वभाववाला होने से सर्वव्यापक है और अपने ज्ञान-दर्शन चैतन्यस्वभावरूप होने से चित्स्वरूप है। यह भगवान आत्मा सर्वव्यापक होकर भी चित्स्वरूप है और चित्स्वरूप होकर भी सर्वव्यापक है।

हमारा यह भगवान आत्मा हमें स्वानुभूति में प्राप्त होता है; इसकारण उसे यहाँ स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय कहा गया है।

इसप्रकार मंगलाचरण के इस छन्द का सामान्यार्थ यही है कि आत्मानुभूति में प्राप्त होनेवाला ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा सर्वव्यापक होकर भी अपने चैतन्यस्वरूप की मर्यादा के बाहर नहीं जाता। ऐसा भगवान आत्मा मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं - ऐसी प्रतीति पूर्वक उपयोग का अन्तर्मुख होना ही भगवान आत्मा को नमस्कार है।

तत्त्वप्रदीपिका के मंगलाचरण संबंधी उक्त छन्द का भावानुवाद प्रवचनसार परमागम में कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार करते हैं -

(दोहा)

महातत्त्व महनीय मह महाधाम गुणधाम ।

चिदानन्द परमात्मा बंदौं रमताराम ॥२॥

अपने आप में रमण करनेवाला जो चिदानन्द परमात्मा गुणों का धाम है, महान तेजवान है, महनीय है, महान है और महातत्त्व अर्थात् सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है; उस चिदानन्द परमात्मा की मैं वंदना करता हूँ।

प्रश्न - मंगलाचरण के इस छन्द में कारणपरमात्मा को ही नमस्कार क्यों किया गया; कार्यपरमात्मा को क्यों नहीं ?

उत्तर - एक बात तो यह है कि कारणपरमात्मा के आश्रय से ही कार्यपरमात्मा बनते हैं; इसकारण कारणपरमात्मा कार्यपरमात्मा से भी महान है। दूसरे कार्यपरमात्मा तो हमारे लिए अभी परपरमात्मा के रूप में ही हैं; जबकि कारणपरमात्मा हम स्वयं हैं। कार्यपरमात्मा हमारे हित में उत्कृष्ट निमित्त तो हैं; पर उपादान नहीं। हमारे हितरूप कार्य का त्रिकाली उपादान तो हमारा कारणपरमात्मा ही है।

प्रश्न - हम तो सर्वत्र ऐसा ही देखते हैं कि मंगलाचरण में देव-शास्त्र-गुरु को ही स्मरण किया जाता है ?

उत्तर - आपकी बात सत्य है; क्योंकि अधिकांशतः वैसा ही देखने में आता है; तथापि आचार्य अमृतचन्द्र तो सर्वप्रथम कारणपरमात्मा को ही याद करते हैं। समयसार की आत्मख्याति टीका में भी वे नमः समयसाराय कहकर सर्वप्रथम त्रिकालीध्रुव कारणपरमात्मा को ही नमस्कार करते हैं।

आत्मख्याति और तत्त्वप्रदीपिका के मंगलाचरण के छन्दों में एक अद्भुत समानता देखने को मिलती है।

जिसप्रकार आत्मख्याति के मंगलाचरण के प्रथम छन्द में भाव कहकर द्रव्य, चिद्स्वभाव कहकर गुण और सर्वभावान्तरच्छिदे व स्वानुभूत्या चकासते कहकर पर्यायस्वभाव को स्पष्ट किया गया है; उसीप्रकार यहाँ इस तत्त्वप्रदीपिका के मंगलाचरण के प्रथम छन्द में परात्मने कहकर द्रव्य, चिद्स्वरूपाय एवं ज्ञानानन्दात्मने कहकर गुण और सर्वव्यापी एवं स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय कहकर पर्यायस्वभाव को स्पष्ट किया गया है।

इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट करें तो कह सकते हैं कि - आत्मख्याति में स्वानुभूत्या चकासते कहकर और यहाँ तत्त्वप्रदीपिका में स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय कहकर एक ही बात कही गई है कि वह ज्ञानानन्दस्वभावी समयसाररूप भगवान आत्मा स्वानुभूति में प्राप्त होनेवाला तत्त्व है। स्वयं मैंने भी अपने 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' गीत में 'आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ' लिखा है।

इसीप्रकार आत्मख्याति में सर्वभावान्तरच्छिदे कहकर और यहाँ तत्त्वप्रदीपिका टीका में सर्वव्यापी कहकर भगवान आत्मा को सर्वपदार्थों को जानने के स्वभाववाला अर्थात् सर्वज्ञस्वभावी कहा है। इसीप्रकार आत्मख्याति में चित्स्वभावाय और यहाँ चिद्रूपस्वरूपाय कहकर एक ही बात कही गई है।

वहाँ समयसार पद से और यहाँ परात्मा पद से दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीध्रुव आत्मा को ही इंगित किया गया है।

मंगलाचरण के इस प्रथम छन्द में अनेक उल्लेखनीय बातें हैं; जिनकी चर्चा समयसार अनुशीलन में मंगलाचरण के प्रथम छन्द के अनुशीलन में विस्तार से की गई है; अतः यहाँ लिखकर पिष्टपेषण करना उचित प्रतीत नहीं होता। जिज्ञासु पाठक समयसार अनुशीलन से अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि समयसार की आत्मख्याति टीका के मंगलाचरण के प्रथम छन्द और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका के मंगलाचरण के प्रथम छन्द में एक अद्भुत समानता है। दोनों में एक ही आत्मा को लगभग एक से ही विशेषणों से याद किया गया है।

यह अद्भुत समानता मंगलाचरण के प्रथम छन्द तक ही सीमित नहीं है; शेष दो छन्दों में भी वही समानता दृष्टिगोचर होती है। दोनों के ही दूसरे छन्दों में अनेकान्त को स्मरण किया गया है और तीसरे छन्दों में टीका करने की प्रतिज्ञा की गई है।

तीसरे छन्दों में इतना अन्तर अवश्य है कि आत्मख्याति स्वयं की परमविशुद्धि के लिए लिखी गई थी और तत्त्वप्रदीपिका परमानन्द के पिपासु भव्यजनों के हित के लिए।

अनेकान्त को स्मरण करनेवाला मंगलाचरण का दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(अनुष्टुप)

हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥२॥

(दोहा)

महामोहतम को करे क्रीड़ा में निस्तेज ।

सब जग आलोकित करे अनेकान्तमय तेज ॥२॥

जो महामोहरूपी अंधकारसमूह को लीलामात्र में नष्ट करता है और जगत के स्वरूप को प्रकाशित करता है; वह अनेकान्तमय तेज सदा जयवंत वर्तता है।

जगत की प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने से अनेकान्तस्वरूप है। वस्तु के अनेकान्तस्वरूप को प्रकाशित करनेवाले ज्ञान और वाणी भी अनेकान्तरूप ही होते हैं।

इसप्रकार अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप को जाननेवाला प्रमाण-नयात्मक सम्यग्ज्ञानरूप प्रकाश महामोहान्धकार का नाश करनेवाला है तथा एकान्तपक्ष के कथनरूप अंधकार का स्याद्वादमयी सापेक्षवाणी नाश करती है।

एकान्तपक्ष को ग्रहण करनेवाला ग्रहीत-अग्रहीत मिथ्यात्व ही महामोहान्धकार है। उस अन्धकार को अनेकान्तमयी सम्यग्ज्ञान और स्याद्वादमयी वाणी ही दूर कर सकती है, करती है। अनेकान्तस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली स्याद्वादमयी वाणी में ही वह शक्ति है कि वह तत्त्वसंबंधी अज्ञानान्धकार को खेल-खेल में ही नष्ट कर देती है।

यह जिनवाणी सदा जयवंत वर्तती है। तात्पर्य यह है कि तीन काल में कभी भी ऐसा समय नहीं आता कि जब यह सर्वत्र-सर्वथा लुप्त हो जावे; क्योंकि विदेह क्षेत्रों में बीस तीर्थकर तो सदा विद्यमान रहते ही हैं और उनकी दिव्यध्वनि भी सदा खिरती ही रहती है।

अनेकान्त और स्याद्वाद का स्वरूप मैंने 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' में विस्तार से स्पष्ट किया है। अतः यहाँ विस्तार से चर्चा करना उचित भी नहीं लगता और आवश्यक भी नहीं है। जिन्हें विशेष उत्सुकता हो, वे परमभावप्रकाशक नयचक्र के 'अनेकान्त और स्याद्वाद' संबंधी अधिकार का अध्ययन अवश्य करें।

उक्त छन्द के भावानुवाद में कविवर वृन्दावनदासजी अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप को प्रतिपादन करनेवाली स्याद्वादमयी जिनवाणी को याद करते हैं; जो इसप्रकार है -

(दोहा)

कुनय-दमनि सुवचन अवनि रमन स्यात्पद सुद्ध ।

जिनवाणी मानी मुनिप घट में करहु सुबुद्धि ॥३॥

जिस जिनवाणी को श्रेष्ठ मुनिराजों ने इस पृथ्वी में सुवचनरूप सम्यक् नयों से कुनयों का दमन करनेवाली स्यात् पद में रमन करनेवाली शुद्धि प्रदाता मानी है; वह जिनवाणी मेरे हृदय में सुबुद्धि उत्पन्न करें।

अब मंगलाचरण के तीसरे छन्द में आचार्यदेव प्रवचनसार की टीका लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं; जो इसप्रकार है -

(आर्या)

परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।

क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥३॥

(दोहा)

प्यासे परमानन्द के भव्यों के हित हेतु ।

वृत्ति प्रवचनसार की करता हूँ भवसेतु ॥३॥

परमानन्दरूपी अमृत के प्यासे भव्यजीवों के हित के लिए तत्त्व को प्रगट करनेवाली प्रवचनसार की यह (वृत्ति) टीका रची जा रही है।

यह तो पहले स्पष्ट कर ही आये हैं कि आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार की आत्मख्याति टीका स्वयं के परिणामों की परमविशुद्धि के लिए बनाई थी और यह प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका परमानन्द के प्यासे भव्यों के हित के लिए बनाई है।

यद्यपि आत्मख्याति से भी भव्यों का हित तो सधता ही है और तत्त्वप्रदीपिका से भी आचार्यदेव के परिणामों में निर्मलता भी आई ही होगी; तथापि मुख्य-गौण की अपेक्षा ही उक्त कथन है।

समयसार परमाध्यात्म का ग्रन्थ होने से उसके अनुशीलन में आत्महित की मुख्यता रही और प्रवचनसार वस्तुव्यवस्था का प्रतिपादक ग्रन्थ होने से इसकी टीका रचने में परहित मुख्य हो गया।

यद्यपि इस टीका की रचना में परहित मुख्य है; तथापि सामान्य लोगों के लौकिक हित की बात कदापि नहीं है; अपितु अतीन्द्रियानन्द के प्यासे अतिनिकट भव्यजीवों के संसारसमुद्र से पार होनेरूप हित की ही बात है।

मूल ग्रन्थ तो वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक ग्रन्थराज है ही, इस टीका में तत्त्वों का स्वरूप ही प्रगट किया जायेगा, न्याय और युक्ति से समझाया जायेगा।

इसप्रकार यह वृत्ति अर्थात् टीका तत्त्वों को प्रगट करनेवाली होगी और परमानन्द के प्यासे भव्यजीवों की प्यास भी अवश्य बुझायेगी।

इस प्रवचनसार ग्रन्थाधिराज की तात्पर्यवृत्ति टीका लिखते हुए आचार्य जयसेन मंगलाचरण के रूप में मात्र एक छन्द ही लिखते हैं; जिसमें वे एकमात्र सिद्धभगवान को ही स्मरण करते हैं।

तात्पर्यवृत्ति के मंगलाचरण का उक्त छन्द मूलतः इसप्रकार है -

(अनुष्टुप)

नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।

परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥१॥

(दोहा)

चिदानन्द आत्मोत्थसुखसम्पत्ति से सम्पन्न ।

परमागम के सार श्री नमो सिद्ध भगवन्त ॥१॥

परमचैतन्यमय निजात्म के आश्रय से उत्पन्न सुखरूपी सम्पदा से सम्पन्न परमागम के सारभूत सिद्धपरमेष्ठियों को नमस्कार है ।

यहाँ सिद्धभगवान को परमागम का सार बताया गया है । तात्पर्य यह है कि परमागम में निरूपित शुद्धात्मतत्त्व के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान के फलस्वरूप ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है । इसलिए सिद्धभगवान परमागम के सारभूत परमपदार्थ हैं ।

दूसरी बात यह बताई गई है कि सिद्धभगवान अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रिय अव्याबाध अनन्त आनन्द से सम्पन्न हैं । हम सभी भव्यात्माओं की भावना भी उसी अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति की है ।

भूतार्थ अभूतार्थ

पर से भिन्न और अपने से अभिन्न इस भगवान आत्मा में प्रदेशभेद, गुणभेद एवं पर्यायभेद का भी अभाव है । भगवान आत्मा के अभेद-अखण्ड इस परमभाव को ग्रहण करनेवाला नय ही शुद्धनय है और यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, शेष सभी व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं । जो व्यक्ति इस शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन का ज्ञाता है; क्योंकि समस्त जिनशासन का प्रतिपाद्य एक शुद्धात्मा ही है, इसके ही आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है ।

- सार समयसार, पृष्ठ ४-५

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

(गाथा १ से गाथा ९२ तक)

प्रवचनसार गाथा १-५

इसप्रकार मंगलाचरण और टीका लिखने की प्रतिज्ञा करने के उपरान्त अब आचार्य अमृतचन्द्र आचार्य कुन्दकुन्द रचित प्रवचनसार के मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य संबंधी पाँच गाथाओं की उत्थानिका लिखते हैं; जिसका भाव इसप्रकार है -

“जिनके संसारसमुद्र का किनारा अति निकट है, जिन्हें सातिशय विवेकज्योति प्रगट हो गई है, जिनका एकान्तवादरूप समस्त अविद्या का अभिनिवेश (आग्रह) अस्त हो गया है; ऐसे कोई (आचार्य कुन्दकुन्ददेव) पारमेश्वरी अनेकान्त विद्या को प्राप्त करके, समस्त पक्षों का परिग्रह त्याग देने से अत्यन्त मध्यस्थ होकर; समस्त पुरुषार्थों में सारभूत होने से आत्मा के लिए अत्यन्त हिततम, पंचपरमेष्ठियों के प्रसाद से उत्पन्न होनेयोग्य, परमार्थसत्य, अक्षय मोक्षलक्ष्मी को उपादेयरूप से निश्चित करते हुए प्रवर्तमान तीर्थ के नायक श्री वर्द्धमानपूर्वक पंचपरमेष्ठियों को प्रणाम और वंदन से होनेवाले नमस्कार के द्वारा सम्मान करके; सर्वारंभ से मोक्षमार्ग का आश्रय करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं ।

अब गाथा सूत्रों का अवतरण होता है ।”

उक्त उत्थानिका में मूलतः मात्र इतना ही कहा गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द मध्यस्थ होकर मोक्षलक्ष्मी को उपादेय करते हुए भगवान महावीर के साथ-साथ परमेष्ठियों को नमन-वंदन करके पूरी शक्ति से मोक्षमार्ग में स्थित होते हुए प्रतिज्ञा करते हैं ।

बात मात्र इतनी-सी होने पर भी विशेषणों के समायोजन से वाक्य लम्बा हो गया है । तीन विशेषण तो आचार्य कुन्दकुन्द के ही हैं, जिनमें

कहा गया है कि उनके संसारसमुद्र का किनारा अति निकट आ गया है अर्थात् वे आसन्नभव्य हैं, शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष जानेवाले हैं; उन्हें सातिशय विवेकज्योति प्रगट हो गई है अर्थात् उन्हें स्व और पर का उत्कृष्टतम विवेक जाग्रत हो गया है, भेदज्ञान हो गया है और एकान्तवादरूप मिथ्यामान्यता का पूर्णतः अभाव हो गया है। तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव सातिशय विवेक के धनी, निकटभव्य और पक्के अनेकान्तवादी थे।

देखो ! यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द से एक हजार वर्ष बाद हुए आचार्य अमृतचन्द्र उन्हें सातिशय विवेक के धनी, पक्के अनेकान्तवादी और निकटभव्य बता रहे हैं। यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र ने उन्हें देखा नहीं था, सुना नहीं था, हजार वर्ष का अन्तर होने से यह संभव भी नहीं था; तथापि उनके ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन कर वे उक्त निष्कर्ष पर पहुँचे थे।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द की विशेषताओं के उल्लेख के उपरान्त अत्यन्त हितकारी, पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से प्राप्त होनेयोग्य, परमार्थ सत्य और अक्षय – ये चार विशेषण मोक्षलक्ष्मी के दिये गये हैं।

प्रश्न – यहाँ मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति का कारण पंचपरमेष्ठी के प्रसाद को कहा गया है। यह बात कुछ ठीक नहीं लगती; क्योंकि वीतरागियों का प्रसाद कैसे संभव है ?

उत्तर – आप्तपरीक्षा की स्वापेज्ञटीका में आचार्य विद्यानंदि ने स्वयं इसीप्रकार का प्रश्न उठाकर उसका समाधान इसप्रकार किया है –

“परमेष्ठी में जो प्रसाद-प्रसन्नता गुण कहा गया है, वह उनके शिष्यों का मन प्रसन्न होना ही उनकी प्रसन्नता है; क्योंकि वीतरागियों के तुष्ट्यात्मक प्रसन्नता संभव नहीं है।

जिसप्रकार उनमें क्रोध का होना संभव नहीं है; उसीप्रकार प्रसन्नता का होना भी संभव नहीं है; किन्तु जब आराधकजन प्रसन्न मन से उनकी उपासना करते हैं तो भगवान प्रसन्न हुए – ऐसा कह दिया जाता है।

जिसप्रकार प्रसन्न मन से रसायन (औषधि) का सेवन करके उसके फल को प्राप्त करनेवाले समझते हैं और कहते भी हैं कि रसायन के प्रसाद से हमें आरोग्यादि फल मिला है अर्थात् हम अच्छे हुए हैं।

उसीप्रकार प्रसन्न मन से भगवान परमेष्ठी की उपासना करके उसके फल-श्रेयोमार्ग के ज्ञान को प्राप्त हुए उनके शिष्यजन मानते हैं कि भगवान परमेष्ठी के प्रसाद से हमें श्रेयोमार्ग का ज्ञान हुआ है।^१”

शेष विशेषणों का भाव तो स्पष्ट ही है कि मोक्ष अनन्त सुखमय होने से अत्यन्तहितकारी है, परमसत्य है और अक्षय अर्थात् कभी नष्ट होनेवाला नहीं है, अविनाशी है।

इसप्रकार यह मोक्षलक्ष्मी के विशेषणों का स्पष्टीकरण हुआ।

अनेकान्त विद्या को यहाँ पारमेश्वरी विद्या कहा गया है। तात्पर्य यह है कि यह अनेकान्त विद्या सामान्यजनों द्वारा निरूपित लौकिक विद्या नहीं है, यह तो परमेश्वर सर्वज्ञभगवान द्वारा निरूपित वस्तु के वास्तविक स्वरूप की प्रतिपादक पारमार्थिक अलौकिक विद्या है।

नयपक्ष का आग्रहरूप परिग्रह के त्याग की बात करके यह कहा जा रहा है कि नय का पक्ष (पक्षपात) ही मिथ्यात्वरूप होने से सबसे बड़ा अंतरंग परिग्रह है; क्योंकि चौबीस परिग्रहों में मिथ्यात्व का स्थान सबसे पहले आता है।

इसप्रकार इस उत्थानिका में सबकुछ मिलाकर यही कहा गया है कि आसन्नभव्य, परमविवेकी, अनेकान्तवादी, अपरिग्रही और अनाग्रही आचार्य कुन्दकुन्ददेव अत्यन्त मध्यस्थ होकर परम हितकारी अक्षय मोक्षलक्ष्मी को उपादेय मानते हुए वर्तमान तीर्थ के नायक होने से सबसे पहले महावीर स्वामी को नमस्कार करके पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करते हुए पूरी शक्ति से मोक्षमार्ग का आश्रय करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं।

१. आप्तपरीक्षा : स्वोपज्ञटीका, कारिका २, पृष्ठ ११

महाशास्त्र प्रवचनसार की मंगलाचरण संबंधी उक्त पाँच गाथाओं की उत्थानिका लिखते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस टीका को न केवल मध्यम रुचिवाले शिष्यों के लिए लिखा गया निरूपित करते हैं; अपितु यह भी लिखते हैं कि यह टीका शिवकुमार नामक आसन्नभव्य राजा के निमित्त से लिखी गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका किसी व्यक्ति विशेष के लक्ष्य से नहीं; अपितु परमानन्द के प्यासे सभी भव्यों के हित की भावना से लिखी गई है; किन्तु आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति शिवकुमार नामक राजा के निमित्त से लिखी गई है। शिवकुमार राजा के निमित्त से लिखी गई यह टीका भी सर्वोपयोगी है, सबके हित का उत्कृष्ट निमित्त है।

मंगलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य संबंधी गाथासूत्र मूलतः इसप्रकार हैं—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाडकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्तववीरियायारे ॥२॥
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥४॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥

(हरिगीत)

सुर असुर इन्द्र नरेन्द्र वंदित कर्ममल निर्मलकरन ।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ॥१॥
अवशेष तीर्थकर तथा सब सिद्धगण को कर नमन ।

मैं भक्तिपूर्वक नमूँ पंचाचारयुत सब श्रमणजन ॥२॥
उन सभी को युगपत तथा प्रत्येक को प्रत्येक को ।
मैं नमूँ विदमान मानस क्षेत्र के अरहंत को ॥३॥
अरहंत सिद्धसमूह गणधरदेवयुत सब सूरिगण ।
अर सभी पाठक साधुगण इन सभी को करके नमन ॥४॥
परिशुद्ध दर्शनज्ञानयुत समभाव आश्रम प्राप्त कर ।
निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ ॥५॥

जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित हैं तथा जिन्होंने घातिकर्म-रूपी मल को धो डाला है; ऐसे तीर्थरूप और धर्म के कर्ता श्री वर्द्धमान तीर्थकर को नमस्कार करता हूँ।

विशुद्ध सत्तावाले शेष तीर्थकरों, सर्वसिद्धों और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार से सहित सभी श्रमणों को नमस्कार करता हूँ।

उन सभी को और मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाई द्वीप में सदा विद्यमान रहनेवाले अरहंतों को समुदायरूप से एकसाथ और व्यक्तिगतरूप से प्रत्येक को अलग-अलग वंदन करता हूँ।

इसप्रकार अरहंतों को, सिद्धों को, गणधरादि आचार्यों को, उपाध्यायों को और सर्व साधुओं को नमस्कार करके उनके विशुद्ध दर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त करके, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है, उस साम्यभाव को मैं प्राप्त करता हूँ।

इन गाथाओं में वर्तमान तीर्थ के नायक होने से एकमात्र भगवान महावीर को नामोल्लेखपूर्वक नमस्कार किया गया है; शेष परमेष्ठियों को यद्यपि सामूहिक रूप से ही याद किया गया है; तथापि ऐसा लिखकर कि सभी को सामूहिक रूप से और प्रत्येक को व्यक्तिगतरूप से नमस्कार करता हूँ, उनके प्रति होनेवाली उपेक्षा को कम करते हुए परोक्षरूप से यह

भी व्यक्त कर दिया गया है कि सबका नामोल्लेखपूर्वक स्मरण संभव नहीं है। सदा विद्यमान बीस तीर्थकरों की विद्यमानता को विशेष महत्त्व देते हुए यद्यपि उन्हें विशेषरूप से याद किया गया है; तथापि नामोल्लेख तो उनका भी असंभव ही था।

इसतरह हम देखते हैं कि मंगलाचरण की इन गाथाओं में न तो अतिसंक्षेप कथन है और न अतिविस्तार; अपितु विवेकपूर्वक मध्यम मार्ग अपनाया गया है।

प्रश्न – आचार्य कुन्दकुन्द के काल में तो वर्द्धमान भगवान आठों ही कर्मों का नाश कर चुके थे; फिर भी यहाँ उन्हें मात्र चार घाति कर्मों को धो डालनेवाला ही क्यों कहा है ?

उत्तर – जिस अवस्था का नाम वर्द्धमान है अथवा जिस अवस्था में उन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया था; वह अवस्था अरहंत अवस्था ही थी और अरहंत अवस्था में मात्र चार घातिकर्मों का ही अभाव होता है। यही कारण है कि यहाँ उन्हें चार घातिया कर्मों को धो डालनेवाला कहा गया है।

ध्यान रहे यहाँ वर्द्धमान भगवान की तीर्थकर पद में स्थित अरहंत अवस्था को ही स्मरण किया गया है, नमस्कार किया गया है; क्योंकि उन्होंने अरहंत अवस्था में ही वर्तमान धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया था और अभी उनका ही शासनकाल चल रहा है।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“यह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष दर्शन-ज्ञानस्वरूप मैं; जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित होने से तीन लोक के एक (एकमात्र, अनन्य, सर्वोत्कृष्ट) गुरु हैं; जिनमें घातिकर्मरूपी मल को धो डालने से जगत पर अनुग्रह करने में समर्थ अनंत शक्तिरूप परमेश्वरता है; जो तीर्थता के कारण

योगियों को तारने में समर्थ हैं और धर्म के कर्ता होने से शुद्धस्वरूप परिणति के कर्ता हैं; उन परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य और जिनका नाम ग्रहण भी अच्छा है; ऐसे श्री वर्द्धमानदेव को प्रवर्तमानतीर्थ की नायकता के कारण प्रथम ही प्रणाम करता हूँ।

उसके बाद विशुद्ध सत्तावाले होने से ताप (अन्तिम ताव) से उत्तीर्ण उत्तम स्वर्ण के समान शुद्धदर्शनज्ञानस्वभाव को प्राप्त शेष अतीत २३ तीर्थकरों और सर्वसिद्धों को तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार से युक्त होने से जिन्होंने परमशुद्धोपयोग भूमिका को प्राप्त किया है; ऐसे आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं – इसप्रकार सभी श्रमणों को नमस्कार करता हूँ।

उसके बाद इन्हीं पंचपरमेष्ठियों को अर्थात् परमेष्ठी पर्याय में व्याप्त होनेवाले सभी को, वर्तमान में इस क्षेत्र में उत्पन्न तीर्थकरों का अभाव और महाविदेह क्षेत्र में उनका सद्भाव होने से मनुष्यक्षेत्र (ढाई द्वीप) में प्रवर्तमान वर्तमान काल गोचर तीर्थनायकों सहित सभी परमेष्ठियों को वर्तमान के समान विद्यमान मानकर ही समुदायरूप से एकसाथ और व्यक्तिगतरूप से प्रत्येक की अलग-अलग संभावना करता हूँ, आराधना करता हूँ, सम्मान करता हूँ।

प्रश्न – किसप्रकार संभावना करता हूँ ?

उत्तर – मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर समान परम निर्ग्रन्थता की दीक्षा के उत्सव के योग्य मंगलाचरणभूत कृतिकर्मशास्त्रोपदिष्ट वन्दनोच्चार के द्वारा संभावना करता हूँ।

इसप्रकार अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं को प्रणाम और वन्दनोच्चार से प्रवर्तमान द्वैत के द्वारा तथा भाव्य-भावकभाव से बढ़े हुए अत्यन्त गाढ़ इतरेतर मिलन के कारण समस्त स्व-पर का विभाग विलीन हो जाने से प्रवर्तमान अद्वैत के द्वारा नमस्कार करके उन्हीं

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं के आश्रम को; जो कि विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधान आश्रम होने से सहज शुद्धदर्शनज्ञानस्वभाववाले आत्मतत्त्व का श्रद्धान और ज्ञान है लक्षण जिसका, ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संपादक है, उसे प्राप्त करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्पन्न होकर, जिसमें कषायकण विद्यमान होने से जीव को जो पुण्यबंध की प्राप्ति का कारण है - ऐसे सरागचारित्र को क्रम से आ पड़ने पर भी उल्लंघन करके जो समस्त कषाय क्लेशरूपी कलंक से भिन्न होने से निर्वाण की प्राप्ति का कारण है - ऐसे वीतराग चारित्र नाम के साम्य को प्राप्त करता हूँ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप एकाग्रता को मैं प्राप्त करता हूँ - प्रतिज्ञा का यही अर्थ है। इसप्रकार उन्होंने (आचार्य कुन्दकुन्द ने) साक्षात् मोक्षमार्ग को अंगीकार किया।”

लोक में ‘मैं’ शब्द का प्रयोग असमानजातीय द्रव्य-पर्यायरूप मनुष्य-पर्याय के अर्थ में होता है। वही अर्थ यहाँ न समझ लिया जाय - इस बात को ध्यान में रखकर इन गाथाओं का अर्थ आरंभ करने के साथ ही आचार्यदेव सर्वप्रथम ‘मैं’ शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं कि स्व-संवेदनज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञात होनेवाला ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा ही मैं हूँ।

तात्पर्य यह है कि इन गाथाओं के माध्यम से ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा में ही अपनापन अनुभव करनेवाले आचार्य कुन्दकुन्ददेव पंचपरमेष्ठी को स्मरण करते हुए साम्यभाव को प्राप्त होते हैं, साम्यभाव को प्राप्त होने की प्रतिज्ञा करते हैं।

इस युग के अन्तिम या चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमानस्वामी को वर्तमान तीर्थ के नायक होने से आचार्य कुन्दकुन्द सर्वप्रथम नमस्कार करते हुए कहते हैं कि उर्ध्वलोक के अधिपति सुरेन्द्रों, अधोलोक के अधिपति असुरेन्द्रों और मध्यलोक के अधिपति नरेन्द्रों से पूजित होने से जो तीन

लोक के एकमात्र गुरु हैं; घातिकर्मरूपी मल को धो डालने से जिनमें जगत का उपकार करनेरूप अनंतशक्तिसम्पन्न परमेश्वरता प्रगट हुई है; जो तीर्थंकर होने से योगियों सहित सभी का कल्याण करने में समर्थ हैं, धर्म के कर्ता होने से अपनी शुद्धस्वरूप परिणति के कर्ता हैं और जिनका नाम ग्रहण भी परमहितकारी है - उन श्री परमभट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य वर्द्धमानस्वामी को नमस्कार करता हूँ।

देखो, यहाँ अरहंत भगवान को परमभट्टारक कहा है। अरहंत भगवान परमभट्टारक हैं, गणधरदेव भट्टारक हैं और अकलंकदेव जैसे समर्थ आचार्यों के लिए ‘भट्ट’ शब्द का प्रयोग किया जाता है, उन्हें भट्टाकलंकदेव कहा जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि भट्ट, भट्टारक, परमभट्टारक पद बड़े ही महान पद हैं; जिनका आज कितना अवमूल्यन हो गया है।

प्रश्न - यहाँ वर्द्धमान भगवान को तीनलोक का गुरु कहा गया है; किन्तु लोक में हजारों लोग ऐसे हैं, जो उन्हें नहीं मानते हैं, उनका विरोध करते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें तीनलोक का गुरु कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर - जिसप्रकार भारत के प्रधानमंत्री जिस समझौते को स्वीकार कर लेते हैं, जिस समझौते पर हस्ताक्षर कर देते हैं; वह समझौता सम्पूर्ण भारतवर्ष को मान्य है - ऐसा मान लिया जाता है। उसीप्रकार तीन लोक में विद्यमान शत इन्द्रों द्वारा पूज्य हो जाने पर, शत इन्द्रों के गुरु हो जाने पर तीर्थंकर तीन लोक के गुरु मान लिये जाते हैं। इसप्रकार ऊर्ध्वलोक के अधिपति सुरेन्द्रों, मध्यलोक के अधिपति नरेन्द्रों और अधोलोक के अधिपति असुरेन्द्रों द्वारा गुरु मान लेने पर भगवान महावीर भी तीन लोक के गुरु मान लिये गये हैं।

इसप्रकार प्रथम गाथा में भगवान महावीर को नमस्कार कर अब दूसरी गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द शेष ऋषभदेव आदि २३ तीर्थंकर अरहंतों, सभी सिद्धों तथा पंचाचार से युक्त और शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त

आचार्यों, उपाध्यायों और सर्वसाधुओं को नमस्कार करते हैं।

इसके बाद बिना किसी भेदभाव के उन सभी को जो परमेष्ठी पर्यायों को प्राप्त कर चुके हैं; समुदायरूप से एवं व्यक्तिगतरूप से स्मरण करते हैं।

वर्तमानकाल में इस भरतक्षेत्र में अरहंतों का अभाव होने से और महाविदेह क्षेत्र में सद्भाव होने से मनुष्यक्षेत्र में अर्थात् ढाईद्वीप के सभी विदेह क्षेत्रों में विद्यमान सीमन्धरादि तीर्थकरों को अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक शास्त्रों में उल्लिखित विधिपूर्वक नमस्कार करते हैं।

प्रश्न – यहाँ मनुष्यक्षेत्र में विद्यमान अरहंतों को – ऐसा क्यों लिखा है ? ऐसा क्यों नहीं लिखा कि विद्यमान बीस तीर्थकरों को.....।

उत्तर – अरे, भाई ! मूलगाथा में ही **माणुसे खेत्ते** पद का प्रयोग किया गया है; उसी का अनुसरण टीका में किया गया है।

प्रश्न – मूल गाथा में इसप्रकार के प्रयोग करने का कोई विशेष अभिप्राय है क्या ?

उत्तर – मनुष्य ढाईद्वीप में अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत के इसतरफ ही पाये जाते हैं; अतः ढाईद्वीप को मनुष्यक्षेत्र कहते हैं। मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाईद्वीप में पाँच विदेह हैं। उनमें कम से कम २० तीर्थकर अरहंत तो सदा होते ही हैं; किन्तु यदि अधिक से अधिक हों तो १७० तीर्थकर भी एक साथ हो सकते हैं। भगवान अजितनाथ के समय १७० तीर्थकर अरहंत अवस्था में एकसाथ विद्यमान थे। अभी वर्तमान में कितने हैं – इसका उल्लेख प्राप्त न होने से यह लिखना ही ठीक है कि वर्तमान में मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाईद्वीप में जितने भी तीर्थकर अरहंत अवस्था में विद्यमान हों; उन सभी को नमस्कार करता हूँ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि **माणुसे खेत्ते** पद पूर्णतः सार्थक होने के साथ-साथ अत्यन्त विवेक पूर्वक किया गया प्रयोग है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव का यह प्रवचनसार ग्रन्थ ही एक ऐसा ग्रन्थ है

कि जिसके मंगलाचरण में वे इतने विस्तार से विशेष उल्लेखपूर्वक पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द का यह मंगलाचरण परमनिर्ग्रन्थ मुनिदशा की दीक्षा का उत्सव होने से मानो मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर का ही उत्सव है।

जिसप्रकार स्वयंवर में राजकन्या को प्राप्त करने को विभिन्न देशों के सुयोग्य राजकुमार एकत्रित होते हैं; उसीप्रकार यहाँ मुक्तिरूपी राजकन्या को वरण करने के लिए परमनिर्ग्रन्थ दीक्षा के धारक साधुसंत इकट्ठे हुए हैं।

जिसप्रकार स्वयंवर के उत्सव में समाज के प्रतिष्ठित पुरुषों को भी बुलाया जाता है और उनका यथायोग्य आदर-सत्कार किया जाता है; उसीप्रकार यहाँ मुक्तिकन्या के स्वयंवर में उसे वरण की अभिलाषा वाले दीक्षार्थी तो आये ही हैं; अपितु पंचपरमेष्ठियों का भी आह्वान किया गया है और उन्हें किया जानेवाला द्रव्य-भावनमस्कार ही उनका शास्त्रविहित विधि के अनुसार सम्मान है। स्वयंवर में मान्य अतिथियों के स्वागत में जिसप्रकार मंगलगीत गाये जाते हैं; मंगलाचरण के ये छन्द भी उसीप्रकार के गीत हैं।

उक्त प्रकरण का सांगोपांग वर्णन आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी बड़े ही भावुक होकर करते हैं; जिसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है-

“मोक्षलक्ष्मी चारित्र धारण करनेवाले को ही वरण करती है। मोक्षलक्ष्मी का स्वयंवर मण्डप लगाया गया है, जिसमें सभी भगवानों को एकत्रित किया गया है। स्वरूप में रमण करना ही चारित्र है। मोक्षरूपी लक्ष्मी चारित्रवंत के कंठ में ही हार (वरमाला) डालती है।^१

इस महोत्सव में कुन्दकुन्दाचार्य ने सभी भगवन्तों को बुलाया है। जैसे विवाह में बड़े लोगों को साथ में लाते हैं। यदि कन्या का पिता इन्कार करे

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२८

तो बड़े लोग बीच में पड़कर समय पर लग्न करा देते हैं। हमें भी प्रतिष्ठित अर्थात् इज्जतवालों को साथ में लाना चाहिए। वैसे ही प्रभु ! हमने भी स्वयंवर मंडप लगाया है। आत्मा में पूर्ण शुद्धता, शक्ति विद्यमान है। उसकी व्यक्तता पूर्ण हुई, वह मोक्ष है। मोक्षलक्ष्मी का साधन चारित्र है। जो चारित्र ग्रहण करता है; उसे मोक्षलक्ष्मी वरण किये बिना नहीं रहती।

हे भगवान ! मोक्षलक्ष्मी मुझे वरण करनेवाली है। हमें हमारा भरोसा है कि - मैं पूर्णदशा को पाऊँगा और मोक्ष प्राप्त करूँगा। हमने पंचपरमेष्ठियों को साथ में रखा है, इसलिए मोक्षलक्ष्मी जरूर वरण करेगी। इसप्रकार जिन्होंने मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया है और प्राप्त करनेवाले हैं, उन सभी को हाजिर रखा है।

मैं तो मोक्षलक्ष्मी को वरण करनेवाला हूँ। मेरे चारित्र के तेज की शोभा द्वारा मोक्षलक्ष्मी पीछे हटनेवाली नहीं है। ऐसे अप्रतिहत भाव का यहाँ वर्णन है। अनन्त सिद्ध और अर्हन्त आदि हाजिर हों और मोक्षलक्ष्मी नहीं मिले - ऐसा नहीं हो सकता।^१

जैसे मेहमानों को लेने जाते हैं और पधारो ! पधारो !! कहते हैं; उनमें भी यदि चक्रवर्ती आए तो उसे राजा लेने जाते हैं और पधारो ! पधारो !! कहकर सन्मान करते हैं।

ऐसे ही भगवती जिनदीक्षारूप चारित्र आराधना के स्वयंवर मण्डप में हे तीर्थंकर भगवान पंचपरमेष्ठी पधारो ! पधारो !! जितने अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु जो वर्तमान में वर्तते हैं और पूर्व में हो गए हैं; उन सभी को कालगोचर करते हैं। जैसे विवाह में कोई सगा सम्बन्धी नहीं आ सके तो उसका नाम लेकर याद करते हैं, किन्तु उनकी कमी नहीं आने देते; वैसे ही बीस विरहमान तीर्थंकर भगवान यहाँ उपस्थित नहीं हैं;

फिर भी उसका तथा अन्य का नाम लेकर आदर करके सभी को उपस्थित

२. वही, पृष्ठ-२९-३०

करते हैं।^२”

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि मंगलाचरण के रूप में पंचपरमेष्ठियों का भक्तिभावपूर्वक स्मरण करके आचार्य कुन्दकुन्ददेव मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए साम्यभाव धारण करने का अप्रतिहत पुरुषार्थ करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि इसप्रकार परमपूज्य पंच परमेष्ठियों को द्रव्य-भाव से नमस्कार करके आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं उक्त शुभभाव की भूमिका को पारकर शुद्धोपयोगरूप साम्यभाव को प्राप्त होते हैं।

काया से प्रणाम करना और वाणी से 'वंदना' आदि शब्दों का सम्मानपूर्वक उच्चारण करना द्रव्यनमस्कार है; क्योंकि इसमें द्वैत विद्यमान है। जिसे नमस्कार किया जा रहा है, वह भिन्न है और जो नमस्कार कर रहा है, वह भिन्न है। इसप्रकार के द्वैतपूर्वक होनेवाले नमस्कार को द्रव्यनमस्कार या व्यवहारनमस्कार कहते हैं।

स्व-पर के विकल्पों के विलयपूर्वक प्रवर्तमान अद्वैत के द्वारा निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करना ही भावनमस्कार है।

द्वैतनमस्कार और अद्वैतनमस्कार का स्वरूप स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधुओं को प्रणाम तथा वन्दनोच्चार द्वारा प्रवर्तते द्वैत द्वारा मैं वन्दन करनेवाला हूँ और पंचपरमेष्ठी वन्दन करने योग्य हैं - इसप्रकार प्रणाम और वचन द्वारा द्वैत (दो पना) वर्तता है। पंचपरमेष्ठी व्यवहार से ध्येय हैं और ध्यान करनेवाला स्वयं है। स्व की ओर झुकने पर ऐसा भेद मिट जाता है। मैं वन्दन करनेवाला हूँ और पंचपरमेष्ठी वंद्य हैं - ऐसा भेद मिट गया है।

पंचपरमेष्ठी के प्रति अत्यन्त आराध्य भाव के कारण आराध्य ऐसे पंचपरमेष्ठी भगवंतों को और आराधक ऐसे स्वयं के भेद व्यापार

विलय को प्राप्त होते हैं। इसप्रकार नमस्कार में स्वसन्मुख लीनतारूप अद्वैत प्रवर्तता है।

चिदानन्द स्वभाव में एकरूप ढल जाना वह अभेद-अद्वैत नमस्कार है।^१”

द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में लिखते हैं कि मैं आराधक हूँ और ये अरहंतादि आराध्य हैं - इसप्रकार के आराध्य-आराधक की भिन्नता के विकल्परूप नमस्कार द्वैतनमस्कार (द्रव्यनमस्कार-व्यवहारनमस्कार) है और रागादि उपाधिरूप विकल्पों से रहित परमसमाधि के बल से स्वयं में ही आराध्य-आराधक भाव अद्वैतनमस्कार (भावनमस्कार-निश्चय-नमस्कार) कहा जाता है।

द्रव्यनमस्कार शुभभावरूप होने से कषायकण की विद्यमानता के कारण पुण्यबंध का कारण है और भावनमस्कार कषायकलंक से भिन्न शुद्धोपयोगरूप होने से निर्वाण का कारण है। अतः आचार्यदेव द्रव्य-नमस्कारपूर्वक शुद्धोपयोगरूप साम्यभाव को प्राप्त होकर भावनमस्कार करते हैं। तात्पर्य यह है कि आचार्यदेव शुद्धोपयोगरूप साम्यभाव को प्राप्त होकर साम्यभावरूप धर्म के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करते हैं।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति की यह विशेषता है कि प्रायः सर्वत्र ही निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक खण्डान्वय पद्धति से विषयवस्तु को स्पष्ट करते हैं। उक्त पद्धति का प्रयोग उन्होंने यहाँ भी किया है। उदाहरण के रूप में धम्मस्स कत्तारं का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं कि निश्चय से निरूपराग आत्मतत्त्व की निर्मल परिणतिरूप निश्चयधर्म के उपादानकारण होने से वे भगवान् वर्द्धमान निश्चयरत्नरूप धर्म के कर्ता हैं और व्यवहार से दूसरों को उत्तमक्षमा आदि अनेकप्रकार के धर्मों का उपदेश देनेवाले

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३०-३१

होने से व्यवहार धर्म के कर्ता हैं।

विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं पद की व्याख्या में वे स्पष्टरूप से लिखते हैं कि मठ चैत्यालय आदि रूप व्यवहार आश्रम से भिन्न लक्षणवाले, रागादि से भिन्न अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सुखस्वभावी परमात्मा है - ऐसा भेदज्ञान तथा सुखस्वभावी आत्मा ही पूर्णतः उपादेय है - ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व - इन लक्षणोंवाले ज्ञान-दर्शनस्वभावी आश्रम ही भावाश्रम है, निश्चय आश्रम है, वास्तविक आश्रम है।

आचार्य जयसेन के समय में न केवल मठों की स्थापना हो गई थी; अपितु उनका वर्चस्व भी सर्वत्र हो गया था और उन्हें आश्रम माना जाने लगा था। आचार्यदेव का उक्त कथन मठों के सन्दर्भ में अरुचिपूर्वक की गई शुद्ध सात्त्विक टिप्पणी है।

आचार्यदेव ने आश्रम शब्द की उक्त आध्यात्मिक व्याख्या भी इसी बात को ध्यान में रखकर बुद्धिपूर्वक की है। यदि ऐसा न किया जाता तो आचार्य कुन्दकुन्द भी मठरूप आश्रम को प्राप्त हुए होंगे - ऐसा समझ लिया जाता।

प्रश्न - यहाँ आचार्य मुनिराजों के कषायकण विद्यमान हैं - ऐसा लिखते हैं। अरे! मुनिराजों ने तो घर-परिवार सबकुछ त्याग दिया है, यदि उनके भी कषाय विद्यमान है तो फिर उस कषाय का क्या रूप होगा?

उत्तर - निरन्तर छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराजों के यद्यपि अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ तथा तत्संबंधी हास्यादि कषायों का अभाव है; तथापि अभी संज्वलन कषाय तो विद्यमान ही हैं। यहाँ वह संज्वलन कषाय ही कषायकण है और उसके उदय में होनेवाले महाव्रतादि के शुभभाव ही उनका व्यक्त स्वरूप हैं।

पण्डित टोडरमलजी के अनुसार मुनिराजों के अशुभोपयोग का तो

सद्भाव ही नहीं है; अब शुभोपयोग ही रहा, सो यहाँ उसे कषायकण कहा जा रहा है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

“जबतक वीतराग नहीं हुआ, तबतक ऐसा मंद कषायरूप राग आता है; जिसे कषायकण कहते हैं। मुनिदशा में अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान नाम की तीन कषाय चौकड़ी का अभाव हुआ है, अल्प संज्वलन कषायकण बाकी है, जो पुण्य का कारण है। २८ मूलगुण और शुक्ललेश्या पुण्य का कारण है, उसका भी अभाव करके मुनि, मोक्षदशा प्राप्त करते हैं; इसलिए उसका अभाव करनेवाले को, शुभराग परम्परा से मोक्ष का उपचार मात्र कारण कहा है, किन्तु ‘मिथ्यादृष्टि का शुभराग तो परम्परा से सर्व अनर्थ का कारण है।’ इसप्रकार पंचास्तिकाय शास्त्र में श्री जयसेनाचार्य ने टीका में कहा है।

जहाँ तक मुनिराज को पूर्ण अभेद का अवलम्बन नहीं है, वहाँ तक प्रत्याख्यान, सामायिक, वन्दन आदि का राग आता है; किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; क्योंकि वह कषायकण है, पुण्य बन्ध का कारण है; स्वभाव की प्राप्ति का किंचित् भी कारण नहीं। तब भी ऐसा शुभराग बीच में आ जाता है। अतः उसका ज्ञान कराया है।^१

ज्ञानानन्दस्वभाव की एकाग्रता ही मुनिधर्म है; किन्तु पंच महाव्रत आदि अट्टाईस मूलगुण मुनिधर्म नहीं, अपितु कषाय की कणिका है। जगत दृश्य है, ज्ञेय है और मैं दृष्टा-ज्ञाता हूँ; किन्तु राग को लानेवाला मैं नहीं हूँ - ऐसे भान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है, उन्हें राग को लाने की बुद्धि नहीं होती; फिर भी भूमिका अनुसार राग, क्रम में आ जाता है।^२

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३३

२. वही, पृष्ठ-३४

जो कषाय को लाना चाहते हैं; वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। धर्मात्मा को क्रम में जो राग आ जाता है; वह तो चारित्र का दोष है; किन्तु श्रद्धा का दोष नहीं। ‘राग को लाना और राग का आ जाना’ इसमें अंतर है। जहाँ छठवें गुणस्थान के चारित्र का स्वकाल है और वहाँ इतना (अमुक) दोष है, उसे वे दोषरूप जानते हैं।^३

निश्चयनय कहता है कि मुनि राग को नहीं पालते; किन्तु भूमिका में राग आ जाता है। सहचर जानकर उसे महाव्रत का पालन कहते हैं - ऐसा कहने में आता है। मुनि तो उसे निमित्तरूप-ज्ञेयरूप जानते हैं।^४

मेरा स्वभाव सच्चिदानन्द स्वरूप है - ऐसी दृष्टि तथा ज्ञान तो उन्हें हुआ है; किन्तु लीनता थोड़ी हुई है और थोड़ा कषायांश बाकी है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की वृत्ति पुण्यबंध का कारण है; वह मोक्ष का कारण नहीं है।^५

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का पाप परिणाम तीव्रकषायरूप क्लेश है और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और निष्परिग्रह का पुण्य परिणाम मंदकषायरूप क्लेश है। इसतरह दोनों ही कषाय-क्लेशरूप कलंक है।^६

निष्कलंक-निर्मलानन्द का कारण तो वीतरागभाव ही है। स्वभाव-सन्मुखता-लीनता का होना ही मुक्ति का कारण है। साधक-दशा में जो भी राग आता है, वह मुक्ति का कारण नहीं; पुण्यबंध का कारण है।^६

वीतरागदशा ही मोक्ष का कारण है और वही साम्यभाव है। महाव्रत पुण्यबंध के कारण कहे हैं और वीतरागचारित्र निर्वाण का कारण है।^६”

आचार्य कुन्दकुन्द की मूल गाथाओं, उनकी तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा इन दोनों की ब्रजभाषा में लिखी गई पाण्डे हेमराजजी की टीका को आधार

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३४

२. वही, पृष्ठ-३५

३. वही, पृष्ठ-३६

४. वही, पृष्ठ-३६

५. वही, पृष्ठ-३७

६. वही, पृष्ठ-३७

बनाकर छन्दोबद्ध किये गये प्रवचनसार परमागम में कविवर वृन्दावनदासजी द्वारा आचार्य कुन्दकुन्दकृत मंगलाचरण की पाँच गाथाओं और उनकी टीका का विस्तार से किया गया छन्दोबद्ध भावानुवाद इसप्रकार है

(मत्तगयन्द)

श्रीमत वीर जिनेश यही, तिनके पद वंदत हौं लवलाई ।
वन्दत वृन्द सुरिन्द जिन्हें, असुरिन्द नरिन्द सदा हरषाई ॥
जो चउ घातिय कर्म महामल, थोड़ अनन्त चतुष्टय पाई ।
धर्म दुधातम के करता प्रभु, तीरथरूप त्रिलोक के राई ॥७॥

जिन्हें सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र हर्षित होकर नमस्कार करते हैं, जिन्होंने चार घाति कर्मरूप मल को धोकर अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति की है, निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के धर्म के जो कर्ता हैं, जो स्वयं ही तीर्थरूप हैं और तीनलोक के राजा हैं; ऐसे श्रीमान् महावीर भगवान हैं । मैं लौ लाकर उनके चरणों की वंदना करता हूँ ।

(चौपाई)

बरतत है शासन अब जिनको । उचित प्रनाम प्रथम लिख तिनको ।
कुन्दकुन्द गुरु वन्दन कीना । स्याद्वादविद्या परवीना ॥८॥
जिनका अभी शासन वर्त रहा है, उन महावीर भगवान को स्याद्वाद-विद्या में प्रवीण गुरु कुन्दकुन्ददेव ने सबसे पहले प्रणाम किया है - यह बात उचित ही है ।

(मनहरण)

शेष तीरथेश वृषभादि आदि तेईस औ,
सिद्ध सर्व शुद्ध बुद्धि के करंडवत हैं ।
जिनको सदैव सद्भाव शुद्धसत्ता ही में,
तारनतरन को तेई तरंडवत हैं ॥

आचारज उवझाय साधु के सुगुन ध्याय,
पंचाचारमांहि वृन्द जे अखंडवत है ।
येई पंच परम इष्ट देत है अभिष्ट शिष्ट,
तिनें भक्ति भाव सों हमारी दंडवत है ॥९॥

ऋषभदेव आदि शेष २३ तीर्थकर और जिनका सद्भाव सदा शुद्ध सत्ता में ही है - ऐसे ज्ञान के निधान सभी सिद्धभगवान तारणतरण हैं ।

जो पंचाचारों को अखण्डरूप से पालन करते हैं - ऐसे आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं के गुणों के ध्यान पूर्वक इन अत्यन्त शिष्ट, परम इष्ट, एवं पूर्णतः अभीष्ट पंचपरमेष्ठियों को अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक हमारा दण्डवत नमस्कार हो ।

(दोहा)

देव सिद्ध अरहंत को निज सत्ता आधार ।
सूर साधु उवझाय थित पंचाचारमझार ॥१०॥
ज्ञान दरश चारित्र तप वीरज परम पुनीत ।
ये ही पंचाचार में विचरहिं श्रमण सनीत ॥११॥

अरहंत और सिद्ध देव हैं और वे अपनी सत्ता के आधार से ही हैं । ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य - ये ही परमपवित्र पंचाचार हैं और श्रमणजन नीति के साथ इनमें ही विचरण करते हैं ।

(अशोकपुष्पमंजरी)

पंच शून्य पंच चार योजन प्रमान जे,
मनुष्यक्षेत्र के विषैं जिनेश वर्तमान हैं ।
तास के पदारविंद एक ही सु वार वृन्द,
फेर भिन्न-भिन्न वंदि भव्य-अब्ज-भान हैं ।
वर्तमान भर्त में अबै सुवर्तमान नहिं,
श्रीविदेहथान में सदैव राजमान हैं ।

द्वैत औ अद्वैतरूप वन्दना करौं त्रिकाल,
सो दयाल देत रिद्धि सिद्धि के निधान हैं ॥१२॥

४५ लाख योजन प्रमाण जो मनुष्यक्षेत्र है, उसमें जितने भी तीर्थकर अरहंत वर्तमान में विद्यमान हैं; भव्यरूपी कमलों के सूर्य उन विद्यमान तीर्थकर अरहंतों के चरण कमलों में एकसाथ एवं प्रत्येक को भिन्न-भिन्न रूप से मैं वंदन करता हूँ।

यद्यपि वर्तमान में भरतक्षेत्र में अरहंत विद्यमान नहीं हैं; तथापि विदेहक्षेत्र में तो सदा ही विराजमान रहते हैं। दयावान ऋद्धि और सिद्धियों के निधान को देनेवाले उन सभी को मैं द्वैतरूप से और अद्वैतरूप से त्रिकाल वंदन करता हूँ।

प्रश्न – उक्त छन्द में पैतालीस लाख योजन की बात कहाँ है ?

उत्तर – पंच शून्य पंच चार का अर्थ ४५ लाख है। 'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार अंकों की गिनती उल्टी होती है। चार और पाँच लिखकर उस पर पाँच शून्य रखो तो ४५००००० (पैतालीस लाख) हो जाते हैं।

(दोहा)

आठों अंग नवाइकै भू में दंडाकार।
मुखकर सुजस उचारिये सो वन्दन विवहार ॥१३॥
निज चैतन्य सुभावकरि तिनसों ह्वै लवलीन।
सो अद्वैत सुवन्दना भेदरहित परवीन ॥१४॥

भूमि में दण्ड के आकार में आठों अंगों को नवाकर मुख से गुणगान करना व्यवहार नमस्कार अथवा द्वैतनमस्कार है।

प्रवीण लोगों के द्वारा निज चैतन्यस्वभाव से पंचपरमेष्ठी में लवलीन हो जाना अथवा निजस्वभाव में लवलीन हो जाना, एकाकार हो जाना, अभेद हो जाना अद्वैतनमस्कार या निश्चयनमस्कार है।

(माधवी)

करि वंदन देव जिनिंदन की, ध्रुव सिद्ध विशुद्धन को उर ध्यावों।
तिमि सर्व गनिंद गुनिंद नमों, उदघाट कपाटक ठाट मनावों ॥
मुनि वृन्द जिते नरलोकविषैं, अभिनंदित ह्वै तिनके गुन गावों।
यह पंच पदस्त प्रशस्त समस्त, तिन्हें निज मस्तक हस्त लगावों ॥१५॥
इनके विसराम को धाम लसै, अति उज्वल दर्शनज्ञानप्रधाना।
जहं शुद्धोपयोग सुधारस वृन्द, समाधि समृद्धि की वृद्धि वखाना ॥
तिहि को अवलंबि गहों समता, भवताप मिटावन मेघ महाना,
जिहितें निरवान सुथान मिलै, अमलान अनूपम चेतन वाना ॥१६॥

अरहंत जिनेन्द्रों को वंदन करके पूर्णतः विशुद्ध ध्रुवसिद्ध भगवानों को हृदय में धारण करो। इसीप्रकार सभी गुणवान गणधरदेवों, आचार्यों और हृदय के कपाट खोल देनेवाले उपाध्यायों को नमस्कार करो तथा नरलोक अर्थात् ढाईद्वीप में जितने भी अभिनंदित मुनिराज हैं, उनके गुणों का गान करो। इन पाँच प्रशस्त पदों में स्थित समस्त परमेष्ठियों को हाथ जोड़कर मस्तक नवाओ।

इन पंचपरमेष्ठियों के विश्राम करने का अति उज्वल धाम दर्शन-ज्ञानप्रधान आश्रम है। उक्त दर्शन-ज्ञानप्रधान आश्रम में समृद्धि और वृद्धि देनेवाला समाधिमय शुद्धोपयोगरूप अमृत बरसता है। उसका अवलंबन लेकर समता भाव ग्रहण करो; क्योंकि समताभाव संसारताप को मिटाने के लिए मेघ के समान है। उस समताभाव से ही अमल, अनुपम और चैतन्यमय निर्वाण (मुक्ति) की प्राप्ति होती है।

कविवर वृन्दावनदासजी द्वारा रचित उक्त छन्दों के आधार पर यह सुनिश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इसमें वे मात्र गाथाओं के भाव तक सीमित नहीं रहे हैं।

उदाहरण के रूप में मूल गाथाओं में द्वैतनमस्कार और अद्वैतनमस्कार की बात नहीं है; इनकी चर्चा टीकाओं में आई है; फिर भी वृन्दावनदासजी

न केवल उनकी चर्चा ही करते हैं; अपितु उनके स्वरूप पर भी प्रकाश डालते हैं, उन्हें परिभाषित करते हैं।

इसीप्रकार मनुष्यक्षेत्र को ४५ लाख योजन टीकाओं के आधार पर ही लिखा गया है।

बनारसीदासजी के नाटक समयसार का आधार तो मात्र आत्मख्याति टीका में समागत कलश (छन्द) और राजमलजी पाण्डे द्वारा लिखित उन कलशों की टीका ही है। उसमें आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की गाथाओं व आत्मख्याति टीका के गद्यभाग को आधार नहीं बनाया है; किन्तु प्रवचनसार परमागम में वृन्दावनदासजी प्रवचनसार की मूल गाथाओं; उनकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीका और पाण्डे हेमराजजीकृत हिन्दी टीका को आधार बनाकर बात करते हैं।

इस बात का उल्लेख भी उन्होंने स्वयं किया; जो इसप्रकार है -

तामें प्रवचनसार की बाँचि वचनिका मंजु।

छन्दरूप रचना रचों उर धरि गुरुपदकंजु ॥५७॥

आचार्य कुन्दकुन्दकृत उन ग्रन्थों में प्रवचनसार ग्रन्थ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका की पाण्डे राजमलजीकृत सुन्दर वचनिका (टीका) पढ़कर मैं गुरुओं के चरण कमलों को हृदय में धारण कर छन्दरूप रचना करता हूँ

दृढ़ संकल्प

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डित कविवर बनारसीदासजीकृत नाटक एकद्वार अंतर से यह दृढ़संकल्प आ जाय कि पर न मेस है, न समयसार में और कविवर वृन्दावनदासजीकृत प्रवचनसार परमागम में पर न हूँ मे पर की कता भोक्ता भी नही हूँ तो निश्चितरूप से इस यही मूलभूत अन्तर है।

जो जीव की दृष्टि परपदार्थ से हटकर स्वभावसन्मुख होगी, अपने आत्मा की तरफ होगी; तब इसे स्वयमेव ही आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन, आत्मा का ध्यान अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो जायेगी।

- समयसार का सार, पृष्ठ-

प्रवचनसार गाथा-६

मंगलाचरण संबंधी पाँच गाथाओं में से पाँचवीं गाथा में विशुद्धदर्शन-ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त करके निर्वाण की प्राप्ति के लिए साम्यभाव को प्राप्त होने की बात कही थी।

उक्त दर्शनज्ञानप्रधान आश्रम या साम्यभाव सम्यक्चारित्र ही है। अतः अब इस छठवीं गाथा में उक्त चारित्र के फल का निरूपण करते हैं; क्योंकि जबतक हमें यह पता न चले कि जिस कार्य को करने के लिए हमें प्रेरित किया जा रहा है; उसके करने से हमें क्या लाभ होगा; तबतक उस कार्य में हमारी प्रवृत्ति रुचिपूर्वक नहीं होती।

मूल गाथा इसप्रकार है -

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुरायविहवेहिं।

जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

(हरिगीत)

निर्वाण पावैं सुर-असुर-नरराज के वैभव सहित।

यदि ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र सम्यक् प्राप्त हो ॥६॥

इस जीव को दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्रों के वैभव के साथ-साथ निर्वाण की प्राप्ति होती है।

उक्त गाथा का भावानुवाद कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इसप्रकार करते हैं -

(चौबोला)

जो जन श्री जिनराजकथित नित चित्तविषैं चारित्त धरै।

सम्यक्दर्शनज्ञान जहाँ अमलान विराजित जोति भरै ॥

सो सुर इन्द वृन्द सुख भोगै असुर इन्द्र को विभव वरै।

होय नरिन्द सिद्धपद पावै फेरि न जग में जन्म धरै ॥१७॥

जो व्यक्ति जिनराजकथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित निर्मलज्योति से शोभायमान चारित्र को नित्य धारण करता है; वृन्दावन कवि कहते हैं कि वह व्यक्ति देवेन्द्र के सुख भोगता है, असुरेन्द्र के वैभव को प्राप्त करता है और चक्रवर्तीपद को प्राप्त कर अन्त में सिद्धपद को प्राप्त करता है। एक बार सिद्धपद को प्राप्त कर लेने पर फिर संसार में जन्म नहीं लेता।

तात्पर्य यह है कि मुक्त हो जाने पर वह अनंतकाल तक अनंतसुख भोगता है, कभी भी संसार में नहीं भटकता।

‘जीवों को दर्शन-ज्ञानप्रधानचारित्र से देवेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्तीपद की प्राप्ति के साथ-साथ निर्वाण की प्राप्ति होती है’ गाथा में कही गई उक्त बात ऊपर से एकदम सामान्य-सी प्रतीत होती है; परन्तु उसमें अत्यन्त गंभीर बात कही गई है - इसका पता आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका के अध्ययन से चलता है।

निर्वाण और देवेन्द्रादि पदों की प्राप्ति का मार्ग एक कैसे हो सकता है; क्योंकि निर्वाण मुक्तिस्वरूप है और ये देवेन्द्रादि पद बंधरूप हैं - इस शंका का समाधान टीका से ही प्राप्त होता है। उक्त शंका का समाधान टीका में चारित्र के सरागचारित्र और वीतरागचारित्र - ऐसे दो भेद करके किया गया है; जो इसप्रकार है -

“दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से यदि वह चारित्र वीतरागचारित्र हो तो मोक्ष प्राप्त होता है और उससे ही यदि वह सरागचारित्र हो तो देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र के वैभवक्लेशरूप बंध की प्राप्ति होती है। इसलिए मुमुक्षुओं को इष्टफलवाला होने से वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य है, उपादेय है और अनिष्टफलवाला होने से सरागचारित्र त्यागने योग्य है, हेय है।”

पहली बात तो यह है कि गाथा और उसकी टीका - दोनों में ही चारित्र के दर्शन-ज्ञानप्रधान विशेषण पर विशेष बल दिया गया है। तात्पर्य

यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र अर्थात् सम्यक्चारित्र होता ही नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना चारित्र के नाम पर जो भी क्रियाकाण्ड या शुभभाव देखने में आते हैं; वे सब तो एकमात्र मिथ्याचारित्र ही हैं।

दूसरी बात यह है कि सरागचारित्र और वीतरागचारित्र - ये दोनों भेद सम्यक्चारित्र के ही हैं। यह समझना बहुत बड़ी भूल होगी कि सरागचारित्र मिथ्याचारित्र और वीतरागचारित्र सम्यक्चारित्र होगा; क्योंकि चारित्र के सम्यक्पने का आधार सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित होना ही है। तात्पर्य यह है कि सराग और वीतराग - दोनों ही चारित्र सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के ही होते हैं, मिथ्यादृष्टियों के नहीं।

ऐसा होने पर भी सरागचारित्र रागसहित होने के कारण अनिष्ट-फलवाला है, बंध का कारण है और वीतरागचारित्र वीतरागता सहित होने के कारण इष्टफलवाला है, मोक्ष का कारण है - ऐसा कहा गया है।

वस्तुतः बात यह है कि बंध का कारण तो राग ही है, चारित्र नहीं; क्योंकि निश्चय से चारित्र तो वीतरागभाव का ही नाम है। राग को तो सहचारी होने से व्यवहार से चारित्र कह दिया गया है। वस्तुतः तो वह चारित्र नहीं, चारित्र का दोष है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने यह बात उत्थानिका में ही स्पष्ट कर दी थी कि वीतरागचारित्र इष्टफल वाला है; इसलिए उपादेय है और सरागचारित्र अनिष्टफलवाला है; अतः हेय है - अब यह बताते हैं।

तीसरी बात यह है कि जिन इन्द्रादि पदों को और चक्रवर्ती के वैभव को जगत इष्ट मानता है, सुखरूप मानता है; उन्हें यहाँ अनिष्ट कहा है, क्लेशरूप कहा गया है, बंधरूप कहा गया है।

इसीप्रकार का भाव आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में भी व्यक्त किया गया है।

तात्पर्यवृत्ति में एक नया प्रमेय यह प्रस्तुत किया गया है कि असुरेन्द्र तो भवनत्रिक में होते हैं और सम्यग्दृष्टि जीव भवनत्रिक में पैदा ही नहीं होते – ऐसी स्थिति में यह कहना कि दर्शन-ज्ञानप्रधानचारित्र से असुरेन्द्रपद प्राप्त होता है – कहाँ तक ठीक है ? इसप्रकार का प्रश्न स्वयं उठाकर उसका समुचित समाधान प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं –

“निदान बंध से सम्यक्त्व की विराधना करके असुरेन्द्रों में उत्पन्न होता है – ऐसा जानना चाहिए।”

उक्त गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलदशा अरागी परिणाम है और महाव्रत के परिणाम राग परिणाम हैं – ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं; इसलिए दोनों को ठीक नहीं माना जा सकता। उनमें अरागी परिणाम उपादेय है और राग परिणाम सर्व प्रकार से हेय है – ऐसा माने तो यथार्थ है; किन्तु दोनों को उपादेय मानें, समान माने तो वह यथार्थ नहीं है।

महाव्रत का परिणाम निमित्त है व सहचर है, उसे मात्र जानने योग्यरूप व्यवहार से उपादेय कहा है, किन्तु निश्चय से वह उपादेय नहीं है।

राग हेय है, शरीर-मन-वाणी की क्रिया ज्ञेय है, स्वभाव सन्मुखदशा होकर जो अरागी परिणाम होता है, वह उपादेय है; इसप्रकार जिसे हेय-ज्ञेय-उपादेय – इन तीन की खबर नहीं, वह मूढ़ है। आहार पानी को मैं ग्रहण कर सकता हूँ अथवा त्याग कर सकता हूँ – ऐसा मेरा स्वरूप ही नहीं है। वे तो ज्ञेय हैं तथा उनके लक्ष्य से राग की मंदता होती है, वह हेय है और जो स्वभाव-सन्मुखदशा होती है, वह उपादेय है। इसप्रकार तीनों को जानना चाहिए।^१

निमित्त ज्ञेय, विभाव हेय और त्रिकाल स्वभाव उपादेय है – ऐसे निर्णय बिना धर्म नहीं होता।^२

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-४२

२. वही, पृष्ठ-४२

शुद्ध चिदानन्द आत्मा की दृष्टिपूर्वक लीनता निश्चय है, उसका फल मोक्ष है और जो महाव्रत का परिणाम आता है, वह व्यवहार है, उसका फल संसार है। इसप्रकार (साधकदशा में) एक समय में दो भाग वर्तते हैं।^१

धर्मी जीव को स्वरूप की दृष्टि और लीनता अंगीकार करने योग्य है; क्योंकि उसका फल मोक्ष है। स्वयं की लीनता की कमी से, पाँच महाव्रत की वृत्ति उठती है, जिसका फल अनिष्ट है। राग निमित्त है, इसलिए उसे उपचार से सरागचारित्र कहा है। जबतक पूर्ण वीतराग न हो, तबतक राग आता है; किन्तु राग आदरणीय नहीं है। चारित्र तो वीतराग भावरूप एक ही प्रकार का है। सरागता वह चारित्र नहीं है। यदि राग को आदणीय माने तो उसने स्वभाव को आदरणीय नहीं माना; अतः वह मिथ्यादृष्टि है।^२”

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण का सार यह है कि साधक की भूमिका में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ आंशिक राग और आंशिक वीतरागता रहती है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उसके साथ रहनेवाली वीतरागता तो नियम से मुक्ति का ही कारण है; किन्तु उसके साथ रहनेवाला राग बंध का ही कारण है। उक्त राग के कारण जो बंध होता है; उसके फल में देवेन्द्रादि उच्च पदों की प्राप्ति होती है; क्योंकि वह राग प्रशस्त होता है।

यह बात तो सर्वविदित ही है कि चक्रवर्तीपद और देवेन्द्रादिपद प्राप्त करानेवाला प्रशस्त राग सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्माओं को ही होता है।

ध्यान में रखने की मूल बात यह है कि चारित्रवंत ज्ञानी धर्मात्माओं को भी साधकदशा में देवेन्द्रादि पदों को प्राप्त करानेवाला पुण्यबंध होता है; तथापि वह उपादेय नहीं, हेय ही है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-४४

२. वही, पृष्ठ-४५

प्रवचनसार गाथा-७

छटवीं गाथा में चारित्र के फल का निरूपण करते हुए वीतरागचारित्र को मुक्ति का कारण बताया गया है। अतः यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि आखिर वह वीतरागचारित्र या निश्चयचारित्र क्या है, जिसका फल अनन्तसुखस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति होना है।

यही कारण है कि इस सातवीं गाथा में निश्चयचारित्र का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। चारित्र का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करनेवाली वह गाथा मूलतः इसप्रकार है -

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्धिद्वो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

(हरिगीत)

चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है ।
दुःखमोह-क्षोभविहीन निज परिणाम समताभाव है ॥७॥

वस्तुतः चारित्र ही धर्म है। वह धर्म साम्यभावरूप है - ऐसा कहा गया है। दर्शनमोह और क्षोभ (चारित्रमोह - राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है।

उक्त गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में तीन छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(चौबोला)

निहचै निज सुभाव में थिरता, तिहि चरित कहं धरम कहै ।
सोई परम धर्म समतामय, यो सर्वज्ञ कृपाल महै ॥
जामें मोह क्षोभ नहिं व्यापत, चिद्विलास दुति वृन्द गहै ।
सो परिनामसहित आतम को, शाम नाम अभिराम अहै ॥१८॥

(दोहा)

चिदानन्द चिद्रूप को, परम धरम शमभाव ।
जामें मोहन राग रिस, अमल अचल थिर भाव ॥१९॥
सोई विमल चारित्र है, शुद्ध सिद्धपदहेत ।
शामसरूपी आतमा, भविक वृन्द लखि लेत ॥२०॥

अत्यन्त दयावान सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि समताभावपूर्वक निजस्वभाव में स्थिरता ही चारित्र है, परमधर्म है। उक्त धर्म में दर्शनमोह और क्षोभ अर्थात् राग-द्वेषमय चारित्रमोह व्याप्त नहीं होता, चैतन्य का विलास प्रकाशमान रहता है। उक्त वीतरागी परिणाम सहित आत्मा साम्य है, अभिराम है।

मोह-राग-द्वेष से रहित, अमल, अचल, स्थिर भाव ही चैतन्यस्वरूपी चिदानन्द आत्मा का परमधर्म है। मुक्ति का हेतुभूत वही निर्मलचारित्र है। भव्यजीव उक्त समभावस्वरूपी आत्मा को ही देखते हैं।

चारित्र को धर्म घोषित करनेवाली उक्त गाथा सर्वाधिक चर्चित गाथा है। बाह्य क्रियाकाण्ड को चारित्र माननेवाले लोग इस गाथा के आधार पर स्वयं को महान और दूसरों को तुच्छ समझने लगते हैं। वे लोग इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि चारित्र को धर्म बतानेवाली यह गाथा चारित्र के स्वरूप को भी परिभाषित करती है।

इस गाथा में साफ-साफ लिखा है कि न तो जड़देह की क्रिया का नाम चारित्र है और न शुभभावरूप रागभाव का नाम ही निश्चयचारित्र है। चारित्र तो मोह-क्षोभ से रहित अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष से रहित आत्मा का वीतरागी परिणाम ही है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“स्वरूप में चरण करना (रमना) चारित्र है। इसका अर्थ (तात्पर्य)

स्वसमय में प्रवृत्ति करना है। वस्तु का स्वभाव होने से यही धर्म है और शुद्धचैतन्य का प्रकाश होना – इसका अर्थ है। यही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है। वह साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकारी – ऐसा जीव का परिणाम है।”

उक्त कथन में ध्यान देने की बात यह है कि चाहे सराग चारित्र हो चाहे वीतराग चारित्र, पर होगा तो वह नियम से जीव का परिणाम ही; वह देह की क्रियारूप नहीं हो सकता, वह जड़ की क्रियारूप नहीं हो सकता।

हमें आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि हम जिस क्रिया को चारित्र मान रहे हैं; क्या वह जीव का परिणाम है? यदि वह देह की क्रिया जीव का परिणाम नहीं है तो वह न तो सरागचारित्र होगी और न वीतराग चारित्र; क्योंकि साम्यदर्शन-ज्ञान सहित वीतराग-परिणाम को वीतराग चारित्र कहते हैं और साम्यदर्शन-ज्ञान सहित शुभभाव को सरागचारित्र कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि यहाँ जिस चारित्र की बात चल रही है, वह न तो द्रव्यरूप ही है और न गुणरूप ही; वह तो नियम से पर्यायरूप ही है, परिणामरूप ही है; क्योंकि यहाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि मोह और क्षोभ से रहित जीव का परिणाम ही चारित्र है।

अरे भाई! न तो देह की क्रियारूप, जड़ की क्रियारूप बाह्य क्रियाकाण्ड का नाम चारित्र है और न वह द्रव्य या गुणरूप है; अपितु आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुआ जीव का वीतरागी परिणाम ही चारित्र है, वही धर्म है। इस गाथा का एकमात्र यही भाव है।

टीका में भी साफ-साफ लिखा है कि स्वरूप में चरण करना ही चारित्र है। स्वरूप में चरण करने का तात्पर्य स्वसमय अर्थात् निज भगवान आत्मा में प्रवृत्ति करना है; उसी को निजरूप जानना-मानना और उसी में जमना-

रमना है। इसप्रकार का चारित्र ही वास्तविक धर्म है, निश्चयधर्म है, शुभभावरूप सरागचारित्र को व्यवहार धर्म कहते हैं, निश्चय से नहीं।

तात्पर्यवृत्ति में भी उक्त गाथा का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका के समान ही है; तथापि ‘सम’ शब्द का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका में ‘साम्य’ किया गया है और तात्पर्यवृत्ति में ‘शम’ किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र यथावस्थित दशा की अपेक्षा ‘सम’ को ‘साम्य’ कहते हैं और आचार्य जयसेन विकारी भावों के शमन की अपेक्षा ‘सम’ को शम कहते हैं।

यह कोई मतभेद नहीं है, अपितु मात्र व्याख्याभेद ही है।

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“स्वयं का और पर का स्वरूप क्या है? सर्वप्रथम उसे यथार्थरूप से जानना चाहिए। मेरा स्वरूप मेरे में है और पर का स्वरूप पर में है। पुण्य-पाप विभाव है, वह मेरा स्वरूप नहीं; इसलिए वह मुझे मददगार नहीं है। ‘मैं शुद्ध चिदानन्द हूँ, इसमें रमण करना ही चारित्र है।’^१

इस गाथा में चारित्र का अर्थ करते हैं। स्वसमय अर्थात् अपना आत्मपदार्थ – शुद्ध चिदानन्द में एकाग्र होनेरूप प्रवृत्ति करना वह चारित्र का अर्थ है। पर की प्रवृत्ति आत्मा नहीं कर सकता तथा पुण्य-पापरूप प्रवृत्ति भी आत्मा की प्रवृत्ति नहीं है।^२

तथा कोई कहता है कि अहिंसा के प्रभाव के कारण पास में आया हुआ हिंसक जीव भी शान्त हो जाता है, बैर को त्याग देता है तो यह बात भी असत्य है; क्योंकि अहिंसा का प्रभाव दूसरों के ऊपर नहीं होता। स्वभाव में लीनता होने पर अपने में बैर का नाश होता है। मुनि को सर्प काट लेता है, बाघ फाड़कर खा जाता है; फिर भी अन्तर में परिपूर्ण अहिंसा है।

सिंह मुनि के शरीर को खा जाय तो उससे मुनि का अहिंसामय चारित्र

चला जाता हो - ऐसा नहीं है। सिंह तो शरीर को खाता है, किन्तु वह मुनि की आत्मा को किंचित् भी नहीं मार सकता।

कोई कहता है कि मुनि के पास सर्प आया और मुनि के प्रभाव से उसे बिना चला गया; किन्तु चारित्र का फल पर में नहीं होता। पवित्र मुनि को भी यदि असाता का उदय हो तो सर्प डस जाता है और मुनि की मृत्यु हो जाती है; तो क्या उससे मुनि की अहिंसा चली जाती है? नहीं; अतः वस्तु का जैसा स्वतंत्र स्वभाव है, वैसा निर्णय करना चाहिए।

चारित्र का प्रभाव परद्रव्य के ऊपर नहीं पड़ता। यदि परद्रव्य के ऊपर प्रभाव पड़ता हो तो मुनि के बाईस परिषह असत्य हुए, जबकि मुनि को मच्छर आदि काट लेते हैं।^१

स्व में रमण करना अर्थात् स्व में प्रवृत्ति करना - ऐसा चारित्र का अर्थ है। दूसरा कोई आकर मुनि को न मारे - ऐसा चारित्र का अर्थ नहीं है। सम्यक् प्रकार से ज्ञान का परिणमन वह स्व-समय है। शरीर में रोग न आवे, वह चारित्र का फल नहीं है। मुनि का वचन निकले, दृष्टि पड़े और किसी को निरोगता हो जाय - ऐसी लब्धि हो अथवा न हो; उसके साथ चारित्र का कोई संबंध नहीं है।^२

स्वयं ज्ञानमूर्ति हूँ - ऐसा अनुभव चारित्र है; किन्तु पुण्य में प्रवृत्ति चारित्र नहीं है। अट्टाईस मूलगुण पालन की प्रवृत्ति, शुद्ध आहार-पानी लेने की वृत्ति राग है; चारित्र नहीं। धर्मी को कोई आकर मार जावे तो स्वसमय प्रवृत्ति अटक जाती हो - ऐसा नहीं होता। भूमिका के अनुसार बाहर के निमित्त होते हैं; किन्तु उससे विरुद्ध नहीं होते। तथापि बाह्य निमित्त के साथ स्वसमय की प्रवृत्ति का संबंध नहीं है।^३

बहुत उपदेश देवे, अनेक मंदिर बनावे, बहुत पाठशालायें चलाये; वे मुनि - ऐसा मुनि का अर्थ नहीं है। पर पदार्थ तो उनके कारण बनते हैं।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-४९

२. वही, पृष्ठ-५०

३. वही, पृष्ठ-५०

यदि कदाचित् बाहर में ऐसा योग न बने तो उससे मुनिपना नहीं चला जाता। चारित्र का अर्थ ज्ञायकस्वरूप में स्वसमय की प्रवृत्ति है। व्रतादि का शुभभाव आ जाता है - किन्तु वे उसे नहीं लाते। मैं ऐसे राग को लाऊँ और इस निमित्त को बनाऊँ - ऐसा माननेवाला मूढ़ है, पर्यायबुद्धि है।

कोई कहता है कि 'बहुत उपदेश देना, शास्त्र लिखना, दूसरों को उद्धार करना मुनि का काम है।' - तो उसका यह कथन असत्य है; क्योंकि आत्मा पर का कुछ भी नहीं कर सकता। विकल्प कमजोरी के काल में आता है; किन्तु वह मुनि का चारित्र नहीं है। अपितु स्वभाव में चरण करना चारित्र है।^१

स्वरूप में चरण करना चारित्र है। इसलिए स्वरूप क्या है? उसका सर्वप्रथम निर्णय होना चाहिए। स्वयं ज्ञान और आनन्द स्वरूप है - ऐसा निर्णय होना चाहिए।

यह मुनि के चारित्र की बात है; पेटे में (गर्भितरूप से) श्रावक का चारित्र भी आ जाता है। सर्वप्रथम सत्समागम में निर्णय करना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहा गया आत्मा पूर्ण ज्ञान और आनन्द स्वरूप है; उसमें रमण करना चारित्र है। यहाँ चारित्र के चार बोल कहे हैं - १. चारित्र, २. धर्म, ३. साम्यभाव, ४. निर्विकारी परिणाम।^२

पूर्ण शुद्ध, आनन्द स्वरूप आत्मा में प्रवृत्ति करना चारित्र है। किसी का कल्याण करना, उद्धार करने की वृत्ति चारित्र नहीं है। अशुभ से निवृत्ति लेकर शुभ की प्रवृत्ति करना यह तो व्यवहार का स्थूल चारित्र है। ज्ञानानन्द स्वरूप की प्रवृत्ति करनेवाले को शुभराग आता है; लेकिन उसे हेयरूप-अहितकर माने तो वह शुभभाव व्यवहार से चारित्र कहा जाता है।

प्रश्न - यदि वह असत्यार्थ चारित्र है तो फिर उसे चारित्र क्यों कहा?

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-५१

२. वही, पृष्ठ-५१-५२

उत्तर – आत्मा का भान होने पर इसीप्रकार का राग शेष रह जाता है; इसलिए उसे सहचर जानकर सरागचारित्र कहा है; किन्तु यह उपचार का कथन है। वास्तव में चारित्र एक ही है, राग चारित्र नहीं है।^१

स्वरूप में रमन करने को चारित्र कहा; वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाशित होना – ऐसा उसका अर्थ है और जैसा आत्मा का स्वभाव है; वैसा यथास्थित भाव होने से वह साम्य है। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभाव में स्थित हुआ, वह आत्मगुण है।

यहाँ गुण का अर्थ निर्मल पर्याय समझना। यह विषमता रहित सुस्थित आत्मा का गुण है, वह साम्य है। जो निर्विकारी परिणाम कहने में आया है, वही समताभाव है। कोई लकड़ी से मारे और समता रखे, वह वास्तविक समता नहीं है, अपितु पुण्य-पाप दोनों को एक जानकर चिदानन्द स्वरूप में स्थिरता हुई, वही वास्तव में समता है।^२

महाव्रतादि का परिणाम आंशिक स्व से हटकर, चारित्रमोह में जुड़ने से होता है। मुनि को प्रमादकाल में जो व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आता है; उससे रहित, जितने अंश में जीव का निर्विकारी परिणाम है अथवा स्व पदार्थ में रमणता होने पर जो परिणाम होता है, उसे धर्म अथवा चारित्र कहा है। देह की क्रिया व पुण्य की क्रिया तो पर में जाती है, उसे धर्म नहीं कहते।^३

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि शुभाशुभक्रिया और शुभाशुभ-भाव चारित्र नहीं है; चारित्र तो अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न वीतरागी परिणाम ही हैं। बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों से भी धर्म का कोई संबंध नहीं है; क्योंकि अनुकूल और प्रतिकूल संयोग तो पुण्य-पाप के उदय से संबंध रखते हैं; उनका अविनाभाव तो पुण्य-पाप के उदय के साथ है, वीतरागभावरूप धर्म के साथ नहीं।

उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण स्वामीजी ने अपने प्रवचन में विस्तार से
१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-५२ २. वही, पृष्ठ-५६ ३. वही, पृष्ठ-५१ पृष्ठ-५८-५९

किया है, तत्संबंधी कतिपय उद्धरण यहाँ भी दिये ही गये हैं।

● प्रवचनसार गाथा-८

विगत गाथा में यह कहा गया था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित वीतराग भाव ही चारित्र है और अब इस आठवीं गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मा जिस समय जिस भावरूप से परिणमित होता है; उस समय उसी भावमय होता है। अतः धर्मभाव से परिणमित आत्मा ही धर्म है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं ।

तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

(हरिगीत)

जिसकाल में जो दरव जिस परिणाम से हो परिणमित ।

हो उसीमय वह धर्मपरिणत आत्मा ही धर्म है ॥८॥

द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमित होता है, वह उस समय उसीमय होता है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इसलिए धर्म परिणत आत्मा ही धर्म है।

इस गाथा का पद्यानुवाद कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार करते हैं—

(सवैया तेईसा)

जब जिहि परनति दरब परनमत, तब तासों तन्मय तिहि काल ।

श्रीसर्वज्ञकथित यह मारग, ग्रथित गुरु गनधर गुनमाल ॥

तातैं धरम स्वभाव परनमत, आतमहू का धरम सम्हाल ।

धरमी धरम एकता नय की, इहां अपेक्षा वृन्द विशाल ॥२१॥

जब जो द्रव्य जिस परिणतिरूप परिणमित होता है, तब वह उससे तन्मय होता है – यह त्रिकाल अबाधित सर्वज्ञकथित मार्ग है और गुणों के धारक गुरु गणधरदेव ने इसे गूथा है, लिपिबद्ध किया है। उक्त अबाधित नियम के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभेदनय की अपेक्षा से धर्मी और धर्म की एकता के आधार पर धर्मरूप परिणमित आत्मा ही धर्म है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार उष्णतारूप परिणमित लोहे का गोला उस समय उष्ण ही है; उसीप्रकार जो द्रव्य जिस समय जिस भावरूप से परिणमित होता है; उस समय उसी भावरूप होता है। इसी नियम के अनुसार धर्मभाव से परिणमित आत्मा स्वयं धर्मरूप ही है। इसप्रकार आत्मा स्वयं चारित्र्य है - यह बात सिद्ध होती है।”

प्रश्न - यहाँ पर टीका में उष्णतारूप परिणमित लोहे के गोले का उदाहरण देकर धर्म परिणत आत्मा ही धर्म है - यह बात समझाई गई है। उक्त उदाहरण में तो लोहा अलग है और उष्णता अलग है। उष्णता तो अग्नि की है, लोहे की नहीं; जबकि आत्मा और शुद्धोपयोगरूप परिणति तो एक अपेक्षा से अभिन्न ही है। जिसप्रकार शुद्धोपयोग और आत्मा अभिन्न हैं, उसीप्रकार उष्णता और लोहे को तो नहीं माना जा सकता। अतः यह उदाहरण यहाँ पूर्णतः घटित नहीं होता।

उत्तर - उक्त आशंका कविवर वृन्दावनदासजी के हृदय में भी उत्पन्न हुई थी, जिसका समाधान उन्होंने इसप्रकार किया है -

(दोहा)

अयमय गोला अग्नि तें, लाल होत जिहि काल।
अनल ताहि तब सब कहत, देखो बुद्धि विशाल॥२६॥
तैसे जिन जिन धर्म करि, प्रणवहि वस्त समस्त।
तन्मय तासों होहिं तब, यह सुभाव अनअस्त॥२७॥
अग्नि पृथक् गोला पृथक्, यह संजोगसंबंध।
त्यो धर्मी अरु धर्म में, भेद नहीं है खंध॥२८॥
सिख संबोधन को सुगुरु, देत विदित दृष्टांत।
एकदेश सो व्यापता, सुनो भविक तजि भ्रांत॥२९॥

धर्मी धर्म दुहन को तादात्म्य सम्बन्ध।

है प्रदेश प्रति एकता, सहज सुभाव असंध॥३०॥

यदि बौद्धिक विशालता से देखें तो लोहे का गोला अग्नि के संयोग से जिस समय लाल हो जाता है; उस समय उसे सभी लोग अग्नि ही कहते हैं।

उसीप्रकार सभी वस्तुएँ जिससमय जिन धर्मों (पर्यायों) में परिणमित होती हैं; उस समय वे वस्तुएँ उन धर्मों (पर्यायों) से तन्मय (एकाकार-अभेद-अभिन्न) होती हैं। यह कभी अस्त न होनेवाला वस्तु का सहज स्वभाव है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अग्नि और लोहे का गोला तो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं; इनमें तो परस्पर संयोगसंबंध है, तादात्म्य संबंध नहीं। अरे भाई! धर्मी और धर्म में तो संयोग संबंध नहीं होता; उनमें तो तादात्म्य संबंध ही होता है?

उक्त प्रश्न के उत्तर में कविवर वृन्दावनदासजी कहते हैं कि हे भव्य जीवों! भ्रान्ति छोड़कर यह बात सुनो कि सुगुरु शिष्यों को समझाने के लिए अनेक-प्रकार के दृष्टांत देते हैं; उनमें अनेक दृष्टांत तो एकदेश ही व्याप्त होते हैं।

यह बात तो एकदम सच्ची है कि धर्मी और धर्म (पर्याय) में तादात्म्य संबंध ही होता है; क्योंकि दोनों में प्रदेश एक होते हैं। धर्मी और धर्म (पर्याय) में सांध नहीं होती; सहज स्वाभाविक एकता होती है।

यद्यपि आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं, उदाहरण भी गर्म लोहे के गोले का ही देते हैं; तथापि धर्म पर्याय से परिणमित आत्मा ही धर्म है - इस बात को स्पष्ट करते हुए धर्म के निश्चय और व्यवहार - ऐसे दो भेद कर देते हैं। साथ में निजशुद्धात्म परिणति को निश्चयधर्म और पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि शुभभावरूप परिणति को व्यवहारधर्म कहते हैं।

एक बात और भी है कि वे उपादानकारण के समान ही कार्य होता है - इस नियम का स्मरण कराते हुए उपादानकारण के शुद्धोपादान और अशुद्धोपादान - ऐसे दो भेद करके निश्चय-व्यवहार धर्म को घटित करते हैं।

उक्त गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिस समय जो परिणाम होता है, उससे आत्मा पृथक् नहीं है। आत्मा का स्वभाव ज्ञायक है; उस स्वभाव के अवलम्बन द्वारा अरागी परिणामस्वरूप से परिणमित हुआ आत्मा स्वयं धर्म है।^१

जिस समय आत्मा ने अपने स्वरूप की दृष्टि की - शक्ति की व्यक्तता की, उस पर्याय को धर्म न कहकर, उस समय के आत्मा को धर्म कहा है।^२

धर्मरूप से परिणमित हुआ आत्मा स्वयं धर्म है। उस समय शुभराग सहचर होता है; इसलिए निमित्त देखकर उसे व्यवहार धर्म कहते हैं; किन्तु उसे धर्म मानना तो मिथ्यात्व है। दया-दानादि के परिणाम वस्तु हैं - यह बात सही है; किन्तु वे धर्मरूप नहीं हैं।^३”

उक्त सम्पूर्ण मंथन से एक ही बात स्पष्ट होती है कि इस गाथा में द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता स्पष्ट की गई है। इस अपेक्षा को समझे बिना कुछ लोग द्रव्य और पर्याय को सर्वथा भिन्न प्ररूपित करने लगते हैं। उन्हें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि यहाँ आचार्यदेव शुद्धोपयोगरूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म से परिणमित आत्मा को ही धर्म कह रहे हैं।

बात यहाँ तक ही नहीं है कि धर्मपर्यायरूप परिणमित आत्मा धर्म है; अपितु आगामी गाथा में तो यहाँ तक कह रहे हैं कि शुद्धभावरूप परिणमित आत्मा शुद्ध है, शुभभावरूप परिणमित आत्मा शुभ है और अशुभभावरूप

परिणमित आत्मा अशुभ है।

२. वही, पृष्ठ-६३

३. वही, पृष्ठ-६४

प्रवचनसार गाथा-९

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।

सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

(हरिगीत)

स्वभाव से परिणाममय जिय अशुभ परिणत हो अशुभ ।

शुभभाव परिणत शुभ तथा शुधभाव परिणत शुद्ध है ॥९॥

जीव परिणामस्वभावी होने से जब वह शुभ या अशुभभावरूप परिणमित होता है, तब स्वयं भी शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्ध-भावरूप परिणमित होता है, तब शुद्ध होता है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इस-प्रकार स्पष्ट करते हैं-

“जिसप्रकार लाल जवाकुसुम और काले तमालपुष्प के संयोग से स्फटिकमणि उनके रंगरूप परिणमित होता देखा जाता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा जब शुभ या अशुभभावरूप परिणमित होता है; तब परिणामस्वभावी होने से स्वयं ही शुभ या अशुभरूप होता है और जब यह भगवान आत्मा शुद्धभाव अर्थात् अरागभाव से परिणमित होता है; तब शुद्ध अराग (रंगरहित) परिणमित स्फटिक की भांति परिणामस्वभावी होने से स्वयं ही शुद्ध होता है। इसप्रकार जीव का शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होता है।”

जवापुष्प लाल होता है और तमाल पुष्प काला होता है। ध्यान रहे यहाँ लाल पुष्प को पुण्य का और काले पुष्प को पाप का प्रतीक मानकर बात की है।

गाथा और टीका - दोनों के भाव समेटते हुए कविवर वृन्दावनजी लिखते हैं -

(षट्पद)

जब यह प्रनवत जीव, दयादिक शुभपयोगमय ।

अथवा अशुभ स्वभाव गहत, जहँ विषय-भोगलय ॥

किंवा शुद्धपयोगमयी, जहँ सुधा बहावत ।

जुत परिनामिक भाव, नाम तहँ तैसो पावत ॥

जिमि सेत फटिक वश झांक के, झांक वृन्द रंगत गहत ।

तजि झांक झांक जब झांकियत, तब अटांक सदपद महत ॥३१॥

जब यह आत्मा दयादिकरूप शुभोपयोगमय अथवा विषयभोग में लीन होकर अशुभोपयोगमय परिणमित होता है अथवा पारिणामिकभाव के आश्रय से झरते हुए आनन्दामृत से युक्त शुद्धोपयोगमय परिणमित होता है; तब अपने परिणमन के अनुसार शुभ, अशुभ या शुद्ध नाम पाता है ।

तात्पर्य यह है कि शुभोपयोगमय परिणमित आत्मा शुभ है, अशुभो-पयोगमय परिणत आत्मा अशुभ है और शुद्धोपयोगमय परिणमित आत्मा शुद्ध है ।

यह सब उसीप्रकार होता है कि जिसप्रकार निर्मल स्फटिकमणि झांक के संयोग से रंगत को ग्रहण करता है और झांक के बिना निर्मल स्वभावरूप ही रहता है ।

यद्यपि तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन इस गाथा का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका के समान ही करते हैं; तथापि किंच लिखकर किस गुणस्थान में मुख्यरूप से कौन-सा उपयोग होता है - इस बात का भी उल्लेख कर देते हैं । वह मूलतः इसप्रकार है -

“मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र - इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से (घटता हुआ) अशुभोपयोग; इसके बाद असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत - इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से (बढ़ता हुआ) शुभोपयोग; इसके आगे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीणकषाय पर्यन्त

छह गुणस्थानों में तारतम्य से (बढ़ता हुआ) शुद्धोपयोग, इसके बाद सयोगीजिन और अयोगीजिन - ये दो गुणस्थान शुद्धोपयोग के फल हैं - यह भाव है ।”

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ चारित्र क्या है - यह बात चलती है । चारित्र आत्मा का मोह-क्षोभरहित परिणाम है । शुभ अथवा अशुभरागभाव से जब आत्मा परिणमित होता है, तब वह स्वयं शुभ अथवा अशुभ होता है ।

आत्मा स्वयं परिणाम स्वभाववाला होने से उस समय वह शुभ अथवा अशुभरूप होता है; किन्तु पर के कारण वह शुभ अथवा अशुभरूप नहीं होता । जब हिंसादि पापभावरूप से परिणमित होता है, तब वह स्वयं अपने परिणाम स्वभाव के कारण अशुभरूप परिणमित होता है और जब वह दया आदि शुभभावरूप से परिणमित होता है, तब स्वयं अपने परिणाम स्वभाव से ही शुभरूप होता है; किन्तु बाहर की क्रिया के कारण वह शुभ-अशुभरूप परिणमित नहीं होता ।

शुभ परिणामरूप से परिणमित आत्मा भी धर्म नहीं है; धर्म परिणाम तो मोहादि रहित शुद्ध है ।^१

शुभ, अशुभ और शुद्ध ये तीन प्रकार के परिणाम हैं । उसमें शुभ अथवा अशुभ - दोनों ही परिणाम धर्म नहीं, किन्तु राग है । धर्म तो शुभाशुभ मोह-क्षोभ रहित शुद्ध परिणाम है ।^२

जिसप्रकार स्फटिक मणि रंग के निमित्त के संबंध रहित अकेले शुद्धरूप परिणमित होता है; उसीप्रकार आत्मा निर्मल स्वभाव का भान करके, निमित्त के अवलम्बन रहित, पुण्य-व्यवहार के परिणाम के अवलम्बन रहित, अकेले निश्चय एक ज्ञातापने में परिणमित होता है । आत्मा शुद्ध परिणाम को धारण करता है - इसलिए शुद्ध है ।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-७०

२. वही, पृष्ठ-७२

आत्मा स्वभाव से शुद्ध ही है, अशुद्ध नहीं। अशुद्धता तो क्षणिक पर्याय में है। स्वयं चूककर पर के अवलम्बन से नया अशुद्ध परिणामन करता है।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा में यही बताया गया है कि द्रव्य और पर्याय अभिन्न ही हैं; क्योंकि द्रव्य और पर्याय में क्षणिकतादात्म्य संबंध है।

द्रव्य और पर्याय में तादात्म्य संबंध होने से यहाँ प्रतिपादित द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता की बात निश्चयनय का कथन है। यह कथन तो व्यवहार का है – ऐसा कहकर उक्त कथन की उपेक्षा करना उचित नहीं है।

विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ जिस आत्मा की बात चल रही है; वह आत्मा दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा नहीं है; अपितु वर्तमान पर्याय से परिणामित आत्मा की है; क्योंकि जब दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा की बात चलती है, तब द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता की बात मुख्य रहती है।

दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्य, अनादि-अनन्त-त्रिकाली ध्रुव नित्य, असंख्यातप्रदेशी-अभेद एवं अनंतगुणात्मक-अखण्ड, एक कहा गया है।

इसमें जिसप्रकार सामान्य कहकर द्रव्य को अखण्ड रखा गया है, असंख्यातप्रदेशी-अभेद कहकर क्षेत्र को अखण्ड रखा गया है और अनंत-गुणात्मक अखण्ड कहकर भाव को अखण्ड रखा गया है; उसीप्रकार अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव नित्य कहकर काल को भी अखण्डित रखा गया है। अन्त में एक कहकर सभीप्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है।

इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीध्रुव द्रव्य में स्वकाल का निषेध नहीं किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है।

– दृष्टि का विषय, पृष्ठ-७९

प्रवचनसार गाथा-१०

सातवीं गाथा में कहा गया था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्य है, चारित्र है, धर्म है। आठवीं गाथा में कहा गया कि धर्म से परिणामित आत्मा ही धर्म है और नौवीं गाथा में कहा गया कि आत्मा परिणामस्वभावी है।

इसी क्रम में दशवीं गाथा में अब यह कहा जा रहा है कि परिणाम वस्तु का स्वभाव है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।

दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तिणिव्वत्तो ॥१०॥

(हरिगीत)

परिणाम बिन ना अर्थ है अर अर्थ बिन परिणाम ना ।

अस्तित्वमय यह अर्थ है बस द्रव्यगुणपर्यायमय ॥१०॥

इस लोक में परिणाम के बिना पदार्थ नहीं है और पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है; पदार्थ द्रव्य-गुण-पर्याय में रहनेवाला और अस्तित्व से निर्मित है।

विशेषकर दृष्टि के विषय के सन्दर्भ में अध्यात्म के जोर में आत्मवस्तु को पर्याय (परिणाम) से भिन्न बताया जाता है; किन्तु यहाँ जोर देकर यह बताया जा रहा है कि परिणाम वस्तु से अभिन्न होता है।

परिणामन को आत्मा से सर्वथा भिन्न मानने पर आत्मा एकान्त से नित्य सिद्ध होगा और सर्वथा अभिन्न मानने पर एकान्त से अनित्य सिद्ध होगा। इसप्रकार या तो नित्यैकान्त का प्रसंग आयेगा या फिर अनित्यैकान्त का प्रसंग आयेगा।

इसी आशंका को दूर करने के लिए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में

इस गाथा की उत्थानिका में लिखते हैं कि नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त (क्षणिकैकान्त) के निषेध के लिए यह बताते हैं कि परिणाम और परिणामी में कथंचित् अभेद है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि परिणाम और परिणामी द्रव्य में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद होता है।

जब दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा की बात चलती है, तब दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को परिणाम अर्थात् पर्याय से भिन्न बताया जाता है; किन्तु जब धर्मात्मा, पुण्यात्मा या पापात्मा की बात चलती है, तब आत्मा को वर्तमान पर्याय से तन्मय बताया जाता है। यहाँ वर्तमान पर्याय से तन्मय आत्मा की बात चल रही है; अतः यहाँ द्रव्य और पर्याय के अभेद की मुख्यता है।

उक्त गाथा का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार किया गया है -

“परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व को धारण नहीं करती; क्योंकि वस्तु द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के द्वारा परिणाम से भिन्न देखने में नहीं आती; क्योंकि परिणाम से रहित वस्तु गधे के सींग के समान है, उसका दिखाई देनेवाले गोरस (दूध-दही आदि) इत्यादि के परिणामों के साथ विरोध आता है।

इसीप्रकार वस्तु के बिना परिणाम भी अस्तित्व को धारण नहीं करता; क्योंकि स्वाश्रयभूत वस्तु के अभाव में निराश्रय परिणाम को शून्यता का प्रसंग आता है।

वस्तु तो ऊर्ध्वतासामान्यस्वरूप द्रव्य में, सहभावी विशेषस्वरूप गुणों में तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायों में रही हुई और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्व से बनी हुई है; इसलिए परिणामस्वभावी है।”

जो व्यक्ति अध्यात्म के जोर में वस्तु को पर्याय से सर्वथा भिन्न मानना चाहते हैं, उन्हें आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन पर विशेष ध्यान देना

चाहिए। यहाँ अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जिसप्रकार गधे के शिर पर सींग का अस्तित्व ही नहीं होता; उसीप्रकार पर्याय के बिना भी वस्तु का अस्तित्व संभव नहीं है। अरे भाई! परिणामन वस्तु का सहज स्वभाव है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथा के भाव को सिद्धों पर घटित करके समझाते हैं। वे लिखते हैं कि सिद्धपर्यायरूप शुद्धपरिणाम के बिना शुद्धजीवपदार्थ नहीं है; क्योंकि संज्ञा, लक्षण और प्रयोजनादि के भेद होने पर भी सिद्धपर्याय और शुद्धजीव में प्रदेशभेद का अभाव है।

इसीप्रकार शुद्धजीव के बिना सिद्धपर्यायरूप शुद्ध परिणाम भी नहीं हो सकता; क्योंकि संज्ञादि संबंधी भेद होने पर भी उनमें परस्पर प्रदेशभेद नहीं है।

ध्यान रहे यहाँ परिणाम और परिणामी के अभेद पर ही जोर दिया गया है।

गाथा और उसकी टीका के भावों को अपने में समाहित करते हुए कविवर वृन्दावनदासजी उक्त तथ्य पर चार छन्दों में विस्तार से प्रकाश डालते हैं; जो मूलतः इसप्रकार हैं -

(सोरठा)

दरबन बिन परिणाम परनति दरब बिना नहीं ।

दरब गुनपरजधाम सहित अस्ति जिनवर कही ॥३२॥

द्रव्य के बिना परिणाम और परिणाम के बिना द्रव्य नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान ने द्रव्य का अस्तित्व गुण-पर्याय का धाम कहा है।

(मनहरण)

केई मूढ़मती कहें द्रव्य में न गुन होत,

द्रव्य और गुन को न्यारो न्यारो थान है ।

गुन के गहन तैं कहावै द्रव्य गुनी नाम,

जैसे दंड धारै तब दंडी परधान है ॥

तासों स्यादवादी कहै यह तो विरोध बात,
 बिना गुण द्रव्य जैसे खर को विषान है ।
 बिन परिनाम तैनें द्रव्य पहिचाने कैसे,
 परिनामहू को कहा थान विद्यमान है ॥३३॥

कोई मूर्ख कहता है कि द्रव्य में गुण नहीं होते, द्रव्य और गुणों का स्थान अलग-अलग है। जिसप्रकार डंडे को धारण करनेवाला डंडी (डंडेवाला) कहलाता है; उसीप्रकार गुणों को ग्रहण करने से द्रव्य गुणी कहा जाता है। उससे स्याद्वादी कहते हैं कि यह तो वस्तुस्वरूप के विरुद्ध बात है; क्योंकि गुणों के बिना तो द्रव्य गंधे के सींग के समान अस्तित्वविहीन होगा। अरे भाई ! बिना परिणामों के द्रव्य को तूने पहिचाना ही कैसे और द्रव्य के बिना परिणामों का और कौन-सा स्थान है ?

देखो एक गोरस त्रिविध परिनाम धरै,
 दूध दधि घृत में ही ताको विस्तार है ।
 तैसे ही दरब परिनाम बिना रहै नाहिं,
 परिनामहू को वृन्द दरब अधार है ॥
 गुनपरजायवन्त द्रव्य भगवन्त कही,
 सुभाव सुभावी ऐसे गही गनधार है ।
 जैसे हेम द्रव्य गुन गौरव सुपीततादि,
 परजाय कुण्डलादिमई निरधार है ॥३४॥

इस बात पर ध्यान दो कि एक गोरस दूध, दही और घी - इन तीनों परिणामों को धारण किए हैं और उसका विस्तार इन तीनों में ही है। जिसप्रकार परिणाम के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं है; वृन्दावन कवि कहते हैं कि उसीप्रकार परिणाम का आधार द्रव्य है। जिसप्रकार सोना द्रव्य है, पीलापान आदि उसके गुण हैं और कुण्डलादि उसकी पर्यायें हैं - इसप्रकार द्रव्य गुण-पर्यायवान है - यह बात भगवान ने कही है और गणधरदेव ने स्वभाव-स्वभावी का स्वरूप इसीप्रकार ग्रहण किया है।

जैसे जो दरब ताको तैसो परिनाम होत,
 देखो भेदज्ञानसों न परौ दौर धूप में ।
 तातैं जब आतमा प्रनवै शुभ वा अशुभ,
 अथवा विशुद्धभाव सहज स्वरूप में ॥
 तहाँ तिन भावनिसों तदाकार होत तब,
 व्याप्य अरु व्यापक को यही धर्म रूप में ।
 कुन्दकुन्द स्वामी के वचन वृन्द इन्दु से हैं,
 धरा उर वृन्द तो न परौ भवकूप में ॥३५॥

अरे भाई ! और दौड़-धूप में पड़े बिना भेदविज्ञान से यह निर्णय कर लो कि द्रव्य जैसा होता है, उसका परिणाम भी वैसा ही होता है। इसलिए जब यह आत्मा शुभ या अशुभ अथवा सहज शुद्धभावरूप स्वरूप में परिणमित होता है; तब वह उन भावों से तदाकार होता है, तन्मय होता है; क्योंकि व्याप्य और व्यापकभावों का यही स्वभाव है।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि हे भाई ! यदि कुन्दकुन्दस्वामी के उक्त वचनों को हृदय में धारण करोगे तो संसार समुद्र में नहीं पड़ोगे।

उक्त छन्दों में एक बात तो यह कही गयी है कि द्रव्य, गुणों के संयोग से गुणी नहीं है; अपितु गुणस्वरूप ही है। दूसरी बात यह है कि परिणाम के बिना द्रव्य की पहिचान ही संभव नहीं है तथा आगम में वस्तु को गुण-पर्यायवान कहा है। अन्त में वे सलाह देते हैं कि तुम व्यर्थ की दौड़-धूप में क्यों पड़ते हो; बस इतना जान लो कि जो द्रव्य जैसा है, उसका परिणाम भी वैसा ही होता है - इस नियम के अनुसार शुभभाव से परिणमित आत्मा शुभ है, अशुभभाव से परिणमित आत्मा अशुभ है और शुद्धभाव से परिणमित आत्मा शुद्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द के उक्त वचनों को सच्चे दिल से स्वीकार कर लो तो संसार समुद्र से पार हो जावोगे।

उक्त सम्पूर्ण विषयवस्तु पर स्वामीजी विस्तार से इसप्रकार प्रकाश डालते हैं -

“भगवान की वाणी में यह आया कि परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व को धारण नहीं करती। प्रत्येक समय में वस्तु ध्रुव रहकर बदलती है। जगत के जितने भी पदार्थ हैं, यदि वे नित्य होने पर भी अवस्थांतरण नहीं बदलें तो अंश के बिना अंशी वस्तु ही न हो। अंश-पर्याय, अंशी-परिणामी के बिना नहीं होती और परिणामी अर्थात् अंशी-द्रव्य बिना, परिणाम नहीं होते; इसलिए निश्चित होता है कि परवस्तुओं की अवस्था को करने में कोई समर्थ नहीं है; क्योंकि सभी पदार्थ स्वयं अपने परिणाम (स्वभाव) वाले हैं। वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परिणाम से पृथक् देखने में नहीं आती।

परिणाम के बिना वस्तु गंधे के सींग के समान है।^१

गुण, गुणी के बिना नहीं होते और परिणाम, परिणामी के बिना नहीं होते अर्थात् वे पृथक् नहीं होते; किन्तु वस्तु स्वयं ही ज्ञान-अज्ञान, राग-अराग, सुख अथवा दुःखरूप परिणमित होती है। किसी के परिणाम, किसी दूसरे के कारण से नहीं होते। भगवान के कारण तेरे परिणाम नहीं हुए हैं। इसीप्रकार किसी की कृपा अथवा आशीर्वाद से किसी के परिणाम नहीं होते। वस्तु त्रिकाली है, किन्तु उसके परिणाम, एक समय में एक होता है। एक ही परिणाम सदा कायम नहीं रहता, किन्तु परिणाम बिना कभी वस्तु नहीं होती।^२

प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक पुद्गल परमाणु स्वयं अपने परिणामों से अभेद और पर से पृथक्पने परिणामन करता है। प्रत्येक के वर्तमान परिणाम उन्हीं के त्रिकाली परिणामी द्रव्य के आधार से होते हैं, उसके बिना नहीं होते - ऐसा जानकर, स्वद्रव्य अनन्तशक्ति का पिण्ड है, उसके सामने देखे तो

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-८१

२. वही, पृष्ठ-८२

निर्मल पर्याय का आधार, स्वयं का आत्मा है और वह स्वयं ही है; अतः अब, पर की ओर देखने की जरूरत नहीं रही।

गंधे के सींग की अवस्था नहीं है तो सींग भी नहीं है। गोरस हो और दूध, दही आदि कोई भी परिणाम न हो - ऐसा कभी नहीं होता। इसप्रकार पदार्थ के बिना परिणाम अस्तित्व को धारण नहीं करता। इसलिए जो वस्तु है वह परिणाम सहित होने से, स्वाश्रित परिणाम रहित वस्तु नहीं होती। मिथ्यात्व भ्रान्ति के परिणाम आत्मा के बिना नहीं होते। आत्मा न हो तो भ्रान्ति परिणाम का आधार जो आत्मा है, उसके बिना भ्रान्ति कौन करे? जड़कर्म तो निमित्तमात्र है। निमित्त है इसलिए जीव में भ्रान्ति हुई है - ऐसा यहाँ नहीं कहा, किन्तु जीव है इसलिए उसकी विभाव की योग्यता से विभाव हुआ है - यह कहा है।^१

अवस्था के बिना, वस्तु नहीं होती और वस्तु के बिना परिणाम नहीं होते। इन दोनों बातों को इस तरह बराबर समझे तो - उसने तीर्थकर भगवान की वाणी का सार समझ लिया है। सर्वत्र सदा इन दोनों बातों का निश्चय रखकर वस्तु को देखे तो सच्चा समाधान और स्वसन्मुख ज्ञाता रहनेरूप धर्म हो।

आत्मा, परमाणु इत्यादि छहद्रव्यरूप वस्तु परिणामस्वभावी है, अनादि-अनन्त है। वस्तु तो ऊर्ध्वतासामान्यस्वरूप द्रव्य में, सहभावी विशेषस्वरूप गुणों में और क्रमभावी विशेषरूप पर्यायों में रहती हुई, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्व से अनादिसिद्ध है; इसलिए वस्तु परिणाम स्वभाववाली अनादि-अनन्त है, इसलिए उसे कोई बनानेवाला-रचना करनेवाला नहीं है।

ऊर्ध्वता अर्थात् काल की अपेक्षा से ऊँचाई। त्रिकाली प्रवाहरूप परिणाम, उसका सामान्यपना वह द्रव्य है, उसमें साथ में रहनेवाले अनन्त

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-८३

गुण जो एक समय में हैं और उन समस्त गुणों की क्रमभावी पर्यायें एक समय में एक होती हैं। परिणाम अर्थात् पर्यायें। गुण में से नयी-नयी पर्यायें क्रमसर-क्रमबद्ध हुआ करती हैं। इसप्रकार ऊर्ध्वता-सामान्यरूप द्रव्य में, नित्यतादात्म्यरूप सहभावी गुणों में और उनकी क्रमभावी अनित्य-तादात्म्यरूप पर्यायों में वस्तु रहती है।^१

छहों द्रव्यों को वस्तु कहा जाता है। एक-एक परमाणु भी वस्तु है, वे भी उनके द्रव्य-गुण-पर्याय में रहते हैं। परवस्तु के कारण किसी द्रव्य की पर्याय होती हो - ऐसा नहीं है। द्रव्य-गुण एकरूप-एकसाथ त्रिकाल रहते हैं और उत्पाद-व्ययरूप पर्याय एक गुण की एक पर्यायपने रहती है और वह क्रमबद्ध बदलती है।

वस्तु सामान्य द्रव्य-गुणरूप से त्रिकाल है। वर्तमान परिणाम नया उत्पन्न होता है, बदलता है; इसतरह वस्तु स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्व से सिद्ध है, उसकी सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में समा जाती है; जो बाहर में किसी अन्य के साथ संबंध नहीं रखती; इसलिए वस्तु परिणामस्वभाववाली ही है।

वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है। वह अपने अस्तित्व से बनी हुई है; इसका अर्थ यह है कि कोई नई वस्तु नहीं बनी है वह तो अनादि से है। द्रव्य तो सत् है, किन्तु उसकी अनादि-अनन्त पर्याय हैं, उनकी प्रत्येक समय की पर्यायें भी सत् हैं, जिसे कोई अन्य द्रव्यादि रचना करनेवाला नहीं है।^२

इसप्रकार प्रत्येक वस्तु, अपने परिणामस्वभावी होने से अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रहकर, अपने परिणाम को करती है; किन्तु वह, स्वयं से भिन्न परद्रव्य के परिणाम को करने में समर्थ नहीं है - ऐसा भेदज्ञान वह वीतरागी-विज्ञान है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-८४

२. वही, पृष्ठ-८५

आत्मा के भान सहित और रागरहित, शुद्ध परिणाम का होना वह धर्म है; और यही आत्मा का चारित्र है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना स्वरूप में स्थिरता-शान्तिरूप परिणाम नहीं होता और उसरूप आतमा ही परिणामित होता है। परिणाम, परिणामी वस्तु बिना नहीं होते। अहो ! यह सिद्धान्त समझे तो यथार्थ स्वतंत्र वस्तुस्वरूप का निर्णय हो और वही आत्मा सुखरूप-धर्मरूप परिणामित होता है।

परिणाम अर्थात् वस्तु का जो कार्य है, उससे वस्तु पृथक् नहीं है। वस्तु त्रिकाली तो हो और उसकी वर्तमान अवस्था न हो - ऐसा कभी नहीं होता। वर्तमान परिणाम कार्य है, उसका कारण वह द्रव्य है, किन्तु कोई परवस्तु उसका कारण नहीं है। परद्रव्य को कारण कहना - यह व्यवहार का कथन है।^१

इसप्रकार परिणाम, वस्तु के बिना नहीं होते। मिथ्यात्व, राग, दया, - दानरूप परिणाम अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम आत्मा के बिना नहीं होते। परिणामी बिना परिणाम नहीं और परिणाम (परिणामन) बिना परिणामी वस्तु नहीं होती। इसतरह शुद्ध अथवा अशुद्ध परिणाम, वह वस्तु का परिणाम है। आत्मा बिना परिणामन नहीं होता। इसलिए निश्चित होता है कि परवस्तु बिना परिणाम होता है; किन्तु स्ववस्तु के बिना परिणाम नहीं होता।^२

वस्तु तो द्रव्य-गुण-पर्यायमय है, वहाँ त्रिकाली ऊर्ध्वप्रवाहसामान्य वह द्रव्य है, द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में व्यापक नित्यतादात्म्यपने साथ रहनेवाली शक्तियाँ गुण हैं और क्रम-क्रम से होनेवाले भेद पर्यायें हैं। ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता के बिना वस्तु नहीं होती।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-८५-८६

२. वही, पृष्ठ-८६

इसप्रकार वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायमय होने से वही उत्पन्न होती है, उसी का विनाश होता है और वही ध्रौव्य रहती है; इसी से उसमें क्रिया (परिणाम) हुआ ही करती है। इसलिए शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणाम आत्मवस्तु का स्वभाव ही है।

पुण्य-पाप कषाय और घोर हिंसारूप पाप के परिणाम, वे आत्मा के परिणाम होने से वस्तु का स्वभाव है, उसे जड़कर्म परिणामन करानेवाला नहीं है। जीव ही तीन प्रकार के परिणाम करता है; अन्य तो निमित्त मात्र हैं।^१”

स्वामीजी के उक्त उद्धरणों पर गहराई से दृष्टि डालने पर एक बात हाथ पर रखे आंखों के समान स्पष्ट हो जाती है कि पर और पर्याय से भिन्न, दृष्टि के विषयभूत, भगवान आत्मा का स्वरूप डंके की चोट इस युग में प्रस्तुत करनेवाले आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी भी इस प्रकरण पर व्याख्यान करते समय अत्यन्त जोर देकर कहते हैं कि गुण, गुणी के बिना नहीं होते; परिणाम, परिणामी के बिना नहीं होते अर्थात् गुण-गुणी और परिणाम-परिणामी पृथक्-पृथक् नहीं होते, अभिन्न ही होते हैं।

गधे के सींग की अवस्था नहीं है तो सींग भी नहीं है। गोरस हो और दूध, दही आदि कोई परिणाम न हो - ऐसा कभी नहीं होता।

वे तो यहाँ तक लिखते हैं कि अवस्था के बिना वस्तु नहीं होती और वस्तु के बिना परिणाम नहीं होते। इन दोनों बातों को जो बराबर समझे उसने तीर्थंकर भगवान की वाणी के सार को समझ लिया। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-८७

अपने को नहीं पहचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है।

- तीर्थ. महा. और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-८४

प्रवचनसार गाथा-११

विगत गाथा में यह कहा था कि पर्याय के बिना पदार्थ नहीं होता और पदार्थ के बिना पर्याय नहीं होती।

अब इस ११ वीं गाथा में यह कहा जा रहा है कि शुद्धोपयोगरूप पर्याय से परिणमित आत्मा मुक्ति प्राप्त करते हैं और शुभोपयोगरूप पर्याय से परिणमित आत्मा स्वर्गादि को प्राप्त करते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है -

धम्मणेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।

पावदि णिच्चाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ॥११॥

(हरिगीत)

प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आत्मा ।

पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आत्मा ॥११॥

धर्मरूप परिणमित आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त हो तो मोक्षसुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग से युक्त हो तो स्वर्गसुख को प्राप्त करता है।

उक्त गाथा की उत्थानिका में आचार्य जयसेन तो मात्र इतना ही लिखते हैं कि वीतराग और सराग चारित्र है नाम जिनका - ऐसे शुद्धोपयोग और शुभोपयोग का फल बताते हैं; किन्तु आचार्य अमृतचन्द्र शुभोपयोग के त्याग के लिए और शुद्धोपयोग के ग्रहण के लिए उनके फल के संबंध में गंभीरता से विचार करते हैं - ऐसा लिखते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र अपने उक्त अभिप्राय को टीका में विस्तार से स्पष्ट करते हैं; जो मूलतः इसप्रकार है -

“जब यह धर्मपरिणत स्वभाववाला आत्मा शुद्धोपयोग परिणति को धारण करता है, तब विरोधी शक्ति से रहित होने के कारण अपना

कार्य करने में समर्थ चारित्रवान होने से साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है और जब धर्मपरिणत स्वभाववाला होने पर भी शुभोपयोग परिणति से युक्त होता है, तब विरोधी शक्ति सहित होने से स्वकार्य करने में असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाले चारित्र से युक्त होने से अग्नि से गर्म किये गये घी को किसी मनुष्य पर डाल देने पर जिसप्रकार वह मनुष्य उसकी जलन से दुःखी होता है; उसीप्रकार आत्मा भी स्वर्गसुख के बंध को प्राप्त होता है।

इसलिए शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।”

देखो, यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव शुभोपयोग को बंध का कारण, हेय, विरोधी शक्ति सहित, आत्महित का कार्य करने में असमर्थ और मुक्तिमार्ग में कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला बता रहे हैं।

शुभराग को धर्म मानने वालों को आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन पर गंभीरता से विचार करना चाहिए।

आचार्य जयसेन इस गाथा का अर्थ मूलतः तो आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार ही करते हैं; तथापि धर्म की चर्चा करते हुए गृहस्थधर्म-मुनिधर्म, उत्तमक्षमादि दश धर्म, रत्नत्रयधर्म की भी चर्चा करते हैं।

इसीप्रकार चारित्र के अपहृत संयम-उपेक्षा संयम अथवा सराग संयम-वीतराग संयम और शुभोपयोग और शुद्धोपयोग - ऐसे भेद भी करते हैं।

गाथा और टीका का भाव कविवर वृन्दावनदासजी ३ छन्दों में इसप्रकार समेटते हैं -

(मत्तगयन्द)

धर्म सरूप जबै प्रनवै यह, आतम आप अध्यातम ध्याता ।

शुद्धोपयोग दशा गहि कै, सु लहै निरवान सुखामृत ख्याता ॥

होत जबै शुभरूपपयोग, तबै सुरगादि विभौ मिलि जाता ।

आपहि है अपने परिनामनि को फल भोगनहार विधाता ॥३६ ॥

आत्मज्ञानी आत्मध्यानी आत्मा जब धर्मस्वरूप परिणमित होते हैं;

तब शुद्धोपयोगदशा को प्राप्त करके निर्वाण सुख को प्राप्त करते हैं और जब शुभोपयोगरूप परिणमित होते हैं; तब सहजभाव से स्वर्गादिक वैभव की प्राप्ति हो जाती है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा अपने परिणामों का स्वयं भोगता है।

(मोतीदाम)

जबै जिय धारत चारित शुद्ध । तबै पद पावत सिद्ध विशुद्ध ।

सराग चरित् धरै जब चित्त, लहे सुरगादि विषै वर वित्त ॥३७॥

जब जीव शुद्धचारित्र अर्थात् शुद्धोपयोगरूप चारित्र को धारण करता है; तब परमपवित्र विशुद्ध सिद्धपद प्राप्त करता है और जब सरागचारित्र धारण करता है, तब स्वर्गादि में होनेवाले विषयसुख को प्राप्त करता है।

(दोहा)

तातैं शुद्धोपयोग के जे सम्मुख हैं जीव ।

तिनको शुभ चारित्र महँ रमनो नाहिं सदीव ॥३८॥

इसलिए जो जीव शुद्धोपयोग के सम्मुख है; उन्हें शुभोपयोगरूप चारित्र में कभी भी रमण नहीं करना चाहिए।

उक्त गाथा पर प्रकाश डालते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी कहते हैं -

“जब यह आत्मा संयोग और विभाव की दृष्टि-रुचि छोड़कर, स्वद्रव्य के आलम्बनरूप शुद्ध परिणामवाला हुआ है; तब वह आत्मा, वस्तु के स्वभावरूप निश्चल रत्नत्रयरूप से परिणत हुआ है।” मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ - इसप्रकार विचार कर उसके आश्रय से निर्मल वीतरागी परिणामरूप - आंशिक धर्मरूप से वर्तता है। इसतरह स्वयं अपने आलम्बन से वीतरागी शुद्धोपयोग परिणति को वहन करता है, बनाए रखता है, अन्दर एकाग्र-स्थिर होता है।

शुद्धोपयोग अबंध स्वभावी होने से, विरोधी (शुभाशुभराग) शक्ति

रहित होने के कारण, अपने निर्विकाररूप मोक्ष का साक्षात् कारण होने से, अपना कार्य करने में समर्थ है – ऐसे चारित्रवाला होने से वह साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता ही है।^१

जो शुभराग ज्ञानी मुनि को भी बाधक है, बन्ध का कारण है; उसे कुछ लोग धर्म कहते हैं, हितकर कहते हैं; किन्तु आचार्यदेव तो मुनिदशा के शुभ उपयोग को, व्यवहाररत्नत्रय के शुभभाव को भी चारित्रधर्म से विरुद्ध शक्तिवाला, धर्मकार्य कराने के लिए असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला कहते हैं।^२

साधकदशा में आंशिक निश्चयरत्नत्रयरूप अभेदरत्नत्रयवान मुनि को, आंशिक सराग और आंशिक वीतरागरूप चारित्र होने से – ऐसे चारित्रवाले मुनिराज शुभभाव में ऐसा अनुभव करते हैं जैसे अग्नि से गरम किया हुआ घी किसी के ऊपर डाला जावे तो वह पुरुष दाह्य दुःख को ही प्राप्त होता है। मुनि को शुभरागरूप अर्थात् व्यवहारचारित्ररूप जितना शुभोपयोग है, उसके फल में वे स्वर्ग के आकुलतामय सुख के बन्ध को ही प्राप्त होते हैं।

देखो, आचार्य स्वयं भावलिंगी मुनि हैं, उन्हें शुभराग भी है, जिसके फल में स्वर्ग है – ऐसा वे जानते हैं; फिर भी भव और भव के कारण का वर्तमान से ही निषेध करते हैं।

पाँच महाव्रत, छह आवश्यक आदि अट्टाईस मूलगुण के शुभभाव मुनिदशा में होते हैं, किन्तु उससे विरुद्ध जाति का राग मुनिदशा में नहीं होता; फिर भी वह शुभराग उबलते हुए गर्म घी के छींटे जैसा दुःखरूप, बंधन का कारण है और बंधन ही उसका फल है।

इसलिए एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है और शुभोपयोग हेय है –

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-८९

२. वही, पृष्ठ-८९

३. वही, पृष्ठ-८९-९०

ऐसा प्रसिद्ध करते हैं।^३”

उक्त सम्पूर्ण प्रतिपादन का सार यही है कि साक्षात् मुक्ति का मार्ग तो एकमात्र शुद्धोपयोग या शुद्धपरिणतिरूप वीतरागचारित्र ही है, शुभोपयोग या शुभभावरूप सरागचारित्र नहीं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि ऐसा है तो छठवें गुणस्थानवर्ती शुभोपयोगी मुनिराज क्या मुक्तिमार्गी नहीं है, क्या वे धर्मात्मा नहीं हैं ? यदि वे धर्मात्मा हैं, मुक्तिमार्गी हैं तो फिर शुभोपयोग को भी धर्म मानना होगा, मुक्ति का मार्ग मानना होगा।

अरे भाई! छठवें गुणस्थानवाले मुनिराज शुभोपयोग के कारण धर्मात्मा नहीं है, अपितु तीन (अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण) कषाय के अभाव से उत्पन्न वीतरागभावरूप शुद्धपरिणति के कारण धर्मात्मा है, मुक्तिमार्गी हैं।

यद्यपि व्यवहार से शुभोपयोग या सरागचारित्र को भी धर्म कहा जाता है, मुक्तिमार्ग कहा जाता है; अतः व्यवहार से उन्हें धर्मात्मा भी कहा ही जाता है, मुक्तिमार्गी कहा जाता है; तथापि निश्चय से तो वीतरागभाव ही

धर्म है, वीतरागभाव ही मुक्ति का मार्ग है।^३ ही आत्मा की खोज का पुरुषार्थ प्रारंभ होता है। यदि गुरुओं का संरक्षण न मिले तो यह आत्मा कुगुरुओं के चक्कर में फंसकर जीवन बर्बाद कर सकता है तथा यदि गुरुओं का सही दिशा-निर्देश न मिले तो अप्रयोजनभूत बातों में ही जीवन बर्बाद हो जाता है। अतः आत्मोपलब्धि में गुरुओं के संरक्षण एवं मार्गदर्शन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। गुरुजी अपना कार्य (आत्मोन्मुखी उपयोग) छोड़कर शिष्य का संरक्षण और मार्गदर्शन करते हैं; उसके बदले में उन्हें श्रेय के अतिरिक्त मिलता ही क्या है ? आत्मोपलब्धि करनेवाले को तो आत्मा मिल गया, पर गुरुओं को समय की बर्बादी के अतिरिक्त क्या मिला ? फिर भी हम उन्हें श्रेय भी न देना चाहें – यह तो न्याय नहीं है। अतः निमित्तरूप में श्रेय तो गुरुओं को ही मिलता है, मिलना भी चाहिए, उपादान-निमित्त की यही संधि है, यही सुमेल है।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ १६७

प्रवचनसार गाथा-१२

११ वीं गाथा में शुद्धोपयोग और शुभोपयोग के फल की चर्चा करने के उपरान्त अब १२ वीं गाथा में अशुभोपयोग के फल के संबंध में चर्चा करते हैं। मूल गाथा इसप्रकार है -

असुहोदण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।

दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिद्दुदो भमदि अच्चंतं ॥१२॥

(हरिगीत)

अशुभोपयोगी आत्मा हो नारकी तिर्यग कुनर ।

संसार में रुलता रहे अर सहस्त्रों दुख भोगता ॥१२॥

अशुभोपयोग से यह आत्मा कुनर, तिर्यच और नारकी होकर हजारों दुःखों से पीड़ित संसार में सदा ही परिभ्रमण करता रहता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जब यह आत्मा किंचित्मात्र भी धर्मपरिणति प्राप्त न करता हुआ अशुभोपयोग परिणति का अवलंबन करता है; तब वह कुमनुष्य, तिर्यच और नारकी के रूप में परिभ्रमण करता हुआ हजारों दुःखों के बंधन का अनुभव करता है; इसलिए अशुभोपयोग में चारित्र का लेशमात्र भी न होने से वह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है ।”

तात्पर्यवृत्ति में भी इस गाथा का इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया गया है ।

इस गाथा और टीका का भाव कविवर वृन्दावनदासजी अनेक छन्दों में इसप्रकार व्यक्त करते हैं ।

(माधवी)

अशुभोदय से यह आत्मराम, अनंत कलेश निरंतर पायो ।

कुमनुष्य तथा तिरजंचनि में, बहुधा नरकानल में पचि आयो ॥

नहिं पार मिल्यो परिवर्तन को, इहि भांति अनादि कुकाल गमायो ।

अब आत्म धर्म गहो सुखकन्द, जिनिंद जथा भवि वृन्द बतायो ॥३९॥

इस भगवान आत्मा ने अशुभोपयोग के कारण निरंतर अनंत दुःख प्राप्त किये हैं । कुमनुष्यों में, तिर्यचगति में और अनेकोंबार नरक की अग्नि में पच-पच कर दुःख भोगे हैं । इसप्रकार पंच परिवर्तन करते हुए संसार समुद्र का पार नहीं पाया है और यों ही अनादि से बुरे दिन देखे हैं । वृन्दावन कवि कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! अब तो जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये सुख के कन्द आत्मधर्म को ग्रहण करो ।

(दोहा)

महा दुःख को बीज है अशुभरूप परिणाम ।

याके उदय अनन्त दुख भुगते आत्मराम ॥४०॥

दारिद दुखनर नीचपद इत्यादिक फल देत ।

नारकगति तिरजंचगति याको सहज निकेत ॥४१॥

तातै तजिये सर्वथा अव्रत विषय-कषाय ।

याके उदय न बनि सकत एकौ धर्म उपाय ॥४२॥

शुभ परिनामन के विषै है विवहारिक धर्म ।

दया दान पूजादि बहु तप संयम शुभकर्म ॥४३॥

ताहि कथंचित धारिये लखिये आत्मरूप ।

शिवमग को सहकार यह यों भाखी जिनभूप ॥४४॥

अशुभभाव महादुख के बीज हैं । इन अशुभ परिणामों के उदय में आत्मा ने अनंत दुःख भोगे हैं ।

इन अशुभभावों ने मनुष्यगति में दरिद्रता और नीचपद प्राप्ति आदि फल दिये हैं और नरकगति व तिर्यचगति तो इन अशुभ परिणामों के सहज आवास ही हैं ।

इसलिए इन अशुभभावरूप अव्रत परिणामों और विषय-कषायभावों को सर्वथा छोड़ देना चाहिए; क्योंकि इनके रहते हुए धर्म का एक भी उपाय नहीं बन सकता है ।

दया, दान, पूजा, तप, संयम आदि शुभकर्मों के करनेरूप शुभभावों

को व्यवहारधर्म कहा जाता है। आत्मानुभवी जीव के द्वारा इन्हें धारण करना भी मुक्ति के मार्ग में कथंचित् (किसी अपेक्षा) सहकारी हैं – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“जब यह आत्मा किंचित्मात्र भी धर्म परिणति को प्राप्त नहीं करता हुआ, कुदेवादी को मानता है, संसार के तीव्र अभिमान में लीन रहता है, ‘मैं पर का काम कर सकता हूँ, पुण्य-पाप करने योग्य हैं, पुण्य से धर्म का लाभ होता है’ – ऐसे मिथ्यात्वरूप अशुभ उपयोगरूप परिणति का अवलम्बन लेता है; किन्तु मिथ्यादृष्टि छोड़कर, स्वयं शुद्ध चैतन्य अतीन्द्रिय आनन्द-कन्द है, उसका अवलम्बन नहीं लेता; तब विपरीत अभिप्राय रूप मिथ्यात्व का जोर होने से, उसके फल में वह जीव कुमनुष्य, तिर्यच, निगोद, एकेन्द्रिय आदि में उत्पन्न होता है और नरक में भी उत्पन्न होता है।

स्वयं अविनाशी अनन्त गुणों की समाजवाला, महिमावंत प्रभु है; उसकी अरुचिवाले ने अनन्त गुणों की शुद्धता का तीव्र विरोध किया है, जिससे वह उसके फल में, अनन्त प्रतिकूलता के वेदन के स्थान में जाता है। जहाँ उसे निरंतर अरति कषाय के कारण मिलते हैं और स्वयं भी तीव्र आकुलता वेदन करने की योग्यता किया करता है। इसतरह वह अज्ञान द्वारा श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द की विपरीतदशा के फल में, संसार परिभ्रमणरूप हजारों दुःख के बन्ध को अनुभवता है। इसमें शान्तिमय चारित्र लेशमात्र भी नहीं होने से यह अशुभ उपयोग अत्यन्त हेय है।^१”

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है; क्योंकि वह पापपरिणतिरूप है। वह स्वयं तो धर्मरूप है ही नहीं, उसमें रहते हुए धर्मप्राप्ति के अवसर भी नहीं हैं। अतः आत्मार्थियों को वह सर्वथा छोड़ने योग्य है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-९१-९२

शुद्धोपयोगाधिकार

(गाथा १३ से गाथा २० तक)

प्रवचनसार गाथा-१३

यह एक विचित्र सहज संयोग ही है कि समयसार की आरंभिक १२ गाथाओं में पीठिका है, जिसमें संक्षेप में सम्पूर्ण समयसार का सार आ गया है। १२ गाथाओं के बाद १३ वीं गाथा से बात विस्तार से आरंभ होती है अथवा यह भी कह सकते हैं कि १३ वीं गाथा से जीवाधिकार अथवा जीवाजीवाधिकार आरंभ होता है।

यहाँ प्रवचनसार में भी, प्रवचनसार के ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन में भी आरंभ की १२ गाथाओं में पीठिका है; जिसमें संक्षेप में सब कुछ आ गया है और उसके बाद १३ वीं गाथा से शुद्धोपयोगाधिकार आरंभ होता है।

प्रवचनसार के इस ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में चार अन्तराधिकार हैं; जो क्रमशः इसप्रकार हैं –

१. शुद्धोपयोगाधिकार, २. ज्ञानाधिकार, ३. सुखाधिकार और ४. शुभपरिणामाधिकार।

प्रवचनसार की प्रारंभिक १२ गाथाओं में से ५ गाथाओं में तो मंगलाचरण ही है; शेष सात गाथाओं में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र से स्वर्गादिक के वैभव के साथ निर्वाण की भी प्राप्ति होती है। जो चारित्र साक्षात् धर्म है और जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है; वह चारित्र मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है।

जो द्रव्य अथवा जो आत्मा जिस समय जिस परिणाम से परिणमित होता है, उस समय वह उससे तन्मय होता है। इसप्रकार शुद्धभाव से तन्मय आत्मा शुद्ध, शुभभाव से तन्मय आत्मा शुभ है और अशुभभाव से तन्मय आत्मा अशुभ है।

शुद्धोपयोग का फल सिद्धदशा की प्राप्ति है, शुभोपयोग का फल स्वर्गादिक की प्राप्ति और अशुभोपयोग का फल नरकादि गति की प्राप्ति होना है।

इसप्रकार इस ग्रन्थाधिराज की आरंभ की १२ गाथाओं में यही कहा गया कि अशुभोपयोग सर्वथा हेय है, शुभोपयोग भी बंध का कारण होने से हेय ही है; किन्तु शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण होने से परम उपादेय है। यही कारण है कि १३ वीं गाथा से शुद्धोपयोगाधिकार आरंभ करते हैं।

तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस अधिकार के आरंभ में ही आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि इस समस्त शुभोपयोगरूप और अशुभोपयोगरूप वृत्ति को निरस्त कर, तिरस्कृत कर शुद्धोपयोगवृत्ति को आत्मसात करते हुए शुद्धोपयोगाधिकार आरंभ करते हैं।

उसमें सबसे पहले इस १३ वीं गाथा में शुद्धोपयोग को प्रोत्साहन देने के लिए उससे प्राप्त होनेवाले वास्तविक सुख का स्वरूप बताते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।

अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी जीव के है अनूपम आत्मोत्थसुख ।

है नंत अतिशयवंत विषयातीत अर अविच्छिन्न है ॥१३॥

आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाले शुद्धोपयोग से सम्पन्न आत्माओं का सुख अतिशय, अनुपम, अनंत, अविच्छिन्न और विषयातीत है।

इस गाथा में समागत सुख के सभी विशेषणों को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में लिखते हैं -

“शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाला सुख अनादि संसार से कभी भी

अनुभव में नहीं आने से अपूर्व एवं परम अद्भुत आल्हादरूप होने से अतिशय है; अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने से आत्मोत्पन्न; पराश्रय से निरपेक्ष होने से अर्थात् स्पर्शादि विषयों से निरपेक्ष होने से विषयातीत; अत्यन्त विलक्षण होने से अर्थात् लौकिक सुखों से भिन्न होने से, भिन्न जाति का होने से अनुपम; अनन्त आगामी काल में कभी भी नाश को प्राप्त न होने से अनंत और बिना अन्तर के अर्थात् निरन्तर प्रवर्तमान होने से अविच्छिन्न होता है; इसलिए यह सुख सर्वथा प्रार्थनीय है, परम उपादेय है।”

इस गाथा का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन भी सभी विशेषणों की व्याख्या इसीप्रकार प्रस्तुत करते हैं।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि शुद्धोपयोग तो अरहंत अवस्था के पहले भी होता है; तथापि यहाँ शुद्धोपयोगियों से तात्पर्य शुद्धोपयोग की पूर्णता को प्राप्त अरहंत और सिद्धों से ही है।

यद्यपि गाथा और तत्त्वप्रदीपिका टीका में ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है; तथापि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस बात का स्पष्ट उल्लेख करते हैं तथा यहाँ दिये गये शुद्धोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाले सुख के विशेषणों से भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ शुद्धोपयोगियों से आशय अरहंत और सिद्धों से ही है।

कविवर वृन्दावनदासजी भी इस गाथा के भावानुवाद में अरहंत और सिद्धों का स्पष्ट उल्लेख करते हैं; जो इसप्रकार है -

(मनहरण कवित्त)

शुद्ध उपयोग सिद्ध भयो है प्रसिद्ध जिन्हें ।

ऐसो सिद्ध अरहंतन के गाययतु है ॥

आतम सुभाव तैं उपजो साहजिक सुख ।

सब तैं अधिक अनाकुल पाइयतु है ॥

अक्ष पक्ष तैं विलक्ष विषै सों रहित स्वच्छ ।

उपमा की गच्छ सों अलक्ष ध्याइयतु है ॥

निराबाध हैं अनन्त एकरस रहैं संत ।

ऐसे शिवकंत की शरन जाइयतु है ॥४५॥

शुद्धोपयोग पूर्णतः सिद्ध हुआ है जिनको - ऐसे अरहंत और सिद्ध भगवन्तों के आत्मा के स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ सर्वाधिक अनाकुल सहज सुख पाया जाता है। वह सहज सुख इन्द्रियों के सुख से विलक्षण, विषयातीत, अत्यन्त निर्मल और किसी से भी जिसकी उपमा देना या तुलना करना संभव नहीं है - ऐसा अनुपम तथा निराबाध, अनंत और एकरस होता है।

इसप्रकार का सुख जिन्हें प्राप्त है, उन मुक्तिवधू के कंत (पति) की शरण में जाते हैं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाला अतीन्द्रिय आनन्द ही वास्तविक सुख है। पाँच इन्द्रियों और मन के स्पर्शादि विषयों से प्राप्त होनेवाला सुख तो नाममात्र का सुख है।

वस्तुतः वह सुख सुख नहीं, दुःख ही है; क्योंकि वह पराधीन है, आकुलतारूप है, समय पाकर नष्ट हो जानेवाला है; अतः हेय है, छोड़ने योग्य है और शुद्धोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाला परमार्थसुख अतीन्द्रिय है, विषयातीत है, स्वाधीन है, कभी भी नष्ट नहीं होता और निरन्तर रहता है तथा अनाकुल है; अतः उपादेय है, ग्रहण करनेयोग्य है।

पर से भिन्नता का ज्ञान ही भेदविज्ञान है और पर से भिन्न निज चेतन भगवान का जानना, मानना, अनुभव करना ही आत्मानुभूति है, आत्मसाधना है, आत्मारोधना है। सम्पूर्ण जिनागम और जिन-अध्यात्म का सार इसी में समाहित है।

- दृष्टि का विषय, पृष्ठ-७९

प्रवचनसार गाथा-१४

शुद्धोपयोगाधिकार आरंभ करते हुए विगत गाथा में कहा गया है कि शुद्धोपयोगियों को प्राप्त सुख ही सच्चा सुख है और अब इस आगामी गाथा में यह बता रहे हैं कि जिनके ऐसा परमानन्द है, अनंत आनंद है; वे शुद्धोपयोगी कौन हैं और वे होते कैसे हैं ?

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।

समणो समसुहदुक्खो भणितो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

(हरिगीत)

हो वीतरागी संयमी तपयुक्त अर सूत्रार्थ विद् ।

शुद्धोपयोगी श्रमण के समभाव भवसुख-दुःख में ॥१४॥

जिन्होंने जीवादि पदार्थों और उनके प्रतिपादक सूत्रों को भलीभांति जान लिया है, जो संयम और तप से संयुक्त हैं, जो वीतराग हैं, जिन्हें सांसारिक सुख-दुःख समान हैं - ऐसे श्रमणों को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“स्व-पर के प्रतिपादक जिनसूत्रों के बल से स्वद्रव्य और परद्रव्य के विभाग के परिज्ञान में, श्रद्धान में और आचरण में समर्थ होने से जो सूत्रार्थ के जानकार हैं; छहकाय के सभी जीवों की हिंसा के विकल्प से और पाँचों इन्द्रियों की अभिलाषा के विकल्प से आत्मा को व्यावृत्त करके आत्मा के शुद्धस्वरूप में संस्थापित करने से संयमयुक्त और स्वरूप में विश्रान्त, विकल्प तरंगों से रहित तथा चैतन्य में प्रतपन होने से तपयुक्त हैं; इसप्रकार संयम और तप से युक्त हैं; सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के विपाक से

उत्पन्न मोह-राग-द्वेष भावों से भिन्नता की उत्कृष्ट भावना से निर्विकारी आत्मस्वरूप को प्रगट करने से जो विगतराग हैं अर्थात् वीतराग हैं; परमकला के अवलोकन के कारण साता-असाता वेदनीय के विपाक से उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखजनित परिणामों की विषमता का अनुभव नहीं होने से जो सांसारिकसुख और दुःखों के प्रति समानभाव रखनेवाले हैं, समसुख-दुःख हैं - ऐसे श्रमणों को शुद्धोपयोगी कहते हैं।”

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका से बंधकर ही चलते रहे हैं; तथापि इस गाथा में शुद्धोपयोगी मुनिराज के जो विशेषण दिये गये हैं; उनकी व्याख्या निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक प्रस्तुत करते हैं।

दूसरी विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि सुविदिदपयत्थसुत्तो की व्याख्या में निजशुद्धात्मा पर बल देते हुए लिखते हैं कि जो निजशुद्धात्मादि पदार्थों और उनका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रों को संशयादि रहित जानते हैं; उन्हें सुविदितपदार्थसूत्र कहते हैं।

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी एक मनहरण कवित्त और तीन दोहे - कुल चार छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(मनहरण कवित्त)

शुद्ध उपयोग जुक्त जति जे विराजत हैं ।

सुनो तासु लच्छन विचच्छन बुधारसी ॥

भलीभांति जानत यथारथ पदारथ को ।

तथा श्रुतसिंधु मथि धारत सुधारसी ॥

संजम सों मंडित तपोनिधान पंडित हैं ।

राग-दोष खंडिकें बिहंडत सुधारसी ॥

जाके सुख-दुख में न हर्ष-विषाद वृन्द ।

सोई परम धर्म धार धीर मो उधारसी ॥४६॥

हे बुद्धिमान पुरुषो ! जो मुनिराज शुद्धोपयोग से युक्त होकर विराजते

हैं, उनके विचक्षण लक्षणों को ध्यान से सुनो । वे बुद्धिमान मुनिराज शास्त्ररूपी सागर का मंथन करके उसके अमृत को धारण करते हुए सम्पूर्ण पदार्थों के स्वरूप को यथार्थरूप से भलीभांति जानते हैं ।

वे महाविद्वान तप के निधान और संयम से मंडित होते हैं और मूढ़ता को नाशकर राग-द्वेष को खण्डित करनेवाले होते हैं ।

उनके न तो सांसारिक सुख में हर्ष होता है और दुख में विषाद होता है - ऐसे मुनिराज ही परमधर्म धारक धीर-वीर होते हैं ।

(दोहा)

जो मुनि सुपरविभेद धरि करे शुद्ध सरधान ।

निजस्वरूप आचरन में गाड़ै अचल निशान ॥४७॥

सकल सूत्र सिद्धान्त को भलीभांति रस लेत ।

तप संजम साथै सुधी राग दोष तजि देत ॥४८॥

जिवन मरण विषै नहीं जाके हरष विषाद ।

शुद्धोपयोगी साधु सो रहित सकल अपवाद ॥४९॥

जो मुनिराज स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक शुद्ध श्रद्धान को धारण करते हैं और निजस्वरूप में आचरण करते हैं, लीन होते हैं; वे मुनिराज धर्मध्वज को अचल रूप से स्थापित करते हैं ।

वे मुनिराज सिद्धान्त के प्रतिपादक सम्पूर्ण सूत्रों का रस भलीभांति लेते हैं, तात्पर्य यह है कि रस ले-ले कर सिद्धान्त सूत्रों का अध्ययन करते हैं तथा वे महाबुद्धिमान मुनिराज संयम को धारण करते हैं, तप को तपते हैं और राग-द्वेष को छोड़ देते हैं ।

जिन मुनिराजों के जीवन में हर्ष और मृत्यु में विषाद नहीं होता; वे ही सम्पूर्ण अपवादों को छोड़कर शुद्धोपयोगी साधु होते हैं ।

उक्त गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ शुद्धोपयोगरूप परिणमित हुए आत्मा का स्वरूप कहते हैं ।

पुण्य-पाप से हटकर, स्वभावसन्मुख सावधानी को शुद्धोपयोग

कहते हैं, उसका फल मोक्ष है।

मुनि कैसे होते हैं ? वे शास्त्र को तथा शास्त्र में कहे हुए द्रव्यों को जानते हैं। छहकाय की हिंसा के परिणाम से रहित हुए हैं और स्वरूपविश्रान्तपने चैतन्य का प्रतपन कर रहे हैं।

सम्यक्त्व रहित व्रत-तप, शीलादि व्यवहार नाम को प्राप्त नहीं होते। ऐसे बालव्रत से जीव को लाभ नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना व्रत-तप सच्चे नहीं होते। यदि शुभरागरूप व्रत के परिणाम हो तो भी पुण्य होता है, किन्तु धर्म नहीं होता।

स्वरूपविश्रान्त निस्तरंगप्रतपनरूप तप होता है - ऐसे तप की यहाँ व्याख्या की है। रोटी न खाये वह जड़ की क्रिया है; राग की मंदता पुण्य है और स्वरूप में स्थिरता वह तप है। आत्मा पर को लानेवाला नहीं है; किन्तु देखनेवाला है। स्वभाव के भानसहित इच्छा की वृत्ति न उठे और आनन्द की कल्लोलें उठे, वह तप है - ऐसे तप सहित मुनि होते हैं।

सकल मोहनीय के विपाक से, भेद की भावना के उत्कृष्टपने द्वारा निर्विकार, आत्मस्वरूप को प्रगट किया होने से, मुनि वीतराग हैं। 'इष्ट-अनिष्ट संयोगों के समय मुनि को विषमता नहीं होती।'

तथा कैसे हैं मुनि ? आत्मा का स्वभाव जानना-देखना है, यही उनका सर्वस्व है; उनके अंतरबल के अवलोकन के कारण, सातावेदनीय तथा असातावेदनीय के विपाक से उत्पन्न होनेवाला जो सुख-दुःख है, उस सुख-दुःखजनित परिणाम की विषमता को वे अनुभव नहीं करते।^१

मुनि को बिच्छू-सर्प काटे, सिंह मारने आए, चक्रवर्ती वन्दना करे, आहार-पानी अच्छे से मिले अथवा नहीं मिले - ये सभी कर्मजनित संयोग हैं। अज्ञानी जीव मानता है कि ध्यान नहीं रखे तो बिच्छू काट

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१००-१०१

जायेगा - तो यह बात असत्य है। आत्मा की इच्छा के कारण पर में फेरफार नहीं होता; किन्तु संयोग का मिलना वह पूर्व के कर्मानुसार है। आचार्यदेव कहते हैं कि कर्म के विपाक से सुख-दुःख के संयोग मिलते हैं। सुख-दुःख के परिणाम अर्थात् हर्ष-शोक उन्हें नहीं है। सुख-दुःख की कल्पना वह तो विषमता हुई, वह मुनि को नहीं होती। यहाँ सुख-दुःख अर्थात् बाह्य संयोग की बात है।

वीरसेन स्वामी धवल में कहते हैं कि संयोगों के मिलने में वेदनीय कर्म निमित्त है, अन्य कर्म नहीं। वहाँ उन्होंने तर्क उठाया है कि वेदनीय कर्म तो जीवविपाकी है और यदि उसे संयोग के मिलने में निमित्त मानोगे तो वेदनीय कर्म पुद्गलविपाकी हो जावेगा ?

समाधान - वेदनीयकर्म पुद्गलविपाकी भी है, वह हमें मान्य है; इसप्रकार धवल में वीरसेनस्वामी लिखते हैं। संयोग के काल में संयोग और रोग के काल में रोग है, उसमें पूर्व में बंधा हुआ वर्तमान उदयरूप कर्म-निमित्त है।

लोग जिसे इष्ट मानते हैं, उसी को अनिष्ट मानते हैं। उन सर्वसंयोगों के प्रति मुनिराज को समताभाव है, किसी भी प्रसंग में उन्हें विषमता नहीं होती।

मुनि को विषमता क्यों नहीं होती ? क्योंकि मुनिराज परमसुखरस में लीन-निर्विकार स्वसंवेदनरूप परमकला के अनुभव के कारण वे इष्ट-अनिष्ट संयोगों में, हर्ष-शोकादि विषमता का अनुभव नहीं करते; इसलिए उन्हें इष्ट-अनिष्ट संयोग समान हैं - ऐसे श्रमण शुद्धोपयोगी कहे जाते हैं।

शुद्धोपयोग का फल मोक्ष है। शुद्धोपयोग कारण है और मोक्ष कार्य है।^१

तेरहवीं गाथा में शुद्धोपयोगियों के सुख का वर्णन था और यहाँ चौदहवीं

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१०१-१०२

गाथा में शुद्धोपयोगी मुनिराजों के स्वरूप का वर्णन है।

तेरहवीं गाथा में अरहंत और सिद्धों के शुद्धोपयोग का वर्णन था और यहाँ अरहंत अवस्था प्राप्त करने के पूर्व जो शुद्धोपयोगदशा होती है, उसका निरूपण है; क्योंकि यहाँ चौदहवीं गाथा में शुद्धात्मा आदि तत्त्वार्थों के प्रतिपादक सूत्रों के जानकार श्रुतज्ञानी शुद्धोपयोगियों की बात है और वहाँ १३ वीं गाथा में अव्याबाध अनंतसुख के धारक केवलज्ञानी शुद्धोपयोगियों की बात है।

दोनों गाथाओं की दोनों टीकाओं के गहरे अध्ययन से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है। ध्यान रहे सातवें और सातवें गुणस्थान से आगे के सभी मुनिराज शुद्धोपयोगी ही तो हैं।

यद्यपि आचार्य जयसेन १३ वीं गाथा से शुद्धोपयोगाधिकार का आरंभ स्वीकार करते हैं; क्योंकि १३ वीं गाथा की उत्थानिका में शुद्धोपयोगाधिकार आरंभ होने की बात वे कह चुके हैं; तथापि १४ वीं गाथा तक पीठिका मानते हैं। वे लिखते हैं कि इसप्रकार यहाँ चौदह गाथाओं और पाँच स्थलों में विभक्त पीठिका नामव पर के प्रति.... पूर्ण हुआ। ●

पर के प्रति मेरा सहज उदासीनभाव है। न जानने का विकल्प है और न नहीं जानने का विकल्प है। जानने में आ न जाएं - ऐसा भय भी नहीं है। जब आत्मा का ध्यान करने बैठे हैं; तब परद्रव्य जानने में न आ जाएं - ऐसी चिंता नहीं है। जानने में आ जाए तो उसे भी जान लेंगे। नेत्रों में कोई परद्रव्य घुस नहीं रहा है, जिसे हमें हटाना हो। आत्मा की तीव्र रुचि जहाँ हो; उपयोग स्वयमेव वहाँ चला जाता है।

- समयसार का सार, पृष्ठ-२४७

प्रवचनसार गाथा १५

चौदहवीं गाथा में सूत्रार्थवेदी, संयमी, तपस्वी, शुद्धोपयोगी श्रमणों की चर्चा की थी और इस पन्द्रहवीं गाथा में शुद्धोपयोग के फल में तत्काल प्राप्त होनेवाले शुद्धात्मस्वभाव की बात करते हैं, केवलज्ञान प्राप्त होने की बात करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।

भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥

(हरिगीत)

शुद्धोपयोगी जीव जग में घात घातीकर्मरज।

स्वयं ही सर्वज्ञ हो सब ज्ञेय को हैं जानते ॥१५॥

जो विशुद्ध उपयोगवाला शुद्धोपयोगी है; वह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहरूप रज से स्वयमेव रहित होता हुआ समस्त ज्ञेयपदार्थों के पार को प्राप्त करता है अर्थात् केवलज्ञानी हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है।

ध्यान रहे तेरहवीं गाथा में शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाले अनंत, अव्याबाध, अतीन्द्रिय सुख की बात थी और यहाँ इस पन्द्रहवीं गाथा में शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान की बात है, अनंतज्ञान की बात है; केवलज्ञान की बात है।

आगे के अधिकारों में अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख की चर्चा स्वतंत्र अधिकारों के रूप में विस्तार से आनेवाली ही है, उसी का बीज यहाँ डाला जा रहा है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“चैतन्यपरिणामरूप उपयोग के द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर

वर्तनेवाला; पद-पद पर विशिष्ट विशुद्धशक्ति प्रगट होते जाने से अनादि संसार से बद्ध दृढ़तर मोहग्रन्थि छूट जाने से अत्यन्त निर्विकार चैतन्यवाला और समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के नष्ट हो जाने से निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान होता हुआ भगवान आत्मा ज्ञेयों के अन्त को पा लेता है, सभी ज्ञेयों को जान लेता है।

यहाँ यह कहा है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और ज्ञान ज्ञेयमात्र (ज्ञेय प्रमाण) है; इसलिए समस्त ज्ञेयान्तरवर्ती ज्ञानस्वभावी आत्मा को यह आत्मा शुद्धोपयोग के प्रसाद से प्राप्त करता है; जानता है, अनुभवता है, आत्मतल्लीन होता है।”

उक्त कथन का मूल तात्पर्य यही है कि जब इस आत्मा का स्वभाव जानना ही है और चार घातिया कर्मों के अभाव से समस्त प्रतिबंध समाप्त हो गये हैं तो यह भगवान आत्मा समस्त ज्ञेयों को क्यों नहीं जानेगा ?

समस्त ज्ञेयों में अपना भगवान आत्मा भी है; अतः उसे भी क्यों नहीं जानेगा ? इसप्रकार यह भगवान आत्मा स्व और पर सभी ज्ञेयों को जान लेता है, शुद्धोपयोग के प्रताप से केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, सर्वज्ञ हो जाता है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि शुद्धोपयोग के प्रसाद से यह आत्मा स्वयं को जानता है, देखता है, अनुभवता है, उसमें तल्लीन होता है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथा की टीका लिखते हुए केवलज्ञान प्राप्ति की करणानुयोग सम्मत प्रक्रिया को बताते हैं। इसप्रकार वे सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक की प्रक्रिया में शुक्लध्यान के दो पायों की चर्चा करते हैं; जो मूलतः पठनीय है।

कविवर वृन्दावनदासजी गाथा और उसकी टीका के भावों को दो छन्दों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

(मत्तगयंद)

जो उपयोग विशुद्ध विभाकर मंडित है चिन्मूरतराई ।
सो वह केवलज्ञान धनि सब ज्ञेय के पार ततच्छन जाई ॥
घाति चतुष्टय तास तहाँ स्वयमेव विनाश लहैं दुखदाई ।
शुद्धोपयोग परापति की महिमा यह वृन्द मुनिंदन गाई ॥५०॥

वृन्दावन कवि कहते हैं कि मुनिराजों ने शुद्धोपयोग की प्राप्ति की महिमा इसप्रकार गाई है कि जब यह चैतन्यमूर्ति आत्मा शुद्धोपयोगरूपी सूर्य से मंडित होता है; तब वह केवलज्ञान से मंडित होकर तत्काल ज्ञेयों के पार को पा लेता है। ऐसी स्थिति में दुःख देनेवाले घातिया कर्म स्वयमेव ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

(षट्पद)

जिस आत्म के परम सुद्ध उपयोग सिद्ध हुव ।
तिसके जुग आवरन मोहमल विघन नास धुव ॥
सकल ज्ञेय के पार जात सो आप ततच्छन ।
ज्ञान फुरन्त अनन्त सोई अरहंत सुलच्छन ॥
महिमा महान अमलान नव केवल लाभ सुधाकरन ।
शिवथानदान भगवान के वृन्दावन वंदत चरन ॥५१॥

जिस आत्मा का शुद्ध उपयोग परमशुद्ध होता है, उस आत्मा के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मों का नाश हो जाता है। ऐसा आत्मा तत्काल ही ज्ञेयों के पार को प्राप्त कर लेता है, ऐसे आत्मा को केवलज्ञान प्रगट हो जाता है और अरहंत अवस्था प्रगट हो जाती है।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि निर्मल शुद्धोपयोग की महान महिमा है कि जिससे नव केवललब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। ऐसे सिद्धदशा को प्राप्त भगवान के चरणों की मैं वृन्दावन कवि वंदना करता हूँ।

उक्त सम्पूर्ण कथन पर प्रकाश डालते हुए स्वामीजी लिखते हैं -

“स्वभाव के अवलम्बन से जिस शुद्धता का अंश प्रगट हुआ है, उसी से केवलज्ञान प्रगट होता है। जैसे संकुचित कली खिलती है; वैसे ही परमस्वभाव जो शक्तिरूप से था और जिसकी वर्तमान पर्याय संकुचित थी, वह अब पूर्ण स्वभाव के बल से खिल जाती है। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानरूप अपूर्ण विकास खिला हुआ था; किन्तु यह तो पूर्णदशा प्रगट हो गई है।

सर्वप्रथम, ज्ञानस्वभाव की दृष्टि-ज्ञानपूर्वक स्थिरता से चारित्रदशा को प्राप्त करते हैं, उसमें विशेष स्थिरता से शुक्ल ध्यान प्रगट होता है। सम्पूर्ण स्व-आश्रय से वे केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं।

आत्मा की श्रद्धा करके स्थिरता के अंश बढ़ते जाते हैं और पूर्ण वीतरागदशा प्राप्त करके आत्मा स्वयमेव केवलज्ञान को प्राप्त होता है। यहाँ, ‘स्वयमेव’ शब्द का प्रयोग किया गया है; किन्तु वज्रकाय की बात नहीं की।

जितने ज्ञेय हैं, उन सभी को केवलज्ञान जानता है। ज्ञात होने योग्य सभी पदार्थों को केवलज्ञान जानता है। अधूरीदशा में विकल्प आता है; किन्तु विकल्प के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अथवा शुक्ल ध्यान प्रगट नहीं होता। आत्मसन्मुखदशा एक ही कारण है। विभाव और निमित्त से भेदज्ञान किया है, स्वभावसन्मुखता हुई है। स्वभाव सन्मुख होते ही वे केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं।^१

यहाँ ऐसा कहा कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और ज्ञान, ज्ञेयप्रमाण है। राग को करना, व्यवहार को करना और व्यवहार को छोड़ना उसका स्वभाव नहीं है; इसीतरह निमित्त को लाना और छोड़ना भी उसका स्वभाव नहीं है, केवलज्ञानी की एक समय में अनन्तशक्ति है, अनन्त लोकालोक को जान लेने की शक्ति है; किन्तु ज्ञान, ज्ञेयप्रमाण है – ऐसा कहने का अर्थ यह है कि ज्ञान सभी ज्ञेयों को जान लेता है, कोई बाकी नहीं रहता। प्रत्येक समय में तीनों काल का, छहों द्रव्यों का स्वरूप पूरी तरह से केवलज्ञान जानता है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१०४-१०५

जब, स्थूल बुद्धिवाले ज्योतिष-ज्ञानी भी भविष्य की अमुक बातों को निश्चितपने जानते हैं तो सर्वप्रकार से निर्मल केवलज्ञानी भविष्य को निश्चित रूप से क्यों नहीं जानेंगे? अतः जितने भी ज्ञेय हैं, उन सभी को वे जानते हैं।^१

ज्ञान ज्ञेयों में प्रविष्ट नहीं होता; किन्तु लोकालोक को जान लेता है। ऐसे ज्ञानस्वभाववाले आत्मा को आत्मा, शुद्ध उपयोग के प्रसाद से ही प्राप्त करता है, यह सम्यक् एकान्त है।

शुभ राग अथवा व्यवहार से किसी को केवलज्ञान हो जाए और किसी को स्वद्रव्य के आलम्बनरूप निश्चय से भी केवलज्ञान हो जाए – ऐसा अनेकान्त का स्वरूप नहीं है; किन्तु यह नियम है कि शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही सम्यक्त्व, चारित्र और केवलज्ञान प्राप्त होता है।

आत्मा केवलज्ञानमय शुद्ध चैतन्य मूर्ति है, उसकी दृष्टि, ज्ञान और रमणता से ही जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है; किन्तु किसी निमित्त अथवा व्यवहार से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।^२”

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि केवलज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र कारण शुद्धोपयोग है; न तो कोई बाह्य क्रियाकाण्ड है और न शुभोपयोगरूप पुण्यभाव ही है।

इसप्रकार तेरहवीं गाथा में यह बताया कि शुद्धोपयोग से अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त होता है और यहाँ इस पन्द्रहवीं गाथा में यह बताया कि उसी शुद्धोपयोग से अतीन्द्रिय अनन्तज्ञान प्रगट होता है।

अनन्त अतीन्द्रियज्ञान और अनन्त अतीन्द्रियसुख – दोनों एकमात्र शुद्धोपयोग के फल हैं; इसलिए उन्हें प्राप्त करने की भावनावाले भव्यजीवों को एकमात्र निज भगवान आत्मा की आराधना करना ही उपादेय है; अन्य बाह्य विकल्पों में उलझने से कोई लाभ नहीं है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१०६-१०७

२. वही, पृष्ठ-१०७

प्रवचनसार गाथा १६

विगत गाथाओं में यह बात आ गई है कि अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य एकमात्र शुद्धोपयोग के फल हैं, शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाली निधियाँ हैं। शुद्धोपयोग आत्मा के आश्रय से आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाला वीतरागी परिणाम है। अतः यह सहजसिद्ध है कि यह भगवान आत्मा स्वयं ही अपनी निधियों को प्राप्त करता है; अतः स्वयंभू है।

इसी बात को आगामी गाथा में कहा गया है; जो इसप्रकार है -

तह सो लब्धसहावो सब्बण्हू सब्बलोगपदिमहिदो ।

भूदो सयमेवादा हवदि संयभु त्ति णिद्धिट्ठो ॥१६॥

(हरिगीत)

त्रैलोक्य अधिपति पूज्य लब्धस्वभाव अर सर्वज्ञ जिन ।

स्वयं ही हो गये तातैं स्वयम्भू सब जन कहें ॥१६॥

इसप्रकार वह आत्मा स्वभाव को प्राप्त, सर्वज्ञ और सर्वलोक के अधिपतियों से पूजित स्वयमेव हुआ होने से स्वयंभू है - ऐसा कहा गया है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों के नष्ट हो जाने से जिसने शुद्ध अनन्त शक्तिवान चैतन्यस्वभाव प्राप्त किया है - ऐसा यह पूर्वोक्त आत्मा (१) शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञायकस्वभाव के कारण स्वतंत्र होने से जिसने कर्तृत्व के अधिकार को ग्रहण किया है - ऐसा, (२) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही प्राप्य होने से कर्मत्व का अनुभव करता हुआ, (३) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव से स्वयं साधकतम

होने से करणता को धारण करता हुआ, (४) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होने से संप्रदानता को धारण करता हुआ, (५) शुद्ध अनन्तशक्तिरूप ज्ञानरूप से परिणमित होने के समय पूर्व में प्रवर्तमान विकल ज्ञानस्वभाव का नाश होने पर भी सहज ज्ञानस्वभाव से स्वयं ही ध्रुवता का अवलम्बन करने से अपादानता को धारण करता हुआ और (६) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से अधिकरणता को आत्मसात करता हुआ स्वयमेव छह कारकरूप होने से अथवा उत्पत्ति अपेक्षा से द्रव्य-भाव भेदवाले घातिकर्मों को दूर करके स्वयमेव आविर्भूत होने से स्वयंभू कहलाता है। अतः निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का संबंध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मलाभ की प्राप्ति के लिए बाह्यसामग्री ढूँढने की व्यग्रता से जीव व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं।”

इस गाथा का अर्थ करते हुए आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में अभिन्न षट्कारक की बात करते हैं और उनकी व्याख्या भी तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही करते हैं।

गाथा में तो मात्र इतना ही कहा गया है कि यह भगवान आत्मा स्वयं ही स्वभाव को प्राप्त कर सर्वज्ञ और सर्वलोक पूजित होता है; इसकारण स्वयंभू है। षट्कारकों की चर्चा गाथा में नहीं है।

पर के सहयोग के बिना जो स्वयं के बल पर प्रतिष्ठित होता है, कुछ कर दिखाता है; उसे लोक में स्वयंभू कहा जाता है। अतः यहाँ दोनों टीकाओं में स्वयंभू की व्याख्या में स्वाधीन षट्कारकों की चर्चा की है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में विकारी पर्याय भी आत्मा स्वाधीनपने ही प्रगट करता है - यह बताते हुए विकारी पर्याय संबंधी अभिन्न षट्कारकों की चर्चा की है और यहाँ अनन्तसुख और सर्वज्ञतारूप निर्मल पर्याय संबंधी अभिन्न षट्कारकों की बात की गई है।

मूल बात यह है कि यह आत्मा स्वभाव से तो भगवान है ही, पर्याय में भी भगवान स्वयं ही बनता है, स्वाधीनपने ही बनता है, पर के सहयोग के बिना ही बनता है; अतः सर्वज्ञ भगवान स्वयंभू हैं।

अभिन्न षट्कारक ही निश्चय षट्कारक हैं, भिन्न षट्कारक तो व्यवहार से षट्कारक कहे जाते हैं। सामान्य पाठकों की दृष्टि से निश्चय और व्यवहार षट्कारकों का सामान्य स्वरूप जान लेना उचित प्रतीत होता है।

इसी गाथा के भावार्थ में पाण्डे हेमराजजी निश्चय-व्यवहार षट्कारकों का स्वरूप इसप्रकार समझाते हैं -

“कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नामक छह कारक हैं। जो स्वतंत्रतया-स्वाधीनता से करता है, वह कर्ता है; कर्ता जिसे प्राप्त करता है, वह कर्म है; साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन को करण कहते हैं; कर्म जिसे दिया जाता है अथवा जिसके लिए किया जाता है, वह सम्प्रदान है; जिसमें से कर्म किया जाता है, वह ध्रुवस्तु अपादान है और जिसमें अर्थात् जिसके आधार से कर्म किया जाता है, वह अधिकरण है। यह छह कारक व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार के हैं।

जहाँ पर के निमित्त से कार्य की सिद्धि कहलाती है, वहाँ व्यवहार कारक है और जहाँ अपने ही उपादान कारण से कार्य की सिद्धि कही जाती है, वहाँ निश्चय कारक है।

व्यवहार कारकों का दृष्टान्त इसप्रकार है - कुम्हार कर्ता है, घड़ा कर्म है; दंड, चक्र, चीवर इत्यादि करण हैं; कुम्हार जल भरनेवाले के लिए घड़ा बनाता है, इसलिए जल भरनेवाला सम्प्रदान है; टोकरी में से मिट्टी लेकर घड़ा बनाता है, इसलिए टोकरी अपादान है और पृथ्वी के आधार पर घड़ा बनाता है, इसलिए पृथ्वी अधिकरण है।

यहाँ सभी कारक भिन्न-भिन्न हैं। अन्य कर्ता है; अन्य कर्म है; अन्य

करण है, अन्य सम्प्रदान; अन्य अपादान और अन्य अधिकरण है। परमार्थतः कोई द्रव्य किसी का कर्ता-हर्ता नहीं हो सकता, इसलिए यह छहों व्यवहारकारक असत्य हैं। वे मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहे जाते हैं। निश्चय से किसी द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ कारणता का सम्बन्ध है ही नहीं।

निश्चय कारकों का दृष्टान्त इसप्रकार है - मिट्टी स्वतन्त्रतया घटरूप कार्य को प्राप्त होती है; इसलिए मिट्टी कर्ता है और घड़ा कर्म है। अथवा, घड़ा मिट्टी से अभिन्न है; इसलिए मिट्टी स्वयं ही कर्म है; अपने परिणमन स्वभाव से मिट्टी ने घड़ा बनाया; इसलिए मिट्टी स्वयं ही करण है; मिट्टी ने घड़ारूप कर्म अपने को ही दिया इसलिए मिट्टी स्वयं सम्प्रदान है; मिट्टी अपने में से पिंडरूप अवस्था नष्ट करके घटरूप कर्म किया और स्वयं ध्रुव बनी रही, इसलिए वह स्वयं ही अपादान है; मिट्टी ने अपने ही आधार से घड़ा बनाया, इसलिए स्वयं ही अधिकरण है। इसप्रकार निश्चय से छहों कारक एक ही द्रव्य में हैं।

परमार्थतः एक द्रव्य दूसरे की सहायता नहीं कर सकता और द्रव्य स्वयं ही, अपने को, अपने से, अपने लिए, अपने में से, अपने में करता है; इसलिए निश्चय छह कारक ही परमसत्य हैं।

उपर्युक्त प्रकार से द्रव्यं स्वयं ही अपनी अनन्तशक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है। इसलिए स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य करने के लिए समर्थ है, उसे बाह्यसामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती। इसलिए केवलज्ञान प्राप्ति के इच्छुक आत्मा को बाह्यसामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है।

शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही छह कारकरूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। वह आत्मा स्वयं अनंतशक्तिवान ज्ञायकस्वभाव से स्वतंत्र है, इसलिए स्वयं ही कर्ता है; स्वयं अनन्तशक्तिवाले केवलज्ञान को प्राप्त

करने के कारण केवलज्ञान कर्म है अथवा केवलज्ञान से स्वयं अभिन्न होने से आत्मा स्वयं ही कर्म है; अपने अनन्त शक्तिवाले परिणमनस्वभावरूप उत्कृष्ट साधन से केवलज्ञान को प्रगट करता है, इसलिए आत्मा स्वयं ही करण है; अपने को ही केवलज्ञान देता है, इसलिए आत्मा स्वयं ही सम्प्रदान है; अपने में से मति-श्रुतादि अपूर्ण ज्ञान दूर करके केवलज्ञान प्रगट करता है, इसलिए और स्वयं सहज ज्ञानस्वभाव के द्वारा ध्रुव रहता है, इसलिए स्वयं ही अपादान है; अपने में ही अर्थात् अपने ही आधार से केवलज्ञान प्रगट करता है, इसलिए स्वयं ही अधिकरण है।

इसप्रकार स्वयं छह कारकरूप होता है, इसलिए वह 'स्वयंभू' कहलाता है। अथवा अनादिकाल से अति दृढ़ बंधे हुए (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतरायरूप) द्रव्य तथा भाव घातिकर्मों को नष्ट करके स्वयमेव आविर्भूत हुआ अर्थात् किसी की सहायता बिना अपने आप ही स्वयं प्रगट हुआ, इसलिए 'स्वयंभू' कहलाता है।”

इस गाथा और टीका का भाव कविवर वृन्दावनदासजी तेरह छन्दों में समझाते हैं; जिसमें वे स्वयंभू का स्वरूप समझाते हुए निश्चय और व्यवहार षट्कारकों की भी चर्चा करते हैं। निश्चय और व्यवहार षट्कारकों की बात हेमराज के भावार्थ में स्पष्ट हो ही गई है; अतः उन्हीं के आधार पर बनाये गये वृन्दावनदासजी के छन्दों के देने का कोई औचित्य नहीं लगता। अतः षट्कारकों के स्वरूप संबंधी छन्दों के अतिरिक्त छन्द यहाँ प्रस्तुत हैं। जिनको सभी छन्दों का आनन्द लेना हो वे मूल ग्रन्थ का स्वाध्याय करें।

(मनहरण)

ताही भांति विमल भये जे आप चिदानन्द ।

तास को स्वयंभू नाम ऐसो दरसायो है ॥

प्रापत भये अनन्त ज्ञानादि स्वभावगुन ।

आपहीते आपमांहि सुधा बरसायो है ॥

सोई सरवज्ज तिहूँकाल के समस्त वस्त ।

हस्तरेख से प्रशस्त लखै सरसायो है ॥

ताही के पदारविंद देवइन्द नागइन्द ।

मानुषेंद वृन्द बंदि पूज हरषायो है ॥५२॥

जो आत्मा शुद्धोपयोग के द्वारा निर्मल हुए हैं, जिन्हें अनंत ज्ञानादि-स्वभावगुण प्राप्त हुए हैं, जिनके अन्तर में आनन्दामृत बरसा है, जिनकी सर्वज्ञता में तीनकाल की समस्त वस्तुएँ हाथ की रेखा के समान दिखाई देती हैं और जिनके चरण कमलों की वंदना करके देवेन्द्र, नागेन्द्र और चक्रवर्ती हर्षित होते हैं; उन सर्वज्ञ-वीतरागी भगवान को स्वयंभू कहते हैं।

(चौबोला)

जब संसार दशा तज चेतन शुद्धुपयोग स्वभाव गहै ।

तब आपहि षट्कारकमय ह्वै केवलपद परकाश लहै ॥

तहाँ स्वयंभू आप कहावत सकल शक्ति निज व्यक्त अहै ।

चिद्विलास आनन्दकन्द पद वंदि वृन्द दुखद्वंद दहै ॥६४॥

जब यह भगवान आत्मा सांसारिक दुर्दशा को छोड़कर शुद्धोपयोग के द्वारा अपने स्वभाव का ग्रहण करता है; तब स्वयं षट्कारकरूप परिणमित होकर केवलज्ञान को प्राप्त करता है और तभी स्वयंभू कहा जाता है; क्योंकि स्वयं से ही स्वयं की सभी शक्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं। इसप्रकार के आनंद के कंद चैतन्य आत्मा के विलास की वृन्दावन वन्दना करके अपने दुःख और आन्तरिक द्वन्दों को जलाता है।

उक्त गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“शुद्ध उपयोग से होनेवाली शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष ही है; अर्थात् उसे निमित्त कारकों की अपेक्षा नहीं होती। इसीतरह अशुद्धता में भी निमित्त कारकों की अपेक्षा नहीं है; अशुद्धता के कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण - ये छहों कारक निरपेक्ष हैं - ऐसा पंचास्तिकाय में कहा है। विकार के छहों कारक निरपेक्ष हैं। यहाँ शुद्धता के कारणों की अपेक्षा नहीं है।”

अब, शुद्ध उपयोग से होनेवाली केवलज्ञान की प्राप्ति अन्य कारकों से स्वतंत्र होने से अत्यन्त आत्माधीन है, लेशमात्र भी पराधीन नहीं है - ऐसा प्रसिद्ध करते हैं। यह आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूपी है; उसकी अंतर्मुख दृष्टि और स्थिरता द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, उसमें व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग आता है, किन्तु उसकी अपेक्षा नहीं होती।

शुद्ध चिदानन्द के आश्रय से ही जीव सम्यग्दर्शन, चारित्र और केवलज्ञानदशा प्राप्त करते हैं। केवलज्ञान अत्यन्त आत्माधीन है, लेशमात्र भी पराधीन नहीं है।^१

प्रवचनसार के साररूप यह गाथा बहुत उत्कृष्ट है। आत्मा अपनी मोक्षपर्याय प्रगट करता है; वह अपने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण - ऐसे छह कार्कोरूप होकर करता है। स्वयं शुद्ध चिदानन्द निर्मल है। आत्मा स्वयं, पुण्य-पाप की रुचि छोड़कर शुद्ध चैतन्य स्वभाव की लीनता करके, स्वयं कर्ता होकर, धर्मपर्याय प्रगट करता है और स्वयं कर्ता होकर मोक्षरूपी फल प्रगट करता है।^२

वह स्वयं ही कर्ता, कर्म, साधन है, अपने में से स्वभाव लेता है और अपने को ही देता है, अपने में से अपने आधार से ही धर्म प्रगट करता है। जड़कर्म को दूर किया - यह तो निमित्त का कथन है। स्वभाव में लीन होते ही जड़कर्म स्वयमेव दूर हो जाते हैं।^३

शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा की दृष्टि करके अपने स्वभाव का कर्ता होकर, अपने स्वभाव का कार्य करके, अपने स्वभाव को साधन बनाकर, अपने में से स्वभाव प्रगट होता हुआ, अपने आधार से काम करता है - यह मोक्षमार्ग है - ऐसे छह कार्कोरूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१११

२. वही, पृष्ठ-११८

३. वही, पृष्ठ-११९

यहाँ कहते हैं कि घातिकर्म को दूर करते हैं - ऐसा कहना तो असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। राग-द्वेष, दया-दानादि के शुभभाव चैतन्य जागृति से विरुद्ध होने से वे भाव घातिकर्म हैं। शुद्धचैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है, किन्तु व्यवहार के कारण धर्म नहीं होता।^१

सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र की शुद्धता के छह कार्कोरूपों की प्राप्ति के लिए तथा केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए बाह्य साधनों को ढूँढने की व्यग्रता से (अज्ञानी) जीव व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं और सोचते हैं कि ऐसे वीतरागी निमित्त मिले तो धर्म हो - ऐसा अज्ञानी कहता (मानता) है। तो उससे पूछते हैं कि क्या परद्रव्यों को मिलाया जा सकता है? बिल्कुल नहीं! भाई! यह सभी आकुलता है। ऐसे निमित्त और ऐसा व्यवहार हो तो ठीक, यह मानकर मिथ्या अभिप्राय करके, जीव स्वयं परतंत्र होता है। वास्तव में स्वभाव के छह कारक स्वभाव से ही होते हैं - ऐसा समझकर जब जीव पराश्रय की रुचि और निमित्त का लक्ष्य छोड़कर, स्वभाव का साधन करता है तो केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

वास्तव में परद्रव्य के साथ आत्मा का संबंध नहीं है; इसीलिए पर सामग्री को मिलाने की आकुलता करना व्यर्थ है।^२

प्रत्येक ही आत्मा और परमाणु आदि सभी पदार्थ, स्वयं छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने के लिए समर्थ है, जिसे बाह्य सामग्री कुछ भी मदद नहीं कर सकती। बाह्य सामग्री अकिंचित्कर है। इसीलिए जिसको मुक्ति प्राप्त करना हो अथवा सिद्ध भगवान बनना हो, उन आत्माओं को बाह्य सामग्री की इच्छा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है।^३

‘मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ’ - ऐसा ध्यान करके लीन होकर, आत्मा स्वयं ही छह कारकरूप होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। स्वभाव में छह कारक बताये हैं। इसप्रकार स्वयं, स्वयं से स्वयंभू होता है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-११९

२. वही, पृष्ठ-१२१-१२२

३. वही, पृष्ठ-१२२

इसप्रकार धर्म के लिए बाह्यसामग्री की जरूरत नहीं होती – स्वयं का आत्मा ही साधन है।^१

प्रत्येक आत्मा और परमाणु में अनन्त शक्ति विद्यमान है, जिससे वह स्वयं ही, अपना कार्य करने में समर्थ है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण – ये छह कारक स्वयं अंतरस्वरूप के आधार से परिणामित होते हैं, जिसमें बाह्य सामग्री कुछ भी मदद नहीं करती।^२

आत्मा अपना कार्य स्वयं करता है। आत्मा स्वयं ज्ञानज्योति आनन्दमय शुद्ध है – ऐसे भानवाला आत्मा स्वयं कार्य करता है; जो स्वयं, अपने केवलज्ञानादि कार्य से अभिन्न है। अपनी चैतन्यज्योति में एकाग्र होने से जो शुद्धदशा होती है; उससे आत्मा भिन्न नहीं है। इसलिए आत्मा स्वयं कर्म है।

आत्मा स्वयं अनन्तशक्ति सम्पन्न है, जिसका स्वयं अपना बदलने का स्वभाव है। यदि आत्मा सर्वथा कूटस्थ हो तो विविधप्रकार के कार्य नहीं हो सकते और आनन्द का अनुभव भी नहीं हो सकेगा। अतः स्वयं ही परिणमन के स्वभाववाला होने से स्वयं ही केवलज्ञान का साधन है, जिसे वज्रवृषभनाराच संहनन की अपेक्षा नहीं है। यह समझकर निमित्त और विभाव की अपेक्षा छोड़कर, आत्मा अपना साधन स्वयं करता है, जिसमें बाहर के साधन की अपेक्षा नहीं होती। निचलीदशा में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होने में स्वयं ही साधन है।

स्वयं केवलज्ञान अपने लिए प्रगट करके अपने में रखता है; इसीलिए आत्मा स्वयं सम्प्रदान है। अपूर्णज्ञान के नाश होने पर भी, स्वयं ध्रुवरूप रहकर केवलज्ञान प्रगट करता है, इसलिए स्वयं अपादान है और स्वयं अपने ही आधार से केवलज्ञान प्रगट करता है, इसलिए स्वयं अधिकरण

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१३२

२. वही, पृष्ठ-१३२-१३३

है। यदि शरीर मजबूत हो, स्वस्थ हो तो ध्यान होता है – ऐसा है ही नहीं। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय – इन चार अपूर्णज्ञान का नाश होकर, केवलज्ञान की पूर्णदशा का उत्पाद हुआ है और आत्मा स्वयं ध्रुव रहा है। इसतरह स्वयं छह कारकोरूप होने से आत्मा स्वयंभू कहलाता है।^१”

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से भगवान है और उसमें पर्याय में भगवान बनने की सामर्थ्य है। काललब्धि आने पर सम्पूर्ण जगत से दृष्टि समेटकर अपने त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा का अनुभव कर, उसमें अपनापन स्थापित कर, उसे ही निजरूप जानकर, उसमें ही जम-रमकर जब यह आत्मा शुद्धोपयोगरूप परिणामित होता है; तब पर्याय में भी परमात्मा बन जाता है।

यहाँ प्रदर्शित निश्चयषट्कारक की प्रक्रिया यह बताती है कि इस आत्मा को पर्याय में परमात्मा बनने के लिए पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। यह भगवान आत्मा स्वयं ही कर्ता होकर शुद्धोपयोगरूप परिणामित होता है, स्वयं ही शुद्धोपयोगरूप कर्म (कार्य) को प्राप्त करता है, यह सब प्रक्रिया स्वयं के साधन से सम्पन्न होती है और यह सबकुछ स्वयं के लिए, स्वयं में से, स्वयं के आधार से ही होता है।

जब भी ‘पर के सहयोग की आवश्यकता नहीं है’ – यह कहा जाता है तो कुछ लोग ऐसा कहने लगते हैं कि हमें आप सबमें से किसी के सहयोग की आवश्यकता नहीं है; पर यह नहीं समझते कि आखिर यह शरीर भी पर है; इसके माध्यम से सम्पन्न होनेवाली क्रिया भी तो अपनी नहीं है। भोजनादि नहीं करनेरूप उपवासादि व ईर्या-भाषा समिति की देहगत क्रिया भी पर की क्रिया है। परमात्मा बनने में, शुद्धोपयोग प्राप्त करने में इनका भी तो कोई योगदान नहीं है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१३४

इन क्रियाओं को करने की मान्यतारूप कर्तृत्व और इन्हें अपनी माननेरूप एकत्व-ममत्व तो मिथ्यात्व हैं तथा इन्हें सम्पन्न करने का रागभाव चारित्रमोहजन्य परिणाम है। ये सब आत्मा के कल्याण के कारण नहीं हैं। आत्मा का कल्याण तो एकमात्र शुद्धोपयोगरूप स्वाधीन परिणति से ही होता है - इस अभिन्न षट्कारक की प्रक्रिया से आचार्यदेव यही संदेश देना चाहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कारक तो आठ होते हैं; पर यहाँ तो छह ही बताये गये हैं। संबंध और संबोधन को क्यों छोड़ दिया है ?

अरे भाई ! वास्तविक कारक तो छह ही होते हैं। आठ तो विभक्तियाँ होती हैं, कारक नहीं। कारक कहते ही उसे हैं; जिसका क्रिया से सीधा संबंध हो। संबंध और संबोधन का क्रिया से कोई संबंध ही नहीं है।

जैसे हम कहे कि दशरथ के पुत्र राम ने रावण का वध किया। इस वाक्य में वध करनेरूप क्रिया से दशरथ का कोई संबंध नहीं है। दशरथ का संबंध तो राम से है, रावण की मृत्युरूप क्रिया से नहीं। इसीप्रकार जिसे संबोधित किया जाता है, उसका भी किसी क्रिया से कोई संबंध नहीं होता।

इसप्रकार मूलतः तो छह ही कारक होते हैं; आठ नहीं।

इस गाथा और उसकी टीका में आचार्यदेव यही कहना चाहते हैं कि आत्मा को परमात्मा बनने के लिए पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

शुभोपयोग की भी यही स्थिति है; क्योंकि स्वयं के आश्रय से, स्वयं में से, स्वयं के लिए, स्वयं के द्वारा सम्पन्न होनेवाली शुद्धोपयोगरूप परिणति ही अनंतज्ञान और अनंतसुख का एकमात्र कारण है।

अतः पर के सहयोग की आकांक्षा से परसामग्री को खोजने की व्यग्रता से व्यग्रता के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त होनेवाला नहीं है। ●

प्रवचनसार गाथा-१७

१६ वीं गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि सर्वज्ञता को प्राप्त भगवान आत्मा स्वयं स्वयंभू है, स्वयं के पुरुषार्थ से ही इस स्थिति में पहुँचा है; अब यह बताते हैं कि उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त इस स्वयंभू भगवान आत्मा ने व्यय से विहीन उत्पाद और उत्पाद रहित व्यय करने का महान कमाल कर दिखाया है। मूल गाथा इसप्रकार है -

भंगविहूणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।

विज्जिदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ ॥१७॥

(हरिगीत)

यद्यपि उत्पाद बिन व्यय व्यय बिना उत्पाद है।

तथापी उत्पादव्ययथिति का सहज समवाय है ॥१७॥

शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त भगवान आत्मा के विनाशरहित उत्पाद और उत्पादरहित विनाश है तथा उसी के स्थिति, उत्पाद और विनाश का समवाय भी विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि विनाशरहित उत्पाद और उत्पादरहित विनाश होने पर भी उस आत्मा के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यपना भी एकसाथ विद्यमान हैं।

जिनागम में यह बात अत्यन्त स्पष्टरूप से कही गई है कि व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता और उत्पाद के बिना व्यय नहीं होता; तथापि यहाँ विरोधाभास अलंकार के माध्यम से यह कहा गया है कि हे स्वयंभू भगवान! आपने तो ऐसा गजब किया है कि व्यय के बिना उत्पाद और उत्पाद के बिना व्यय करके दिखा दिया है और सबसे बड़ी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त होती है - इस जगतप्रसिद्ध नियम को भी कायम रखा है।

उक्त गाथा के माध्यम से आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि

शुद्धोपयोग के प्रताप से स्वयं सर्वज्ञता को प्राप्त स्वयंभू भगवान ने ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त किया कि जिसका अब अनंतकाल तक अभाव नहीं होगा और मोह-राग-द्वेष का ऐसा अभाव किया कि अब अनंतकाल तक उसका कभी उत्पाद नहीं होगा - ऐसा होने पर भी स्वयंभू भगवान में उत्पादव्ययध्रौव्य की संयुक्तता सतत विद्यमान है।

वस्तुतः बात यह है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय परिणामित होती रहती है; अतः उसमें प्रतिसमय उत्पाद-विनाश भी होता ही रहता है। सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो केवलज्ञान पर्याय भी प्रतिसमय नष्ट होती है और प्रतिसमय नई-नई उत्पन्न होती है; तथापि स्थूलदृष्टि से देखने पर अगले समय उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञान भी पहले समय के केवलज्ञान जैसा ही होता है। अतः समानता के आधार पर यह कहा जाता है कि केवलज्ञान का नाश नहीं हुआ।

इसीप्रकार वीतरागी पर्याय का भी प्रतिसमय अभाव होता है; किन्तु अगली पर्याय भी वैसी ही वीतरागी होती है। अतः यह कहा जाता है कि राग-द्वेष का ऐसा नाश किया कि उसका फिर कभी उत्पाद नहीं होगा।

इसी अपेक्षा को ध्यान में रखकर यहाँ यह बात कही गई है कि राग का ऐसा नाश किया कि जिसका कभी उत्पाद नहीं होगा और सर्वज्ञता का ऐसा उत्पाद किया कि जिसका कभी नाश नहीं होगा तथा उसमें निरन्तर होनेवाला उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो विद्यमान ही है।

इस गाथा का स्पष्टीकरण तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार किया गया है

-

“शुद्धोपयोग के प्रसाद से इस आत्मा के शुद्धात्मस्वभावरूप केवलज्ञान का उत्पाद प्रलय का अभाव होने से विनाशरहित है और अशुद्धात्मस्वभावरूप मोह-राग-द्वेष का विनाश पुनः उत्पत्ति का अभाव होने से उत्पादरहित है। इससे यह कहा गया है कि उक्त आत्मा के सिद्धरूप

से अविनाशीपना है। - ऐसा होने पर भी उस आत्मा के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समन्वय विरोध को प्राप्त नहीं होता; क्योंकि विनाशरहित उत्पाद के साथ, उत्पादरहित विनाश के साथ और उन दोनों के आधारभूत द्रव्य के साथ वह आत्मा समवेत है, तन्मयता से युक्त है, एकमेक है।”

तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय लगाकर स्पष्ट करते हैं।

उक्त गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जैसे मक्खन से घी बनने के बाद फिर वापस घी से मक्खन नहीं हो सकता अथवा जैसे लेंडीपीपर में से चौंसठ पुटी तिखास प्रगट होने के बाद चौंसठ पुटी में से मूल सामान्यरूप लेंडीपीपर नहीं हो सकती अथवा जैसे कच्चे चने को पकाने पर वह मीठा हो जाता है; किन्तु वह पका चना फिर कच्चा चना नहीं हो सकता और वापिस फिर से नहीं उग सकता; वैसे ही शुद्ध चिदानन्द आत्मा का भान और रमणता करके पूर्णदशा प्रगट होने के बाद फिर संसार में अवतार नहीं होता।

शुद्ध उपयोग के प्रसाद से पूर्णदशा होती है। जैसे चौंसठ पुटी तिखास प्रगट होने पर वापिस फिर से त्रेसठ पुटी नहीं होती। जैसे त्रेसठ पुटी तिखास चौंसठ पुटी तिखासरूप होती है; वैसे ही चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होकर पूर्णदशा होती है; वह नवीनदशा है, यह दशा पहले नहीं थी। पूर्ण सर्वज्ञ पद प्रगट हुआ जो फिर पीछे नहीं जाता। पुण्य-पाप के परिणाम तो पुनः-पुनः (बारम्बार) क्रम-क्रम से बदलते हैं, किन्तु शुद्धोपयोग से जो पूर्णदशा प्रगट होती है, वह आकर फिर नहीं जाती। इसीलिए पुण्य-पाप परिणाम करने लायक नहीं है। शुद्ध स्वभाव के अवलम्बन से जो पूर्णदशा प्रगट होती है, वह सादि-अनन्तकाल रहती है। सिद्धदशा प्रत्येक समय बदलने पर भी ऐसी की ऐसी ही रहती है।^१

आत्मा स्वयं शुद्धपने उत्पन्न हुआ है - यह उत्पाद अपेक्षा है, अशुद्धपने का नाश हुआ है - यह व्यय अपेक्षा है और उस समय स्वयं ध्रुव है। इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक समय में है। यह लकड़ी जो टेढ़ी होती है, उसमें टेढ़े होनेरूप अवस्था का उत्पाद, सीधेरूप अवस्था का व्यय और स्वयं ध्रुव - इसप्रकार तीनों एकसाथ हैं। इसीतरह सिद्ध में समझना चाहिए।^१

सिद्ध में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लागू पड़ते हैं। वहाँ अविनाशीपना होने पर भी नया-नया अनुभव होता है। अविनाशीपना कहा है; इसकारण वहाँ परिणमन नहीं होता हो - ऐसा इसका अर्थ नहीं है। वहाँ अशुद्धता नहीं होती, किन्तु वहाँ भी समय-समय अवस्था बदलती है। यदि एक समय के लिए भी पलटने का स्वभाव न हो तो जो एक समय नहीं पलटे वह दूसरे समय में भी नहीं पलटे तो अनुभव ही नहीं होगा।^२ इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य शुद्ध स्वभावपने सिद्ध में भी लागू होता है।^३

उक्त गाथा के भाव को वृन्दावनदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

(द्रुमिल)

तिस ही अमलान चिदात्म के, निहचै करि वर्तत है जु यही।

उतपात भयो जो विशुद्ध दशा, तिसको न विनाश लहै कब ही।।

अरु भंग भये परसंगिक भावनि को उतपाद नहीं जो नहीं।

पुनि है तिनके ध्रुव वै उतपाद, सदीव सुभाविकमाहिं सही।।६५।।

उसी अमल चिदात्मा के निश्चय से अत्यन्त निर्मलदशा का जो उत्पाद हुआ है; उसका कभी नाश नहीं होगा तथा विकारी भावों का जो विनाश हुआ है; उन विकारी भावों का अब कभी भी उत्पाद नहीं होगा। ऐसी स्थिति होने पर भी उस आत्मा के स्वाभाविक उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व सदा रहेंगे।

(दोहा)

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१४० २. वही, पृष्ठ-१४०-१४१ ३. वही, पृष्ठ-१४१

शुद्धपयोग अराधि के सिद्ध भये सरवंग।

जे अनन्त ज्ञानादि गुन तिनको कबहुँ न भंग।।६६।।

अरु अनादि के करम मल तिनको भयो विनाश।

सो फिर कबहुँ न ऊपजै जहाँ शुद्ध परकाश।।६७।।

पुनि ताही चिद्रूप के वर्तत हैं यह धर्म।

उपजन विनशन ध्रुव रहन साहजीक पद मर्म।।६८।।

द्रव्यदृष्टि कर ध्रौव्य है उपजत विनशत पर्ज।

षट्गुनहानरु वृद्धि करि वरनत श्रुति भ्रम वर्ज।।६९।।

शुद्धोपयोग की आराधना करके जो आत्मा सर्वांग सिद्ध हो गये हैं; उन्हें प्रगट अनन्त ज्ञानादि गुणों का कभी भी नाश नहीं होगा। और अनादिकाल के भावकर्मों का ऐसा विनाश हुआ है कि वे फिर कभी उत्पन्न नहीं होंगे तथा आत्मा का शुद्धप्रकाश सदा कायम रहेगा। उसी आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व धर्म सहजभाव से सदा विद्यमान रहता है।

यह भगवान आत्मा द्रव्यार्थिकनय से ध्रुव और पर्यायार्थिकनय से उत्पन्न व नाश को प्राप्त होता है। इस आत्मा में षट्गुणी हानि और वृद्धि निरन्तर हुआ करती है - ऐसा शास्त्रों में निभ्रान्त रूप से कहा है।

इसप्रकार इस गाथा में यह कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु का अनादि से अनन्तकाल तक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त रहना सहजस्वभाव है।

अतः यद्यपि यह स्वयंभूसिद्ध परमात्मा संसार अवस्था के समान सिद्धअवस्था में भी निरन्तर बदलता रहेगा, उत्पाद-व्यय करता करता रहेगा; तथापि ऐसा कभी नहीं होगा कि वह सिद्ध अवस्था छोड़कर संसारी हो जाय; क्योंकि उसने संसार अवस्था का ऐसा व्यय किया है कि जिसका दुबारा कभी भी उत्पाद नहीं होगा और सिद्ध अवस्था का ऐसा उत्पाद किया है कि जिसका कभी नाश नहीं होगा।

तात्पर्य यह है कि सिद्धअवस्था का व्यय तो होगा, पर अगली

प्रवचनसार गाथा-१८

विगत गाथा में यह बताया गया है कि सिद्धभगवान के व्ययरहित उत्पाद और उत्पादरहित व्यय होने पर भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सदा विद्यमान रहते हैं। अब इस १८ वीं गाथा में यह बताते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तो प्रत्येक वस्तु का सहज स्वभाव है।

मूल गाथा इसप्रकार है -

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्टजादस्स ।

पज्जाएण दु केणवि अट्टो खलु होदि सव्वभूदो ॥१८॥

(हरिगीत)

सभी द्रव्यों में सदा ही होंय रे उत्पाद-व्यय ।

ध्रुव भी रहे प्रत्येक वस्तु रे किसी पर्याय से ॥१८॥

सभी पदार्थों के किसी पर्याय से उत्पाद और किसी पर्याय से विनाश होता है तथा किसी पर्याय से सभी पदार्थ सद्भूत हैं, ध्रुव हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है

“जिसप्रकार स्वर्ण की उत्तरपर्यायरूप बाजूबंद पर्याय से उत्पत्ति दिखाई देती है और पूर्वपर्यायरूप अंगूठी पर्याय से विनाश देखा जाता है तथा बाजूबंद और अंगूठी - दोनों ही पर्यायों में उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त नहीं होने से पीलापन पर्याय का ध्रुवत्व देखा जाता है। उसीप्रकार सभी द्रव्यों के किसी पर्याय से उत्पाद, किसी पर्याय से व्यय और किसी पर्याय से ध्रौव्य होता है - ऐसा जानना चाहिए।

उक्त कथन से यह प्रतिपादित हुआ कि शुद्ध आत्मा के भी द्रव्य का लक्ष्यभूत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप अस्तित्व अवश्यंभावी है।”

आचार्य जयसेन ने इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए विविध उदाहरणों से अनेक अपेक्षायें स्पष्ट की हैं; जिनका संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण पाण्डे हेमराजजी ने भावार्थ में इसप्रकार किया है -

“द्रव्य का लक्षण अस्तित्व है और अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है। इसलिए किसी पर्याय से उत्पाद, किसी पर्याय से विनाश और किसी पर्याय से ध्रौव्यत्व प्रत्येक पदार्थ के होता है।

प्रश्न - द्रव्य का अस्तित्व उत्पादादिक तीनों से क्यों कहा है, एकमात्र ध्रौव्य से ही कहना चाहिए; क्योंकि जो ध्रुव रहता है, वह सदा बना रह सकता है ?

उत्तर - यदि पदार्थ ध्रुव ही हो तो मिट्टी, सोना, दूध इत्यादि समस्त पदार्थ एक ही सामान्य आकार से रहना चाहिए; और घड़ा, कुंडल, दही इत्यादि भेद कभी न होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् भेद तो अवश्य दिखाई देते हैं। इसलिए पदार्थ सर्वथा ध्रुव न रहकर किसी पर्याय से उत्पन्न और किसी पर्याय से नष्ट भी होते हैं। यदि ऐसा न माना जाये तो संसार का ही लोप हो जाये।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है, इसलिए मुक्त आत्मा के भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अवश्य होते हैं। यदि स्थूलता से देखा जाये तो सिद्ध पर्याय का उत्पाद और संसार पर्याय का व्यय हुआ तथा आत्मत्व ध्रुव बना रहा। इस अपेक्षा से मुक्त आत्मा के भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है।

अथवा, मुक्त आत्मा का ज्ञान, ज्ञेय पदार्थों के आकाररूप हुआ करता है। इसलिए समस्त ज्ञेय पदार्थों में जिस-जिस प्रकार से उत्पादादिक होते हैं; उस-उस प्रकार से ज्ञान में उत्पादादिक होते रहते हैं; इसलिए मुक्त आत्मा के समय-समय पर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं।

अथवा अधिक सूक्ष्मता से देखा जाये तो अगुरुलघुगुण के कारण

होनेवाली षट्गुणी हानि-वृद्धि के निमित्त से मुक्त आत्मा में समय-समय पर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वर्तते हैं। यहाँ जैसे सिद्धभगवान के उत्पादादि कहे हैं; उसीप्रकार केवली भगवान के भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए।^१

उक्त गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इस गाथा में किसी पर्याय से पदार्थ को ध्रुव कहा गया है, यहाँ पर्याय का अर्थ गुण समझना चाहिए।^२

एक वस्तु तीन अंशों द्वारा सिद्ध न हो तो वह वस्तु ही सिद्ध नहीं होगी। यदि एक वस्तु एक समय में न बदले तो वह दूसरे समय में भी नहीं बदलेगी व तीसरे समय में भी नहीं बदलेगी; इसप्रकार नहीं बदलने से अधर्मदशा का नाश करके धर्मदशा भी प्रगट नहीं हो सकेगी।^३

सहवर्ती पर्याय से पदार्थ वास्तव में ध्रुव है और क्रमवर्ती पर्याय से पूर्व अवस्था का नाश होकर नई अवस्थारूप उत्पन्न होता है, इसप्रकार वह अध्रुव है। यदि अवस्था में परिणामन न हो तो कार्य नहीं हो सकता और यदि ध्रुवपना न हो तो ध्रुव के आधार बिना कार्य ही प्रगट नहीं होगा।

प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वयं से हैं, किन्तु पर के कारण नहीं। जैसे उत्तम सोने की बाजूबंद की पर्याय से उत्पत्ति दिखाई देती है, किन्तु सोनी और हथौड़ी से वह पर्याय उत्पन्न हुई है - ऐसा दिखाई नहीं देता। अन्य वस्तु भले ही वहाँ उपस्थित हो; किन्तु हथौड़ी, सोनी आदि से कार्य नहीं हुआ है।^४

जगत के पदार्थ एक समय में रूपान्तरता को प्राप्त करते हैं; इसलिए मात्र ध्रुवपना वह पदार्थ का लक्षण नहीं है। अतः ध्रुवपने के साथ रूपान्तर होना चाहिए, तब ही वस्तु का स्वरूप सिद्ध होता है।^५

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय होने से सिद्ध (मुक्त)

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१४३
३. वही, पृष्ठ-१४५

२. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१४४
४. वही, पृष्ठ-१४८

आत्मा को भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों ही अंश होते हैं। स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो सिद्ध पर्याय का उत्पाद हुआ, संसार पर्याय का व्यय हुआ और गुणपने ध्रुव रहना - इस अपेक्षा से सिद्ध को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना है। अंतरंग में शुद्ध चिदानन्द स्वरूप विद्यमान है, उसमें से जो शुद्ध पर्याय प्रगट हुई, उसरूप उत्पन्न होना, पूर्व अवस्थारूप न होना और स्वयं गुणपने ध्रुव रहना - इसप्रकार सिद्ध जीवों में भी उत्पाद-व्यय ध्रौव्य हैं।^१

अत्यंत सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाये तो अगुरुलघुत्व से होनेवाली षट्गुणी हानि-वृद्धि के कारण मुक्त आत्मा में प्रत्येक समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वर्तते हैं। अगुरुलघुत्व गुण में पूर्व अवस्था का व्यय होता है, नई अवस्थारूप उत्पन्न होता है और स्वयं ध्रुव रहता है।

जिसप्रकार यहाँ सिद्ध भगवान के उत्पादादि कहे गये हैं; उसीप्रकार केवली भगवान के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए।^२”

कविवर वृन्दावनदासजी ने प्रवचनसार परमागम में उक्त सम्पूर्ण विषयवस्तु को समेटते हुए २६ छन्द लिखे हैं, जो मूलतः पठनीय हैं। उनमें से कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण छन्द इसप्रकार हैं -

(दोहा)

दरवमांहि दो शक्ति हैं भाषी गुन परजाय ।
इन बिन कबहुँ न सधि सकत कीजे कोटि उपाय ॥८३॥
नित्य तदातमरूपमय ताको गुन है नाम ।
जो क्रमकरि वरतै दशा सो परजाय ललाम ॥८४॥
कहीं कही है द्रव्य की दोइ भांति परजाय ।
नित्यभूत तद्रूप इक दुतिय अनित्य बताय ॥८५॥
नित्यभूत को गुन कहैं दुतिय अनित्य विभेद ।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१४९

२. वही, पृष्ठ-१५०

ताहि कही परजाय गुरु यह मत प्रबल अछेद ॥८६॥
 तिन परजायकरि दरब उपजत विनशत मान ।
 ध्रौव्यरूप निजगुणसहित दुहूँ दशा में जान ॥८७॥
 याही कर सद्भाव तसु यह है सहज स्वभाव ।
 यहाँ तर्क लागै नहीं वृथा न गाल बजाव ॥८८॥

प्रत्येक द्रव्य में गुण और पर्याय – ये दो प्रकार की शक्तियाँ कही गई हैं। करोड़ों उपाय करने पर भी इनके बिना वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती।

इनमें जिनका वस्तु के साथ नित्यतादात्म्य संबंध है, उन्हें गुण कहते हैं और जो दशा क्रम से उत्पन्न होती है, उसे पर्याय कहते हैं।

जिनागम में कहीं-कहीं द्रव्य की दो प्रकार की पर्यायें कही हैं; उनमें पहली नित्यरूप है, तद्रूप है और दूसरी अनित्य।

उनमें जो पर्याय नित्य है, उसे गुण कहते हैं और जो पर्याय अनित्य है, उसे पर्याय कहते हैं। यह अत्यंत प्रबल और अछेद्य मत है।

इन पर्यायों की अपेक्षा से द्रव्य उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और उत्पाद-व्ययरूप दोनों अवस्थाओं में अपने गुणों के साथ ध्रुवरूप रहता है।

इसी से वस्तु का सद्भाव है और यह वस्तु का सहज स्वभाव है। इसमें कोई तर्क-वितर्क नहीं लगता; इसलिए व्यर्थ में गाल बजाने से कोई लाभ नहीं है।

उक्त गाथा में वस्तु के उस स्वभाव का निरूपण है, जो प्रत्येक वस्तु का सहज स्वभाव है, मूलभूत स्वभाव है; क्योंकि सत् द्रव्य का लक्षण है^१ और वह सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है।^२

एक विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ गुण और पर्याय –

१. सद्द्रव्यलक्षणम् : तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र), अध्याय-५, सूत्र-२९

२. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् : तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र), अध्याय-५, सूत्र-३०

इन दोनों को ही पर्याय शब्द से अभिहित किया गया है। यद्यपि आगम में भी इसप्रकार के कथन आते ही हैं; तथापि आजकल इसप्रकार के प्रयोग कम ही होते देखे हैं।

गुणों को सहभावी पर्याय और पर्यायों को क्रमभावी पर्याय आगम कहा ही है। उसी को यहाँ मुख्य किया गया है। यही कारण है कि यहाँ इसप्रकार का प्रयोग हुआ है कि किसी पर्याय से वस्तु उत्पाद-व्ययरूप है और किसी पर्याय से ध्रुवरूप। तात्पर्य यह है कि क्रमभावी पर्याय से उत्पाद-व्ययरूप है और सहभावी पर्याय अर्थात् गुणों की अपेक्षा ध्रुव है।

सब कुछ मिलाकर इस प्रकरण में यही कहा गया है कि सभी द्रव्यों के समान सिद्ध आत्मा भी, सर्वज्ञ आत्मा भी यद्यपि उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त हैं; तथापि वे सदाकाल सिद्ध ही रहेंगे, संसारी कभी नहीं होंगे।

आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में इसके बाद एक गाथा ऐसी प्राप्त होती है कि जो आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका में उपलब्ध नहीं होती। वह गाथा इसप्रकार है –

तं सव्वट्टवरिडुं इडुं अमरासुरप्पहाणेहिं ।
 ये सदहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥
 (हरिगीत)

असुरेन्द्र और सुरेन्द्र को जो इष्ट सर्व वरिष्ठ हैं।

उन सिद्ध के श्रद्धालुओं के सर्व कष्ट विनष्ट हों ॥

जो सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ तथा देवेन्द्र और असुरेन्द्रों के इष्ट हैं; उन सिद्ध भगवान की श्रद्धा जो जीव करते हैं; उनके सभी दुःखों का क्षय हो जाता है।

उक्त गाथा में तो मात्र यही कहा गया है कि जिन सर्वज्ञ भगवान की, सिद्ध भगवान की यहाँ चर्चा चल रही है; वे सर्वश्रेष्ठ हैं, देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों को भी इष्ट हैं और जो व्यक्ति उनके स्वरूप को सही रूप में जानकर-पहिचान कर उनकी श्रद्धा करते हैं; उनके सभी कष्ट नष्ट हो जाते हैं।

इस बात का विशेष स्पष्टीकरण आगे चलकर ८० वीं गाथा में आयेगा।

प्रवचनसार गाथा-१९-२०

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह स्वयंभू भगवान आत्मा शुद्धोपयोग के प्रभाव से इन्द्रियातीत हो गया है, उसके ज्ञान और आनन्द अतीन्द्रिय हो गये हैं। वह अनन्तज्ञान और अनन्तसुख से सम्पन्न हो गया है।

ऐसी स्थिति में इन्द्रियों से ही ज्ञान और आनन्द की उत्पत्ति माननेवाले अज्ञानीजनों को यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि बिना इन्द्रियों के इस भगवान आत्मा को ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

उक्त आशंका का सतर्क समाधान ही इन आगामी गाथाओं में किया गया है; जो इसप्रकार हैं -

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो ।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ॥१९॥
सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

(हरिगीत)

अतीन्द्रिय हो गये जिनके ज्ञान सुख वे स्वयंभू ।
जिन क्षीणघातिकर्म तेज महान उत्तम वीर्य हैं ॥१९॥
अतीन्द्रिय हो गये हैं जिन स्वयंभू बस इसलिए ।
केवली के देहगत सुख-दुःख नहीं परमार्थ से ॥२०॥

जिनके घातिकर्म क्षय हो चुके हैं; जो अतीन्द्रिय हो गये हैं, जिनका तेज अधिक और वीर्य उत्तम है; ऐसे वे स्वयंभू भगवान आत्मा ज्ञान और सुखरूप परिणामन करते हैं।

केवलज्ञानी के शरीर संबंधी सुख-दुःख नहीं होते; क्योंकि उनके ज्ञान और आनन्द में अतीन्द्रियता उत्पन्न हो गई है।

१९वीं गाथा का अर्थ ऐसा भी किया जा सकता है कि जिनके घातिकर्म क्षय हो चुके हैं, जिनका तेज अधिक और वीर्य उत्तम है; उन स्वयंभू भगवान के ज्ञान और सुख अतीन्द्रिय हो गये हैं।

ये शुद्धोपयोग अधिकार की अंतिम गाथायें हैं। इसके उपरान्त अब क्रमशः ज्ञान अधिकार और सुख अधिकार आरंभ होगा। आगामी अधिकारों की विषयवस्तु का संकेत इन गाथाओं में आ गया है।

इन गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि अरहंत भगवान के चार घातिया कर्मों के नाश हो जाने से उनके ज्ञान और सुख अतीन्द्रियपने को प्राप्त हो गये हैं; इसकारण उनके पुण्य-पाप के उदय में होनेवाले देहगत सुख-दुःख नहीं होते। वे स्वयंभू सर्वज्ञ भगवान अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द और क्षायिकभावरूप अनंतज्ञान के धारी हो गये हैं। उनका वह अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख कैसा है? इस बात का विशेष वर्णन आगामी अधिकारों में स्वतंत्ररूप से किया जायेगा।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

“शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से जिसके घातिकर्म क्षय हो गये हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन के साथ असंपृक्त (सम्पर्क रहित) होने से जो अतीन्द्रिय हो गया है, समस्त अन्तराय का क्षय होने से जिसका उत्तम वीर्य है और समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण का प्रलय हो जाने से जिसका केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक तेज अधिक है; ऐसा यह स्वयंभू आत्मा समस्त मोहनीय कर्म के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वभाववाले आत्मा का अनुभव करता हुआ स्वयमेव स्व-पर प्रकाशकता लक्षण ज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुखरूप होकर परिणमित होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान और आनन्द आत्मा का स्वभाव ही है।

चूँकि स्वभाव पर से निरपेक्ष होता है; इसलिए आत्मा के ज्ञान और आनन्द भी निरपेक्ष ही होते हैं, उन्हें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है, देह की अपेक्षा नहीं है; वे पूर्णतः स्वाधीन हैं। आत्मा को सुखरूप और ज्ञानरूप परिणमित होने के लिए पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है, आवश्यकता नहीं है।

जिसप्रकार तप्त लोहपिण्ड के विलास से अग्नि भिन्न ही है; उसीप्रकार शुद्ध आत्मा के इन्द्रियाँ नहीं हैं, शरीर नहीं है। इसलिए जिसप्रकार लोहे के गोले से भिन्न अग्नि को घन के घात नहीं सहने पड़ते; उसीप्रकार शुद्ध आत्मा के शरीर संबंधी सुख-दुःख नहीं होते।”

१९वीं गाथा में घातिया कर्मों के अभाव में उत्पन्न होनेवाले अनन्त चतुष्टय की चर्चा की गई है और २०वीं गाथा में यह कहा गया है कि सर्वज्ञ भगवान के देहगत अर्थात् इन्द्रिय सुख-दुःख नहीं होते; क्योंकि वे अतीन्द्रिय ज्ञान व अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमित हो गये हैं।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के अभाव से अथवा क्षयोपशम ज्ञान-दर्शन के अभाव से अथवा इन्द्रियज्ञान-दर्शन के अभाव से केवलज्ञानी व केवलदर्शनी अथवा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन वाला तथा अन्तराय कर्म के अभाव से अनंतवीर्य का धनी यह स्वयंभू भगवान आत्मा मोहनीय कर्म के अभाव के कारण निज चैतन्य तत्त्व का अनुभव करता हुआ स्वयं स्वभाव से ही स्व-परप्रकाशक ज्ञान और अनाकुललक्षण सुखरूप परिणमित होता है। अतः वह निरपेक्षभाव से अनन्तज्ञान और अनन्तसुखमय है।

अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि स्वभाव ही उसे कहते हैं कि जिसमें पर की अपेक्षा न हो। यही कारण है कि शुद्धोपयोग से घातिकर्म के अभाव होते ही यह आत्मा इन्द्रियों के

बिना ही स्वाभाविकरूप से स्वयं ही ज्ञान और आनन्दरूप से परिणमित हो जाता है।

जो लोग सर्वथा ऐसा मानते हैं कि आत्मा पर को जानता ही नहीं है; उन्हें आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए कि जिसमें कहा गया है कि स्व-पर-प्रकाशकत्व ज्ञान का लक्षण है।

अब यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि यह कैसे हो सकता है; क्योंकि अरहंत भगवान के देह विद्यमान है, इन्द्रियाँ विद्यमान हैं; इसकारण उनके देहगत इन्द्रिय सुख-दुःख तो होना ही चाहिए ?

इसी प्रश्न के उत्तर में २०वीं गाथा लिखी गई है। इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए अमृतचन्द्र ने लोहे के पिण्ड से भिन्न अग्नि का उदाहरण दिया है। कहा है कि जब लोहे के संसर्ग के अभाव के कारण लोहे पर पड़ने वाली घन की चोटें अग्नि को नहीं लगती; तब आत्मा के शरीर संबंधी सुख-दुःख कैसे हो सकते हैं?

प्रश्न – हमने तो ऐसा पढ़ा है कि –

कर्म विचारे कौन भूल तेरी अधिकाई।

अग्नि सहे घनघात लौह की संगति पाई।।

जिसप्रकार लौह की संगति में पड़ने से अग्नि को घनों का घात सहना पड़ता है; उसीप्रकार इस आत्मा ने स्वयं को भूलकर अर्थात् स्वयं की भूल से कर्मों की संगति की है और अनंत दुःख उठाये हैं; इसमें कर्मों का क्या दोष है ?

उक्त कथन में तो यह आया है कि आत्मा ने देहगत दुःख पाये हैं और आप कह रहे हैं कि आत्मा के देहगत सुख-दुःख नहीं हैं।

उत्तर – अरे भाई! उक्त छन्द में संसारी अज्ञानी आत्मा की बात है और यहाँ अनन्त चतुष्टयरूप परिणमित सर्वज्ञ भगवान की बात है। वहाँ लौह की संगति में पड़ी अग्नि की बात है और यहाँ लौह की संगति में न

पड़ने वाली अग्नि की बात है; वहाँ घनघात सहने वाली अग्नि की बात है और यहाँ घनघात न सहनेवाली अग्नि की बात है।

वहाँ कर्म की संगति में पड़नेवाले सभी आत्माओं को विकार होता, सांसारिक सुख-दुःख होते हैं - यह कहा है और यहाँ यह कहा जा रहा है कि जिसप्रकार इन्द्रियों और शरीर के संयोग में होने पर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहनेवाले वीतरागियों को शरीरगत-इन्द्रियगत सुख-दुःख नहीं होते।

उक्त छन्द संबंधी उदाहरण में कर्म की बात कही है और यहाँ शरीर की बात करके नोकर्म की बात की है।

इसप्रकार इन दोनों कथनों में महान अन्तर है। उदाहरण की स्थूल समानता देखकर ही ऐसा प्रश्न खड़ा होता है। यदि उनमें अन्तर को बारीकी से देखेंगे तो सब बात सहज ही स्पष्ट हो जावेगी।

आचार्य जयसेन ने इस प्रकरण पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए केवलीभुक्ति अर्थात् केवली कवलाहार का डटकर निषेध किया है; जो मूलतः पठनीय है।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में १९वीं गाथा का तो सामान्य अर्थ ही करते हैं; पर २०वीं गाथा की चर्चा में केवली कवलाहार का निषेध करते हुए अनेक छन्द लिखते हैं; जो मूलतः पठनीय हैं।

श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय से आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार को पाकर दिगम्बर परम्परा में आये आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने भी इस प्रकरण पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, जिसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है -

“अब अतीन्द्रियता के कारण ही शुद्ध आत्मा (केवली भगवान के) शारीरिक सुख-दुःख नहीं है - यह व्यक्त करते हैं। भगवान को क्षुधा, तृषा, रोग, उपसर्गादि हीनता (दोष) माननेवाला केवली के स्वरूप को नहीं जानता।

प्रश्न - कोई कहे कि केवली भगवान को आहारक कहा गया है; इसलिए हम उन्हें आहारादि ग्रहण करनेवाले माने तो क्या आपत्ति है ?

समाधान - केवली भगवान के शरीर के सभी भाग में और असंख्यात आत्मप्रदेशों में नोकर्म वर्गणा के परमाणु तथा द्रव्यकर्म के परमाणु आते हैं, इस अपेक्षा उन्हें आहारक कहा है; किन्तु किसी भी प्रकार से वे कवलाहार ग्रहण करें - ऐसे केवली जिनागम में नहीं कहा है। रोटी खाए वे आहारक और रोटी न खाए वे अनाहारक - ऐसी व्याख्या जिनशास्त्र के हिसाब से सही नहीं है; क्योंकि विग्रहगति में अनाहारक का समय तो एक समय से तीन समय तक है; इसलिए भगवान को कवलाहार की अपेक्षा आहारक कहा ही नहीं है, किन्तु अन्य परमाणु आने की अपेक्षा उन्हें आहारक कहा है।

देखो ! सर्वार्थसिद्धि टीका अध्याय २, सूत्र ४, पृष्ठ १४, १५ में कहा है कि - ‘लाभान्तराय’ कर्म के सम्पूर्ण अभाव से किसी भी प्रकार से कवलाहार की क्रिया नहीं है - ऐसे केवली भगवान होने से जिनको शरीर के आधार का कारण और अन्य मनुष्य में न रहे - ऐसे अत्यंत सूक्ष्म और शुभ पुद्गल के सूक्ष्म अनन्त परमाणु प्रति समय शरीर संबंध को प्राप्त करते हैं। इसलिए सिद्ध होता है कि किसी भी केवली भगवान को कवलाहार कभी भी नहीं हो सकता।^१

केवली भगवान को शरीर संबंधी क्षुधा-तृषा नहीं होती; क्योंकि वे सम्पूर्ण अतीन्द्रियता को प्राप्त किये हुए हैं। मुनिराज आहार लेते हैं तो वे ज्ञान-दर्शन व ध्यान के अर्थ (प्रयोजन से) लेते हैं; इसलिए मुनि के आहार लेने का भाव भी पुण्य है, पापभाव नहीं। मुनि को आहारसंज्ञा हुई और यदि गृह्यता हो जाय तो पाप है; किन्तु ज्ञान-दर्शन के, ध्यान के हेतु (प्रयोजन से) छटवें गुणस्थान के समय आहार लेते हैं; किन्तु जिनके ज्ञान-दर्शन, ध्यान का प्रयोजन ही पूर्ण हो गया है - ऐसे सर्वज्ञ भगवान को आहार नहीं होता।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१५५-१५६

मुनि को जो आहार लेने का भाव आता है, वह २८ मूलगुण पालन में शामिल होने से पुण्यभाव है। मुनिपना तो अपूर्णदशा है, पूर्ण वीतरागीदशा नहीं; इसलिए वहाँ आहार लेने का विकल्प आ जाता है, किन्तु जिन्हें पूर्ण दर्शन-ज्ञान-प्रगट हो गया है - ऐसे केवली भगवान को किसी भी तरह आहार नहीं होता, यह बात यहाँ स्पष्ट करते हैं।^१

सर्वज्ञ भगवान को भाव-इन्द्रिय नहीं, इसलिए जड़-इन्द्रिय तथा द्रव्यमन विद्यमान होने पर भी उनके साथ केवली भगवान को थोड़ा भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञ भगवान सम्पूर्णरूप से अतीन्द्रिय हैं। जैसे अग्नि को घनों की भयंकर मार पड़ने की परम्परा नहीं होती अर्थात् लोहे के गोले के संसर्ग का अभाव होने पर घन की भयंकर मार अग्नि को नहीं पड़ती। वैसे ही, केवलज्ञानरूप हुए शुद्ध आत्माओं को शरीर संबंधी थोड़ा भी सुख-दुख नहीं होता; इसलिए केवली भगवान को क्षुधा-तृषा रोगादिक दोष नहीं होते।^२

केवली भगवान अरहन्त को, जो चार अघातिया कर्म शेष हैं; वे भी मात्र जली हुई रस्सी के समान हैं; जैसे जली हुई रस्सी किसी को बांधने के काम में नहीं आती; वैसे ही अघाति कर्म कुछ भी दुःख उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते।^३

सर्वज्ञ अरहन्त भगवान को शरीर है, किन्तु इन्द्रियों के साथ उनका संबंध टूट गया है; इसलिए इन्द्रिय और इन्द्रियज्ञान के निमित्तों का अभाव होने से केवली भगवान को क्षुधा-तृषादि दोष कभी नहीं होते।^४

प्रश्न - आचार्य जयसेन और कविवर वृन्दावनलालजी ने केवली कवलाहार के संदर्भ में जो विचार व्यक्त किये हैं; उन्हें तो यहाँ उद्धृत नहीं किया गया, **अपितु मूलतः पठनीय है** कहकर ही काम चला लिया;

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१५७

२. वही, पृष्ठ-१५८

३. वही, पृष्ठ-१५८

४. वही, पृष्ठ-१५९

किन्तु स्वामीजी के विचारों को उद्धृत किया है। ऐसा क्यों किया गया?

उत्तर - अरे भाई ! आचार्य जयसेन और कविवर वृन्दावनजी तो मूलतः दिगम्बर हैं; अतः उनके विचार तो परम्परागत रूप से ही स्पष्ट हैं; किन्तु स्वामीजी जिस परम्परा से आये हैं और उन्होंने उक्त परम्परा का गहरा अध्ययन कर अपना मत परिवर्तन किया है। इस दृष्टि से उनका कथन देना अधिक आवश्यक प्रतीत हुआ।

दूसरे जो लोग आज भी उन्हें श्वेताम्बर ही मानते हैं और यह कहकर जनता को बरगलाते हैं कि वे तो दिगम्बरों को श्वेताम्बर बनाने आये थे और उनके अनुयायियों को भी प्रच्छन्न श्वेताम्बर कहने से नहीं चूकते; उनके लिए भी स्वामीजी उक्त वचन मार्गदर्शन अवश्य देंगे।

प्रश्न - गाथा में तो ऐसा नहीं कहा कि केवली के कवलाहार नहीं होता। वहाँ तो मात्र इतना ही कहा है कि केवली के देहगत सुख-दुःख नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी तत्त्वप्रदीपिका टीका में मात्र इतना ही लिखा है कि केवली के देहगत सुख-दुःख नहीं है।

इसमें केवली कवलाहार की बात कहाँ से आ गई? आचार्य जयसेन, कविवर वृन्दावनजी एवं स्वामीजी ने व्यर्थ ही कवलाहार की बात उठाकर दिगम्बर-श्वेताम्बर का भेद खड़ा कर दिया है।

उत्तर - अरे भाई! जगत में किसी को भी ऐसी धारणा हो सकती है कि अरहन्त भगवान के देह विद्यमान है तो देहगत सुख-दुःख भी होंगे ही?

भूख का लगना एकप्रकार से देहगत दुःख ही है और उस दुःख को मेंटने का जगप्रसिद्ध उपाय कवलाहार ही है। इसके आधार पर यह कल्पना सहज ही हो सकती है कि देहधारी के कवलाहार होना ही चाहिए।

इसप्रकार की धारणा से उत्पन्न शंका के समाधान बिना अरहन्त भगवान का सही स्वरूप समझ पाना संभव नहीं है। अतः उक्त समस्त ऊहापोह

उक्त शंका के समाधान में सहज ही हुआ है।

यह तो सहज संयोग ही है कि जैनियों के एक सम्प्रदाय में भी इसीप्रकार की धारणा पाई जाती है। इसीकारण ऐसा लगता है कि उक्त चर्चा उक्त सम्प्रदाय के खण्डन में की गई है।

एक ओर तो अरंहत भगवान को अनन्तसुखी कहना और दूसरी ओर उन्हीं को देहगत क्षुधा वेदना से सहित बताना तथा उसके उपचार हेतु कवलाहार की कल्पना करना सहज ही गले उतरनेवाली बात नहीं है।

अनन्तसुखी होने के साथ-साथ वे अनन्तज्ञान (केवलज्ञान-क्षायिकज्ञान-सर्वज्ञता) के धनी भी तो हैं। जब उनके केवलज्ञान में सबकुछ सदा प्रत्यक्ष भासित रहेगा, तब वे निरंतराय आहार कैसे ले सकते हैं ?

अरंहत भगवान पूर्ण वीतरागी भी तो हैं। वीतरागी कहते ही उसे हैं, जो अठारह दोषों से रहित होते हैं। अठारह दोषों में क्षुधा (भूख लगना) पहला दोष है और कवलाहार न केवल उक्त दोष का प्रतिफल है; अपितु उसकी सत्ता का सूचक भी है।

अतः यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि अनन्तज्ञान व अनन्तसुख के धनी वीतरागी-सर्वज्ञों के देहगत दुख (भूख) और उसके मेंटने का उपाय कवलाहार किसी भी रूप में संभव नहीं।

केवलियों के कवलाहार नहीं होता, नहीं हो सकता; यह मान्यता मात्र जैनियों के किसी सम्प्रदाय विशेष की ही नहीं है; अपितु वस्तु का सहजस्वरूप है और इसका प्रतिपादन भी दार्शनिक खण्डन-मण्डन के लिए नहीं, अपितु वस्तुस्वरूप का सहज प्रकाशन है। इसे एक साम्प्रदायिक मान्यता के रूप में देखकर उपेक्षित करना

समझने से नहीं है, क्योंकि हमें देहगत दुख है, बिना होयेगी जो को देहगत दुखी है ? हमें को लो यह आत्मा, अनादि से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही है, पर इस बात की जानकारी न होने से, ज्ञान न होने से ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान होने का कोई लाभ इसे प्राप्त नहीं हो रहा है।

- आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-

ज्ञानाधिकार

(गाथा २१ से गाथा ५२ तक)

प्रवचनसार गाथा २१-२२

शुद्धोपयोगाधिकार के अन्त में जिस अनन्तज्ञान और अनन्तसुख की बात की है अथवा अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख की बात की है; उनके संदर्भ में विस्तार से समझने के लिए अब क्रमशः ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार की बात करते हैं।

यद्यपि इन अधिकारों का नाम तो ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार ही है; तथापि इनमें ज्ञान और सुख गुणों की चर्चा न होकर अतीन्द्रिय ज्ञान (केवलज्ञान-सर्वज्ञता) और अतीन्द्रिय सुख (अनन्तसुख) की चर्चा है।

पहले ज्ञान अधिकार आरंभ करते हुए सर्वप्रथम २१वीं और २२वीं इन गाथाओं के माध्यम से यह बताते हैं कि केवली भगवान के ज्ञान में सभी पदार्थ प्रत्यक्षरूप से ज्ञात होते हैं, उनके कुछ भी परोक्ष नहीं है।

मूल गाथायें इसप्रकार हैं -

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।

सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।

अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२॥

(हरिगीत)

केवली भगवान के सब द्रव्य गुण-पर्याययुत ।

प्रत्यक्ष हैं अवग्रहादिपूर्वक वे उन्हें नहीं जानते ॥२१॥

सर्वात्मगुण से सहित हैं अर जो अतीन्द्रिय हो गये ।

परोक्ष कुछ भी है नहीं उन केवली भगवान के ॥२२॥

ज्ञानरूप से परिणमित हुए केवली भगवान के सर्वद्रव्य-पर्याय प्रत्यक्ष हैं, वे उन्हें अवग्रहादि क्रियाओं से नहीं जानते ।

जो सदा इन्द्रियातीत है, सर्व ओर से सर्वात्मगुणों से समृद्ध हैं और स्वयमेव ज्ञानरूप हुए हैं; उन केवली भगवान के कुछ भी परोक्ष नहीं है।

उक्त गाथाओं की व्याख्या आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार करते हैं -

“केवली भगवान इन्द्रियों के आलम्बन से अवग्रह-ईहा-अवायपूर्वक क्रम से नहीं जानते; अपितु समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही अनादि-अनंत, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानरूप होकर परिणमित होते हैं; इसलिए उनके समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों का अक्रमिक ग्रहण होने से प्रत्यक्षज्ञान की आलम्बनभूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही जो भगवान सांसारिकज्ञान को उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में हेतुभूत ऐसी जो अपने-अपने निश्चित विषयों को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों से अतीत हुए हैं; जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के ज्ञानरूप सर्व इन्द्रियगुणों से सर्व ओर से समरसरूप से समृद्ध हैं अर्थात् सभी स्पर्शादि को सर्वात्मप्रदेशों से जानते हैं और जो स्वयमेव समस्तरूप से स्वपर का प्रकाशन करने में समर्थ, अविनाशी, लोकोत्तर ज्ञानरूप हुए हैं; ऐसे इन केवली भगवान को समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अक्रमिक ग्रहण होने से कुछ भी परोक्ष नहीं है।”

तात्पर्यवृत्ति और प्रवचनसार परमागम में भी उक्त विषय को सामान्यरूप से इसीप्रकार स्पष्ट किया है।

उक्त गाथाओं और टीका का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“केवलज्ञान पर्याय प्रगट होते ही उन्होंने समस्त द्रव्यों को उनके समस्त गुण-पर्यायों सहित अक्रम/एक ही साथ, एक समय में जाना है। पहले जीव को जाने, फिर अजीव जानने में आए - ऐसा नहीं होता अथवा पहले द्रव्य को जाने बाद में क्षेत्र को जाने - ऐसा भी नहीं है। ऐसा केवलज्ञान की पर्याय का स्वरूप ही नहीं है। समस्त द्रव्य, उनके क्षेत्र,

उनकी पर्यायें और उनके भावों को अक्रमरूप से भगवान जानते हैं। पहले भूतकाल को जाने और इसके बाद भविष्य को जाने - ऐसा नहीं है।^१

केवलज्ञान इन्द्रियों के निमित्त बिना सर्व प्रदेशों से जानता है। अपने स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्याय तथा पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है। ऐसे अहेतुक ज्ञानस्वभाव को कारणपने ग्रहण करने से ज्ञान के आधार से प्रगट हुआ केवलज्ञान, स्वयमेव ही परिणमित होता है। इसलिए समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव को अवग्रहादि क्रम बिना ही जानने से केवली भगवान को कुछ भी परोक्ष नहीं है।

यदि जीव ज्ञान की अपूर्णता और राग की विपरीतता छोड़ना चाहता है तो पूर्णज्ञानी किसतरह हुए हैं और वे कैसे होते हैं - ऐसी दृष्टि और ज्ञान यथार्थ करना चाहिए, इसके बिना पूर्णता नहीं हो सकती। निचलीदशा में जो खण्ड-खण्ड ज्ञान काम करता था, अब पूर्णदशा होने पर उस खण्ड-खण्ड ज्ञान का अभाव हुआ और वह अक्रमरूप से जानने लगा।

केवली भगवान को ज्ञान, आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुआ है; इसलिए मुझे भी आत्मा के आश्रय से ही केवलज्ञान होगा; इसतरह जानकर आत्मा का अवलम्बन लेना ही धार्मिक क्रिया है। लेंडीपीपर में चौंसठ पुटी तिखास जो भीतर थी, वह आई है। तीनलोक व तीनकाल का ज्ञान अंदर ध्रुवस्वभाव की शक्ति में से आया है, किन्तु बाहर में से नहीं आया। इसतरह भगवान का ज्ञान समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव को क्रम रहित जानता है; इसलिए भगवान को कुछ भी परोक्ष नहीं होता।^२”

उक्त गाथाओं का मूल वजन तो इस बात पर है कि केवलज्ञानी स्व-पर सभी पदार्थों को अपनी भूत-भावी और वर्तमान पर्यायों के साथ एक समय में वर्तमानवत् ही प्रत्यक्ष जानते हैं; क्योंकि अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न उनका स्व-परप्रकाशक केवलज्ञान इन्द्रियाधीन नहीं है, परोक्ष नहीं है, असीन्द्रिय है और पूर्णतः स्वाधीन है।^३ ●

प्रवचनसार गाथा-२३

ज्ञानाधिकार की आरंभिक २१ एवं २२वीं गाथाओं में यह कहा गया है कि केवलज्ञानी सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं और अब यह कहा जा रहा है कि लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान सर्वगत है; क्योंकि ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है और आत्मा ज्ञानप्रमाण है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

आदा गाणपमाणं गाणं ज्ञेयप्पमाणमुद्धिदं ।
 ज्ञेयं लोयालोकं तम्हा गाणं तु सव्वगयं ॥२३॥
 (हरिगीत)

यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है।

हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोक और अलोक हैं; इसलिए ज्ञान सर्वगत (सर्वव्यापक) है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

“समगुणपर्यायं द्रव्यं अर्थात् युगपद् सभी गुण और पर्यायों ही द्रव्य हैं - इस वचन के अनुसार ज्ञान से हीनाधिकता रहित रूप से परिणमित होने के कारण आत्मा ज्ञानप्रमाण है और दाह्यनिष्ठ दहन (अग्नि) के समान ज्ञेयनिष्ठ होने से ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है।

अनन्त पर्यायमाला से आलिङ्गित स्वरूप से सूचित, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, षट्द्रव्यमयी लोक और अलोक के विभाग से विभक्त सभी कुछ ज्ञेय है। इसलिए सम्पूर्ण आवरण के क्षय के क्षण ही लोक और अलोक के विभाग से विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करने के कारण इसीप्रकार अच्युत रूप से रहने से ज्ञान सर्वगत है।”

द्रव्य की परिभाषा गुणपर्यायवद्द्रव्य^१ है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य गुण-पर्यायवाला होता है। चूंकि आत्मा एक द्रव्य है; अतः वह भी गुण और पर्यायवाला ही है।

अतः ज्ञानगुण और उसकी पूर्ण विकसित पर्याय केवलज्ञान के बराबर ही आत्मा है; इसलिए आत्मा ज्ञानप्रमाण है - ऐसा कहा गया है।

वस्तुतः बात यह है कि आत्मा द्रव्य, उसका ज्ञान गुण और उसकी केवलज्ञान पर्याय - ये तीनों क्षेत्र की अपेक्षा बराबर ही हैं।

जिसप्रकार दाह्यनिष्ठ दहन अर्थात् ईंधन को जलाती हुई अग्नि आकार में ईंधन (दाह्य) के बराबर ही होती है; उसीप्रकार ज्ञेयनिष्ठ अर्थात् ज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञान ज्ञेयप्रमाण ही होता है।

ज्ञेय तो षट्द्रव्यमयी लोकाकाश और अलोकाकाश सभी हैं। तात्पर्य यह है कि इस जगत में छह प्रकार के अनन्त द्रव्य, उनमें से प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुण और उनकी अनन्तानन्त पर्यायों आदि जो कुछ भी जगत में है, वह सभी ज्ञेय ही तो है। वे सभी ज्ञेय ज्ञान से जाने जाते हैं; क्योंकि जो ज्ञान द्वारा जाना जाय, उसे ही तो ज्ञेय कहा जाता है। इसप्रकार सभी को जाननेवाला ज्ञान सर्वगत है।

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं। विशेष बात यह है कि वे उक्त अभिप्राय को नय लगाकर स्पष्ट कर देते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि यह असंख्यातप्रदेशी आत्मा संसारावस्था में जिस देह में रहता है; उसी के आकार में परिणमित हो जाता है और सिद्ध अवस्था में किञ्चित् न्यून अंतिम देह के आकार में रहता है।

अतः निश्चय से तो यह आत्मा असंख्यातप्रदेशी देहप्रमाण ही है, आत्मगत ही है; तथापि यहाँ व्यवहारनय की मुख्यता से यह बात सिद्ध की है कि आत्मा सर्वगत अर्थात् लोकालोकव्यापी है।

१. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-५ सूत्र-३८

यह लोकालोकव्यापीपना उसप्रकार का नहीं है, जिसप्रकार का वेदान्तियों के यहाँ माना जाता है। वे तो आत्मा को सर्वथा लोकालोकव्यापी ही मानते हैं; किन्तु जैनमत में तो कथंचित् आत्मगत और कथंचित् सर्वगत माना गया है। निश्चय से आत्मगत और व्यवहार से सर्वगत माना गया है।

प्रत्येक आत्मा अपने असंख्यात प्रदेशों में ही रहता है। आत्मद्रव्य, उसके अनन्त गुण और अनंतानंत पर्यायों आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में ही सर्वांग व्यापते हैं; उनके बाहर नहीं जाते - यह आत्मगत होने का तात्पर्य है।

चूँकि आत्मा के ज्ञानगुण की पूर्ण विकसित निर्मल पर्याय केवलज्ञान में षट्द्रव्यमयी लोक और अलोक सभी प्रतिभासित होते हैं, वह सभी को जानता है; इसलिए यह कहा जाता है कि वह सर्वगत है।

गमनार्थक धातुओं का अर्थ जाना (चलना) भी होता है और जानना भी होता है। अतः सबको जाना तो सभी जगह चले गये - इस व्याख्या के अनुसार आत्मा सर्वगत है।

यह तो सर्वविदित ही है कि आकाशद्रव्य लोक में भी है और अलोक में भी है। शेष सभी द्रव्य लोकाकाश में ही रहते हैं।

फिर भी यहाँ कहा जा रहा है कि आत्मा सर्वगत है अर्थात् वह सभी जगह है। इसकी अपेक्षा यही है कि वह केवलज्ञानी आत्मा लोक के साथ अलोकाकाश को भी जानता है। इससे अधिक और कुछ नहीं; क्योंकि आत्मा का अलोकाकाश में जाना तो संभव है ही नहीं।

उक्त गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह आत्मा नित्य असंख्यप्रदेशी है तथा उसका ज्ञानगुण भी असंख्यप्रदेशी है, उसे कारण बनाकर उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान प्रगट होता है, यह केवलज्ञान पर्याय आत्मप्रमाण है।^१

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१८०

ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होने से, दाह्यनिष्ठ दहन के समान ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। यहाँ ज्ञान अर्थात् प्रगट हुई केवलज्ञान की पर्याय की बात समझना। केवलज्ञान ज्ञेयों में तत्पर अथवा ज्ञेयों में रहा हुआ है। अग्नि जलने योग्य ईंधन में प्रवेश कर गई है। उस आकाररूप हुई है; वैसे ही आत्मा की ज्ञानपर्याय ज्ञेयप्रमाण हुई है।

जैसे लकड़ी में अग्नि फैली हुई है, वैसे ही ज्ञान ज्ञेयों में फैलता है, इसतरह ज्ञान ज्ञेयों में रहने से ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है - यह व्यवहारनय का कथन है। यहाँ स्वतंत्रता सिद्ध करना है; लोकालोक जैसा परिणमित होता है - वैसे ही ज्ञान जानता है। जैसा लोकालोक परिणमित होता है, वैसे केवलज्ञान परिणमित होता है - ऐसा घनिष्ठ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।^१

जिसतरह माला के मोती जहाँ होते हैं, वहीं निश्चित होते हैं, किन्तु इधर-उधर नहीं होते। अनन्त ही द्रव्य स्वयं अपनी अनन्त पर्यायमाला से आलिंगित अर्थात् स्पर्शित हुए, पर्यायरूप से सूचित हैं। प्रत्येक ही जीव और अजीव द्रव्य अपनी पर्यायों में तन्मय हैं, अपनी पर्याय से भिन्न नहीं है।

पर्याय एक के बाद एक होती है। ऐसा ज्ञान जानता है। जैसा ज्ञान परिणमित होता है; वैसे ही ज्ञेय परिणमते हैं; और जैसे-जैसे ज्ञेय परिणमते हैं - वैसे-वैसे ज्ञान परिणमता है।

यहाँ पर्यायमाला कहकर क्रमसर-क्रमबद्ध कहते हैं। केवलज्ञान पर्याय क्रमबद्ध होती है और लोकालोक की पर्याय भी क्रमबद्ध होती है; किन्तु अपनी और पर की पर्याय को केवली भगवान अक्रम अर्थात् एकसाथ युगपद् जानते हैं। छद्मस्थ जीव को अपूर्णज्ञान होने से वे क्रम से जानते हैं, किन्तु केवली भगवान पूर्णज्ञान द्वारा सभी को अक्रम से जानते हैं। वे किसी को न जाने ऐसा नहीं होता।^२

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१८१

२. वही, पृष्ठ-१८२

ज्ञेय तो समस्त लोकालोक अर्थात् सभी हैं; इसमें भव्य-अभव्य, शुद्ध-अशुद्ध सभी आ गये। सभी ज्ञेय हैं और ज्ञान सर्व को जानता है।^१”

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि ज्ञान सबकुछ जानता है, अतः सर्वगत है। इसी बात को ऐसा भी कहा जा सकता है कि सभी जगत आत्मगत है; क्योंकि वह आत्मा के द्वारा जाना जाता है।

लोकालोक को जानने से आत्मा लोकालोक में पहुँच गया – ऐसा कहो या लोकालोक आत्मा में आ गया – ऐसा कहो, दोनों एक-सी ही बातें हैं। ज्ञेय-ज्ञायकरूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से उक्त कथन व्यवहारनय का ही कथन है।

परमार्थ से देखें तो न तो ज्ञान ज्ञेयों के पास जाता है और न ज्ञेय ज्ञान के पास आते हैं। दोनों अपनी-अपनी जगह पर रहते हुए ही ज्ञान ज्ञेयों को जान लेता है और ज्ञेय ज्ञान के जानने में आ जाते हैं। वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१८४

आत्मा को जानना ही सार्थक

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यानरूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही।

अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१

प्रवचनसार गाथा-२४-२५

विगत गाथा में आत्मा को ज्ञानप्रमाण बताया गया है। अब इन २४ और २५ वीं गाथाओं में उसी बात को युक्ति से सिद्ध करते हैं।

गाथार्ये मूलतः इसप्रकार हैं –

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि ध्रुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं जाणादि ॥२५॥

(हरिगीत)

अरे जिनकी मान्यता में आत्म ज्ञानप्रमाण ना ।
तो ज्ञान से वह हीन अथवा अधिक होना चाहिए ॥२४॥
ज्ञान से हो हीन अचेतन ज्ञान जाने किसतरह ।
ज्ञान से हो अधिक जिय किसतरह जाने ज्ञान बिन ॥२५॥

इस जगत में जिसके मत में आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं है; उसके मत में वह आत्मा अवश्य ही या तो ज्ञान से हीन (छोटा) होगा या फिर ज्ञान से अधिक (बड़ा) होगा।

यदि वह आत्मा ज्ञान से हीन (छोटा) हो तो वह ज्ञान अचेतन होने से जान नहीं सकेगा और अधिक (बड़ा) हुआ तो वह आत्मा ज्ञान के बिना कैसे जानेगा ?

सीधी-सी बात है कि यदि आत्मा ज्ञान के बराबर नहीं है तो या तो वह ज्ञान छोटा होगा या फिर बड़ा होगा। छोटा होने की स्थिति में ज्ञान का वह अंश कि जिसको चेतन आत्मा का आश्रय प्राप्त नहीं है, उसे अचेतनत्व प्रसंग आयेगा। उक्त ज्ञानांश को अचेतन मानने पर वह जानेगा कैसे ? क्योंकि जानना तो चेतनद्रव्य का ही काम है।

यदि आत्मा ज्ञान से बड़ा होगा तो फिर आत्मा का जो अंश ज्ञान से रहित होगा, वह जानने का काम करेगा कैसे ?

अतः यही उचित है कि आत्मा को ज्ञानप्रमाण ही स्वीकार किया जाये।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यदि यह स्वीकार किया जाय कि आत्मा ज्ञान से हीन है तो आत्मा से आगे बढ़ जानेवाला ज्ञान अपने आश्रयभूत चेतनद्रव्य का समवाय (संबंध) न रहने से अचेतन होता हुआ रूपादि गुणों जैसा अचेतन होने से नहीं जानेगा।

यदि ऐसा पक्ष स्वीकार किया जावे कि यह आत्मा ज्ञान से अधिक है तो ज्ञान से आगे बढ़ जाने से ज्ञान से रहित होता हुआ घट-पटादि जैसा होने से ज्ञान के बिना नहीं जानेगा।

इसलिए यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना योग्य है।”

इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में निष्कर्ष रूप में कहते हैं कि उक्त कथन से आत्मा को अंगूठे के पोर के बराबर, सावों के चावल बराबर और वटककणिका बराबर मानने-वालों का निराकरण हो गया। साथ ही उनका भी निराकरण हो गया कि जो आत्मा को सात समुद्घातों को छोड़कर भी देहप्रमाण से अधिक प्रमाणवाला मानते हैं।

इसप्रकार यह सहज ही प्रतिफलित होता है कि आत्मा और ज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा एक ही प्रमाण (नाप) वाले हैं और संसारदशा में समुद्घात को छोड़कर शेष काल में आत्मा देहप्रमाण ही होता है।

प्रवचनसार परमागम में कविवर वृन्दावनदासजी उक्त तथ्यों को निम्नांकित दोहों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं -

(दोहा)

जथा अगनि गुन उष्णतें हीन अधिक नहिं होत ।
 तथा आतमा ज्ञान गुन सहित बराबर जोत ॥११४॥
 अन्वय अरु व्यतिरेकता ज्ञान आतमा माहिं ।
 बिना ज्ञान आतम नहीं आतम बिनु सो नाहिं ॥११५॥
 जहाँ जहाँ है आतमा तहाँ तहाँ है ज्ञान ।
 जहाँ जहाँ है ज्ञान गुन तहाँ तहाँ जिय मान ॥११६॥
 तातें हीनाधिक नहीं ज्ञान सुगुनतें जीव ।
 हीनाधिक के मानतें बाधा लगत सदीव ॥११७॥
 कछु प्रदेश पै ज्ञान है कछु प्रदेश पै नाहिं ।
 यों मानत जड़ चेतना दोनों सम ह्वै जाहिं ॥११८॥

जिसप्रकार अग्नि अपने उष्णतारूप गुण से हीन और अधिक नहीं होती है; उसीप्रकार आत्मा भी अपने ज्ञानगुण के बराबर ही होता है।

आत्मा और ज्ञान में अन्वय और व्यतिरेक घटित होता है; क्योंकि आत्मा बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान बिना आत्मा नहीं होता।

जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहाँ-वहाँ ज्ञान है और जहाँ-जहाँ ज्ञानगुण है; वहाँ-वहाँ आत्मा भी है ही।

इसलिए जीव ज्ञानगुण से हीनाधिक नहीं है, हीनाधिक मानने में अनेक बाधायें आती हैं।

कुछ प्रदेशों पर ज्ञान है और कुछ प्रदेशों पर ज्ञान नहीं है। ऐसा मानने पर जड़ और चेतन दोनों एकसमान हो जाते हैं।

इन गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यदि, केवलज्ञान लोकालोक में प्रवेश कर जाए तो केवलज्ञान से आत्मा छोटा हो जायेगा और केवलज्ञान को आत्मा का आश्रय नहीं रहा तो ज्ञान को अचेतनपने का प्रसंग आता है। इसीतरह संसारदशा में भी

ज्ञान अपने द्रव्य को छोड़कर राग तथा पर-पदार्थों में प्रवेश कर जाए तो ज्ञान को अपने द्रव्य का आधार नहीं रहा, जिससे ज्ञान को अचेतनपने का प्रसंग आता है।

यदि, ज्ञान राग में प्रवेश कर जाए तो जैसे राग अचेतन है; वैसे ही ज्ञान के भी अचेतन होने का प्रसंग आवेगा। आश्रयरूप जो स्वद्रव्य, उससे रहित ज्ञान अचेतन रहेगा। केवलज्ञान हो अथवा अल्पज्ञान हो, ज्ञान तो अपने द्रव्य में व्यापक रहता है, किन्तु राग में व्यापक होकर नहीं रहता।^१

ज्ञानपर्याय तो आत्मा से उत्पन्न हुई है, वह लोकालोक को जानती है, इसलिए उसे सर्वगत कहा गया है; किन्तु इससे ज्ञानपर्याय बड़ी हो गई हो और आत्मा छोटा रह गया हो - ऐसा नहीं है। यदि, ज्ञान पर्याय आत्मा में न रहे और पर में चली जाये तो उसके अचेतनपने का प्रसंग आयेगा और वह जानने का काम ही नहीं कर सकेगी। अपनी स्व-पर-प्रकाशक ज्ञानपर्याय का आश्रय चेतन है। यदि यह माना जाए कि चेतनस्वभाववान को छोड़कर पर में काम करता है तो जैसे स्पर्शादि चेतनद्रव्य के आश्रय बिना अचेतन हैं; वैसे ही ज्ञानगुण भी द्रव्य के आश्रय बिना अचेतन होगा। जिन गुणों में चेतनद्रव्य का संबंध नहीं होता वे सभी गुण अचेतन होते हुए रूपादि गुण जैसे होने से कुछ भी नहीं जान सकते।^२”

सबकुछ मिलाकर इन गाथाओं में यही कहा गया है कि सभी द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्यायों का क्षेत्र एक ही होता है, एक जैसा ही होता है, बराबर ही होता है। आत्मा भी एक द्रव्य है; अतः वह, उसका ज्ञानगुण और उसकी केवलज्ञान पर्याय का क्षेत्र भी एक ही है, समान ही है, बराबर ही है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१८८

२. वही, पृष्ठ-१८८

आत्मा के ज्ञानगुण की केवलज्ञान पर्याय लोकालोक को जानती है; इसकारण उसे सर्वगत कहा गया है। जब वह सर्वगत है तो उसका आधारभूत ज्ञानगुण और आत्मद्रव्य भी सर्वगत ही होना चाहिए। इसी आधार पर यह कहा गया है कि आत्मद्रव्य, उसका ज्ञानगुण और उसकी केवलज्ञान पर्याय सर्वगत है।

उक्त स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अलोकाकाश में आत्मा जाता ही नहीं है; जा ही नहीं सकता है तो फिर ज्ञान को सर्वगत कैसे माना जा सकता है ?

इसी के उत्तर में यह स्पष्ट किया गया है कि निश्चय से तो ज्ञान आत्मगत ही है, किन्तु व्यवहार से लोकालोक को जानने के कारण उसे सर्वगत भी कहा जाता है।

क्रमबद्धपर्याय और पुरुषार्थ

अनादिकाल से जगत के परिणमन को अपनी इच्छानुकूल करने की आकुलता से व्याकुल प्राणी जब यह अनुभव करता है कि जगत के परिणमन में मैं कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता तो उसका उपयोग सहज ही जगत से हटकर आत्मसन्मुख होता है और जब यह श्रद्धा बनती है कि मैं अपनी क्रमनियमित पर्यायों में भी कोई फेर-फार नहीं कर सकता तो पर्याय पर से भी दृष्टि हट जाती है और स्व-स्वभाव की ओर ढलती है।

दृष्टि का स्वभाव की ओर ढलना ही मुक्ति के मार्ग में अनन्त पुरुषार्थ है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करनेवाले को उक्त श्रद्धा के काल में आत्मोन्मुखी अनन्त पुरुषार्थ होने का और सम्यग्दर्शन प्रगट होने का क्रम भी सहज होता है।

- क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ-५४

प्रवचनसार गाथा-२६

विगत गाथाओं में युक्ति और आगम से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है; इसलिए ज्ञान सर्वगत है और अब इस गाथा में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि ज्ञान के समान आत्मा भी सर्वगत है, जिनवरदेव भी सर्वगत हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्टा ।

णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६॥

(हरिगीत)

हैं सर्वगत जिन और सर्व पदार्थ जिनवरगत कहे ।

जिन ज्ञानमय बस इसलिए सब ज्ञेय जिनके विषय हैं ॥२६॥

जिनवर सर्वगत हैं और जगत के सर्वपदार्थ जिनवरगत हैं; क्योंकि जिन ज्ञानमय हैं और वे सभी पदार्थ ज्ञान के विषय होने से जिन के विषय कहे गये हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“त्रिकाल के सर्व द्रव्य-पर्यायरूप प्रवर्तमान समस्त ज्ञेयाकारों को जानने के कारण ज्ञान को सर्वगत कहा गया है और सर्वगत ज्ञानमय होने से भगवान भी सर्वगत हैं। सर्वगत ज्ञान के विषय होने से सर्व पदार्थ सर्वगत ज्ञान से अभिन्न भगवान के विषय हैं - ऐसा शास्त्रों में कहा है; इसलिए सर्वपदार्थ भगवानगत ही हैं।

इसप्रकार भगवान सर्वगत हैं और सर्व पदार्थ भगवानगत हैं।

निश्चयनय से अनाकुलतालक्षण सुख के संवेदन के अधिष्ठानरूप आत्मा के बराबर ही ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ सुख का संवेदन

है, वहाँ-वहाँ ही ज्ञान है। ज्ञान और आनन्द का अधिष्ठान एक ही आत्मा है। उक्त निजस्वरूप आत्मप्रमाण ज्ञान को छोड़े बिना और समस्त ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना भगवान सर्वपदार्थों को जानते हैं।

निश्चयनय ऐसा होने पर भी व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि भगवान सर्वगत हैं और नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारों को आत्मस्थ देखकर ऐसा उपचार से कहा जाता है कि सर्वपदार्थ आत्मगत हैं; परन्तु परमार्थतः उनका एक-दूसरे में गमन नहीं होता; क्योंकि सर्व द्रव्य स्वरूपनिष्ठ हैं, अपने-अपने में निश्चल अस्खलित हैं।

यही क्रम ज्ञान में भी निश्चित करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार आत्मा और ज्ञेयों के संबंध में निश्चय-व्यवहार से कहा गया है; उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञेयों पर भी घटित कर लेना चाहिए।”

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में विषय को इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं; तथापि वे दर्पण के उदाहरण के माध्यम से आत्मा सर्वगत और सर्वपदार्थ आत्मगत हैं - इस बात को विशेष समझाते हैं।

वे कहते हैं कि जिसप्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित मयूर को भी तो मयूर ही कहा जाता है; इसीप्रकार आत्मा में या ज्ञान में प्रतिबिम्बित लोकालोक को भी लोकालोक कहा जाता है। इसकारण यह व्यवहार वचन भी अनुचित नहीं है कि सर्वपदार्थ आत्मगत हैं; ज्ञानगत हैं और आत्मा सर्वगत है, ज्ञान सर्वगत है।

इस बात को कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

(षट्पद)

शुचि दरपन में जथा, प्रगट घट पट प्रतिभासत ।

मुकुर जात नाहिं तहाँ, तौ न नहिं मुकुर अवासत ॥

तथा शुद्ध परकाश, ज्ञान सब ज्ञेयमांहि गत ।

ज्ञेय तहां थित करहिं, यहू उपचार मानियत ॥

वह ज्ञान धरम है जीव को, धरमी धरम सु एक अत ।

या नयतें श्री सर्वज्ञ को, कहैं जथारथ सर्वगत ॥१२२॥

जिसप्रकार निर्मल दर्पण में घटपटादि पदार्थ स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होते हैं; किन्तु न तो दर्पण उनके पास जाता है और न वे घट-पटादि पदार्थ दर्पण के पास आते हैं ।

उसीप्रकार सभी पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं; किन्तु न तो ज्ञान उनके पास जाता है और न वे ज्ञान के पास आते हैं । ज्ञान का धर्म (स्वभाव) ऐसा ही है कि दूरस्थ ज्ञेयों को भी जाने और ज्ञेयों का धर्म (स्वभाव) ऐसा है कि दूरस्थ ज्ञान के ज्ञेय बनें ।

इसप्रकार वस्तुस्वरूप को जानकर नयविवक्षा से यह कहना यथार्थ ही है कि सर्वज्ञ भगवान सर्वगत हैं ।

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“केवलज्ञान लोकालोक को जानता है, जिससे कहा कि केवलज्ञान लोकालोक में व्याप्त होता है; इसलिए पर्याय को सर्वगत कहा है । उस पर्याय को धारण करनेवाला आत्मा है । पर्याय, द्रव्य के आश्रय से टिकती है और परिणमित होती है, इसलिए आत्मा को सर्वगत कहते हैं । आत्मा ज्ञानप्रमाण है अर्थात् ज्ञान के प्रमाण में आत्मा है और आत्मा के प्रमाण में ज्ञान है - केवलज्ञान का ऐसा स्वरूप है । जो ऐसी प्रतीति करता है वह धर्म को प्राप्त करता है ।^१

जिस ज्ञान पर्याय का यह लोकालोक विषय है, उस ज्ञान से आत्मा अभिन्न है; इसलिए लोकालोक आत्मा का विषय है - यह शास्त्र में कहा है । केवलज्ञान पर्याय लोकालोक में व्याप्त है; इसलिए आत्मा लोकालोक में व्याप्त है । केवलज्ञान पर्याय का विषय लोकालोक है; इसलिए आत्मा का विषय लोकालोक है । इसलिए सर्व पदार्थ भगवानगत ही हैं - ऐसा व्यवहार में कहा है ।^२

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१९४

२. वही, पृष्ठ-१९६

आत्मा में ज्ञेय जानने में आते हैं; इसलिए सर्वपदार्थ आत्मगत हैं - ऐसा कहते हैं । नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारों अर्थात् ज्ञान में हुई स्व-परप्रकाशक स्वच्छ अवस्थारूप ज्ञेयाकार । इन ज्ञेयाकारों को ज्ञानाकार भी कहने में आता है; क्योंकि ज्ञान ही इन ज्ञेयाकारोंरूप परिणमित हुआ है और पर-पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय उसके निमित्त हैं । जैसा ज्ञेय का स्वरूप है, वैसा ज्ञान अपने कारण से परिणमता है, ज्ञान अपनी सामर्थ्यरूप परिणमता है । ज्ञेयाकार अपनी ज्ञान की अवस्था है । इन ज्ञान के ज्ञेयाकारों को आत्मा में देखकर, समस्त परपदार्थ आत्मा में हैं - ऐसा उपचार किया गया है । यही बात आगे ३१वीं गाथा में दर्पण के दृष्टान्त में समझायेंगे ।^३

जिसतरह आत्मा राग और पर का जाननेवाला है, किन्तु पर में प्रवेश नहीं करता; उसीतरह पर भी आत्मा में प्रवेश नहीं करते; किन्तु जैसे ज्ञेय हैं, वैसा आत्मा जानता है; इसलिए ‘आत्मा को ज्ञेयगत’ कहते हैं और ज्ञेय आत्मगत हुए कहलाते हैं - इसतरह उपचार करने में आया है ।^४

परमार्थ से उनका एक-दूसरे में गमन नहीं होता । आत्मा पर को जानता है; इसलिए आत्मा पर में नहीं जाता और पर को जानने पर भी पर-पदार्थ आत्मा में नहीं जा जाते; क्योंकि सर्व ही द्रव्य स्वरूपनिष्ठ हैं - अपने-अपने स्वरूप में निश्चल रहते हैं, पर्याय बाहर नहीं जाती ।^५

ज्ञान स्व-परप्रकाशक है - यह सिद्ध करने के लिए यह बात ली गई है । आत्मा को सर्वगत कहकर कहा गया है कि आत्मा सर्वगत उपचार से है, निश्चय से तो वह आत्मगत है । आनन्द के न्याय से भी आत्मा स्वगत है । बाहर के आश्रय से आनन्द नहीं है, आनन्द का क्षेत्र आत्मप्रमाण है; इस न्याय से आत्मा को स्वगत (आत्मगत) कहा है ।^६

आत्मा और ज्ञेयों के विषय में जैसा निश्चय-व्यवहार कहा है, वैसा

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-१९६

२. वही, पृष्ठ-२००

३. वही, पृष्ठ-२००

४. वही, पृष्ठ-२००

ही ज्ञान और ज्ञेयों के विषय में भी समझना। ज्ञान पर को जानता तो है; किन्तु पर में नहीं जाता और ज्ञान ज्ञेयाकाररूप होते हुए भी ज्ञेय ज्ञान में नहीं आते। आत्मा पर को जाने तो भी आत्मा पर में नहीं जाता और आत्मा ज्ञेयाकाररूप होता है, तब भी ज्ञेय आत्मा में नहीं आते - ऐसी स्वतंत्रता सिद्ध की है।^१”

वस्तुतः बात यह है कि ज्ञान आत्मा के असंख्य प्रदेशों के बाहर नहीं जाता और आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों के साथ संसारावस्था में प्राप्त देह के आकार में देह में ही रहता है और सिद्धावस्था में किञ्चित् न्यून अंतिमदेह के आकार में रहता है।

ज्ञेय तो अलोकाकाश सहित सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं; उक्त सभी ज्ञेयों को सर्वज्ञ भगवान जानते हैं। इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान या सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान देहप्रमाण सीमा में रहकर भी सारे लोकालोक के ज्ञेयों को सहजभाव से जानता है और सभी ज्ञेय उनके ज्ञान में सहजभाव से झलकते हैं, जाने जाते हैं।

आत्मवस्तु का, उसके ज्ञानस्वभाव का, उसकी ज्ञानपर्याय का और सम्पूर्ण ज्ञेयों का ऐसा ही सहज स्वभाव है कि आत्मा, ज्ञान या उसकी ज्ञानपर्याय अपने में सीमित रहकर भी दूरस्थ सभी ज्ञेयों को जान लेती है और दूरस्थ ज्ञेय भी स्वस्थान को छोड़े बिना ही ज्ञान के विषय बन जाते हैं।

इसी स्थिति को नयों की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि निश्चयनय से आत्मा व ज्ञान आत्मगत है और व्यवहारनय से सर्वगत है। इसीप्रकार निश्चयनय से सभी ज्ञेय स्वगत हैं और व्यवहार से आत्मगत हैं।

इसप्रकार भगवान आत्मा और लोकालोक में सहज ही ज्ञाता-ज्ञेयरूप निमित्त-नैमित्तिक संबंध है और निमित्त-नैमित्तिक संबंधी जो भी कथन होता है, वह सभी असद्भूतव्यवहारनय के विषय में आता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२०१

प्रवचनसार गाथा-२७

विगत गाथा में यह कहा गया था कि जिनवर अर्थात् आत्मा सर्वगत है और सर्वपदार्थ आत्मगत हैं; क्योंकि सभी पदार्थ आत्मा के द्वारा जाने जाते हैं।

अब इस २७ वीं गाथा में आत्मा और ज्ञान में कथंचित् एकत्व है और कथंचित् अन्यत्व है; यह सिद्ध करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।

तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२७॥

(हरिगीत)

रे आतमा के बिना जग में ज्ञान हो सकता नहीं।

है ज्ञान आतम किन्तु आतम ज्ञान भी है अन्य भी ॥२७॥

ज्ञान आत्मा है - ऐसा जिनवरदेव का मत है। आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में ज्ञान नहीं होता; इसलिए ज्ञान आत्मा है।

ज्ञान तो आत्मा है, परन्तु आत्मा मात्र ज्ञान नहीं है; अपितु ज्ञानगुण द्वारा ज्ञान है और सुखादि अन्य गुणों द्वारा अन्य भी है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञानरूप तो है; किन्तु आत्मा ज्ञानरूप ही नहीं है, सुखरूप भी है, श्रद्धारूप भी है, दर्शनरूप भी है, चारित्ररूप भी है; अनन्त गुणोंरूप है।

इसप्रकार एक अपेक्षा से ज्ञान और आत्मा एक ही हैं और दूसरी अपेक्षा से ज्ञान आत्मा का एक गुण है और आत्मा ज्ञान जैसे अन्य सुखादि अनन्त गुणों का अखण्डपिण्ड है।

इसप्रकार आत्मा और ज्ञान अन्य-अन्य भी हैं और अनन्य भी हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“शेष समस्त चेतन और अचेतन वस्तुओं के साथ समवाय (तादात्म्य) संबंध नहीं होने से और आत्मा के साथ अनादि-अनंत स्वभावसिद्ध समवाय संबंध होने से, आत्मा का अति निकटता से अवलम्बन करके प्रवर्तमान होने से और आत्मा के बिना अपना अस्तित्व ही नहीं रख पाने के कारण ज्ञान आत्मा ही है तथा आत्मा तो अनंत धर्मों का अधिष्ठान होने से ज्ञान धर्म द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्मों द्वारा अन्य भी है।

यहाँ अनेकान्त बलवान है; क्योंकि यदि ऐसा माना जाय कि एकान्त से ज्ञान ही आत्मा है तो ज्ञानगुण और आत्मद्रव्य एक हो जाने से ज्ञानगुण का अभाव हो जायेगा, इसकारण आत्मा अचेतन हो जावेगा अथवा विशेषगुण का अभाव होने से आत्मा का ही अभाव हो जावेगा।

यदि यह माना जाय कि आत्मा सर्वथा ज्ञान है तो आत्मद्रव्य के एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से ज्ञान का कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में निराश्रयता के कारण ज्ञान का अभाव हो जावेगा अथवा आत्मद्रव्य के एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से आत्मा की शेष पर्यायों (सुखवीर्यादिगुणों) का अभाव हो जायेगा और उनके साथ अविनाभावी संबंधवाले आत्मा का भी अभाव हो जायेगा।”

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखते हैं कि यहाँ अभिप्राय यह है कि आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है; इसलिए ज्ञान आत्मा है, परन्तु आत्मा ज्ञान भी है और अन्य भी है। कहा भी है - व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च - व्यापक तद् और अतद् - दोनों में रहता है और व्याप्य मात्र तद् में ही रहता है।

इस गाथा का भाव वृन्दावनदासजी दो छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(मनहर)

जोई ज्ञान गुण सोई आतमा वखाने जाते,
दोऊ में कथंचित न भेद ठहरात है।
आतमा बिना न और द्रव्यमांहि ज्ञान लसे,
ज्ञान गुण जीव में ही दीखे जहरात है ॥
तथा जैसे ज्ञान गुण जीव में विराजै तैसे,
और हूँ अनन्त गुण तामें गहरात है।
गुण को समूह दव्व अपेक्षा सों सिद्ध सव्व,
ऐसो स्याद्वाद को पताका फहरात है ॥१३०॥

यदि ऐसा कहें कि जो ज्ञानगुण है, वही आत्मा है तो ज्ञान और आत्मा - इन दोनों में कथंचित् भी भेद नहीं रहेगा। वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में ज्ञान नहीं है, ज्ञानगुण तो एकमात्र जीव में ही है। एक बात यह भी है कि जीव में जिसप्रकार ज्ञानगुण है; उसीप्रकार और अनन्त गुण जीव में हैं; क्योंकि गुणों के समूह को ही तो द्रव्य कहते हैं। अपेक्षा से सभी बातें सिद्ध होती हैं और इसीप्रकार स्याद्वाद का झंडा लहराता है।

(द्रुमिला)

गुण ज्ञानहि को जदि जीव कहैं, तदि और अनन्त जिते गुण हैं।
तिनको तब कौन अधार बने, निरधार विना कहु को सुन है ? ॥
गुणमाहिं नहीं गुन और बसैं, श्रुति साधत श्रीजिनकी धुन है।
तिसतैं गुन पर्ज अनंतमयी, चिनमूर्ति द्रव्य सु आपुन है ॥१३१॥
यदि ज्ञानगुण को ही जीव कहेंगे तो जीव में जो अन्य अनंतगुण हैं; उनका आधार कौन बनेगा? निरधार तो कोई गुण होता नहीं है। एक गुण में अन्य गुण रहते नहीं हैं - यह बात तो जिनेन्द्रदेव की वाणी में आई है और शास्त्राधार से भी सिद्ध है। इसलिए यही स्वीकार करना उचित है कि चैतन्यमूर्ति अपना आत्मद्रव्य अनन्त गुणपर्यायवाला है।

उक्त गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जहाँ गुण होते हैं, वहीं गुणी होता है। जहाँ ज्ञान हो वहाँ आत्मा होता है और वहीं ज्ञानादि अनन्तगुण होते हैं। जहाँ गुण नहीं हो तो गुणी भी नहीं होता; जैसे ज्ञान नहीं हो तो वहाँ आत्मा भी नहीं होता और गुणी नहीं हो तो वहाँ गुण भी नहीं होते। जैसे आत्मा नहीं हो तो वहाँ ज्ञान भी नहीं होगा। इसप्रकार गुण-गुणी का अभिन्न प्रदेशरूप संबंध है - यही समवाय संबंध है।^१

आत्मा अनन्त गुणों को धारण करनेवाला है। ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञान कहलाता है, प्रभुत्व धर्म द्वारा आत्मा परमेश्वर कहलाता है, विभु धर्म द्वारा आत्मा विभु है, चारित्र धर्म द्वारा आत्मा चारित्र कहलाता है, श्रद्धा धर्म द्वारा आत्मा श्रद्धा कहलाता है। इसतरह आत्मा परमेश्वर है। यह मत सर्वज्ञ भगवान का है।^२

इसप्रकार २७ वीं गाथा में निम्न बातें आई हैं -

(१) यह आत्मा ज्ञान के बिना अस्तित्व को धारण नहीं करता। इसलिए जो आत्मा ज्ञान है, वह ज्ञान अन्य आत्माओं और जड़ पदार्थों के साथ संबंध नहीं रखता अर्थात् राग और इन्द्रिय शरीरादि निमित्त के साथ ज्ञान का संबंध नहीं है, अपितु ज्ञान आत्मा के साथ संबंध रखता है; इसलिए ज्ञान आत्मा है। अचेतन और अन्य चेतन द्रव्यों से ज्ञान बिलकुल भिन्न रहता है। ज्ञान, ज्ञानस्वभावी आत्मा के साथ अतिनिकट क्षेत्र में सदा एकमेक रहने से वह आत्मा के बिना नहीं रहता, इसलिए ज्ञान ही आत्मा है।

(२) आत्मा अनन्त गुणों को धारण करनेवाला है, इसलिए आत्मा ज्ञानगुण द्वारा ज्ञान है, दर्शन गुण द्वारा दर्शन है, चारित्र धर्म द्वारा आत्मा चारित्र है इत्यादि।

‘एकान्त ज्ञान को ही सर्वथा आत्मा मानने से तीन दोष आते हैं, वह बताते हैं -

(३) अब ‘ज्ञान ही आत्मा है’ ऐसा एकान्त माना जाय तो गुण, द्रव्य

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२०३-२०४

२. वही, पृष्ठ-२०८

हो जाने से ज्ञानगुण का अस्तित्व नहीं रहेगा।

(४) गुण, गुणी होने से गुण का अभाव होता है। इसलिए आत्मा में ज्ञान नहीं रहा, इसलिए आत्मा को अचेतनपना आ जायेगा।

(५) विशेषगुण का अभाव होने से अर्थात् यदि आत्मा में ज्ञानरूप विशेषगुण नहीं हो तो आत्मा का अभाव होगा और विशेषगुण के अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायेगा। इसतरह यह तीन दोष बताये हैं।

(६) आत्मा सर्वथा ज्ञान ही है - ऐसा माना जाये तो गुणी, गुण हो जायेगा और ज्ञान को द्रव्य का आधार नहीं रहने से निराश्रयपने के कारण, ज्ञान का अभाव होगा।

(७) यदि, आत्मा एकान्त ज्ञानरूप हो तो शेष गुणों अर्थात् दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख आदि गुणों का अभाव होता है।

(८) विशेष गुणों का अभाव होने पर, उनसे संबंधित आत्मा का नाश होता है। जहाँ सुख-वीर्यादि विशेषगुण न हों तो वहाँ आत्मा भी नहीं होता।^३

आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है - ऐसा सर्वथा एकान्त नहीं है। जैसे, आत्मा द्रव्य से नित्य ही है, यह बात सही है - यह सम्यक् एकान्त है, किन्तु आत्मा नित्य ही है और किसी भी प्रकार से अनित्य नहीं है - ऐसा समझे तो एकान्त हो जाता है; वैसे ही ज्ञान, ज्ञान ही है - यह सही है; किन्तु आत्मा ज्ञान ही है - ऐसा सर्वथा एकान्त नहीं। ज्ञान लक्षण द्रव्य के साथ तादात्म्यपने है; किन्तु एक ज्ञान जितना ही आत्मा है - ऐसा नहीं है। ज्ञान द्वारा आत्मा, ज्ञान है; किन्तु ज्ञान के साथ अनन्तगुण भी हैं।^४

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण का सार यही है कि आत्मा ज्ञानादि अनंतगुणों का अखण्डपिण्ड है, अनंतगुणमय अभेद वस्तु है। आत्मा के अनन्तगुणों में ज्ञान भी एक गुण है; इसकारण यह कहा जाता है कि ज्ञान आत्मा है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि सुख आत्मा है, श्रद्धा आत्मा है, चारित्र आत्मा है; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा ज्ञान है, क्योंकि आत्मा अकेला ज्ञान ही नहीं है, सुखादिरूप भी है।^५

१. वही, पृष्ठ-२१०

२. वही, पृष्ठ-२११

प्रवचनसार गाथा-२८-२९

विगत २७ वीं गाथा में यह समझाया गया है कि ज्ञान और आत्मा कथंचित् अनन्य हैं और कथंचित् अन्य-अन्य हैं और अब इन २८ वीं व २९ वीं गाथा में यह समझाया जा रहा है कि यद्यपि ज्ञान ज्ञेयों में प्रवेश नहीं करता और ज्ञेय भी ज्ञान में नहीं आते; तथापि ज्ञान ज्ञेयों को जानता है; इस अपेक्षा वह ज्ञेयों में चला गया या ज्ञेय ज्ञान में आ गये - ऐसा भी कहा जाता है।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

गाणी गाणसहावो अट्टा णेयप्पगा हि गाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेषु वट्टंति ॥२८॥
ण पविट्ठो णाविट्ठो गाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥

(हरिगीत)

रूप को ज्यों चक्षु जाने परस्पर अप्रविष्ट रह ।
त्यों आत्म ज्ञानस्वभाव अन्य पदार्थ उसके ज्ञेय हैं ॥२८॥
प्रविष्ट रह अप्रविष्ट रह ज्यों चक्षु जाने रूप को ।
त्यों अतीन्द्रिय आत्मा भी जानता सम्पूर्ण जग ॥२९॥

जिसप्रकार रूपी पदार्थ नेत्रों के ज्ञेय हैं; उसीप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा के सभी पदार्थ ज्ञेय हैं; फिर भी वे ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करते।

जिसप्रकार चक्षु रूप में अप्रविष्ट रहकर और अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है; उसीप्रकार आत्मा इन्द्रियातीत होता हुआ सम्पूर्ण जगत को उसमें अप्रविष्ट रहकर और अप्रविष्ट न रहकर निरन्तर जानता-देखता है।

इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

“यद्यपि आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्व के कारण एक-दूसरे में प्रवृत्त नहीं होते; तथापि उनके नेत्र और रूपी पदार्थ की भांति ज्ञान-ज्ञेय स्वभावसंबंध से होनेवाली एक-दूसरे में प्रवृत्ति पाई जाती है।

जिसप्रकार नेत्र और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही ज्ञेयाकारों को ग्रहण और समर्पण करने से स्वभाववाले हैं; उसीप्रकार आत्मा और पदार्थ एक-दूसरे में प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने और समर्पण करने के स्वभाववाले हैं।

जिसप्रकार चक्षु रूपी द्रव्यों को स्वप्रदेशों के द्वारा अस्पर्श करती हुई अप्रविष्ट रहकर तथा ज्ञेय आकारों को आत्मसात करते हुए अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है; उसीप्रकार आत्मा भी इन्द्रियातीतता के कारण प्राप्यकारिता की विचार-गोचरता से दूर होता हुआ ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओं को स्वप्रदेशों से अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ट रहकर तथा शक्तिवैचित्र्य के कारण वस्तु में वर्तते समस्त ज्ञेयाकारों को मानो मूल से ही उखाड़कर ग्रास कर लेने से अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है।

इसप्रकार इस विचित्रशक्तिवाले आत्मा के पदार्थों में अप्रवेश की भांति प्रवेश भी सिद्ध होता है।”

वस्तुतः बात यह है कि सभी द्रव्य परस्पर भिन्न हैं, प्रत्येक के जुदे-जुदे लक्षण हैं; इसकारण वे एक-दूसरे में प्रवृत्त नहीं होते; तथापि उनमें से आत्मा और पर-पदार्थों में परस्पर ज्ञायक-ज्ञेय संबंध होने से नेत्र और रूपी पदार्थों के समान परस्पर में प्रवृत्ति उपचार से कही जाती है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार आँखें उनके पास गये बिना ही रूपी पदार्थों को जानती-देखती हैं; उसीप्रकार यह आत्मा भी ज्ञेयपदार्थों के पास गये बिना ही उन्हें जानता-देखता है।

इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा ज्ञेय पदार्थों के पास जाता नहीं है और ज्ञेय पदार्थ भी आत्मा के पास आते नहीं हैं; तथापि यह आत्मा उन्हें जान लेता है और वे ज्ञेय पदार्थ आत्मा के जानने में आ जाते हैं।

इसप्रकार वे आत्मा में प्रविष्ट भी हैं और अप्रविष्ट भी हैं। व्यवहार से प्रविष्ट हैं और निश्चय से अप्रविष्ट हैं।

इस बात को भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

“यद्यपि आँख अपने प्रदेशों से रूपी पदार्थों को स्पर्श नहीं करती, इसलिए वह निश्चय से ज्ञेयों में अप्रविष्ट है; तथापि वह रूपी पदार्थों को जानती-देखती है, इसलिए व्यवहार से यह कहा जाता है कि मेरी आँख बहुत से पदार्थों में जा पहुँचती है।

इसीप्रकार यद्यपि केवलज्ञानप्राप्त आत्मा अपने प्रदेशों के द्वारा ज्ञेय पदार्थों को स्पर्श नहीं करता, इसलिए वह निश्चय से तो ज्ञेयों में अप्रविष्ट है; तथापि ज्ञायक-दर्शक शक्ति की किसी परम अद्भुत विचित्रता के कारण वह समस्त ज्ञेयाकारों को जानता-देखता है; इसलिए व्यवहार से यह कहा जाता है कि आत्मा सर्वद्रव्य-पर्यायों में प्रविष्ट हो जाता है।

इसप्रकार व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में आत्मा का प्रवेश सिद्ध होता है।”

यद्यपि आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं के भाव को इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं; तथापि वे केवलज्ञान और उनमें झलकनेवाले पदार्थों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि तीनलोक में स्थित तीनकाल संबंधी समस्त पर्यायों से परिणमित सभी पदार्थ, ज्ञान के साथ परस्पर प्रदेशों का संबंध नहीं होने पर भी अपने आकारों को समर्पित करने में समर्थ हैं और केवलज्ञान भी उनके आकारों को ग्रहण करने में पूर्णतः समर्थ है।

इन गाथाओं के भाव का भावानुवाद कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार करते हैं -

(षट्पद)

ज्ञानी अपने ज्ञानभाव ही माहिं विराजै ।

ज्ञेयरूप सब वस्तु आपने में ही छाजै ॥

मिलिकर बरतें नाहिं परस्पर ज्ञेयरु ज्ञानी ।

ऐसी ही मर्याद वस्तु की बनी प्रमानी ॥

जिमि रूपी दरबनि को प्रगट, देखत नयन प्रमान कर ।

तिमि तहां जथारथ जानि के, वृन्दावन परतीति धर ॥१३२॥

ज्ञानी अपने ज्ञानभाव में ही विराजमान है और ज्ञेयरूप समस्त वस्तुएँ भी स्वयं में ही शोभायमान हैं। ज्ञेय और ज्ञानी - दोनों परस्पर मिलकर नहीं रहते। वस्तुस्वरूप की ऐसी ही मर्यादा है।

जिसप्रकार आँखे रूपी पदार्थों को जानती हैं; उसीप्रकार आत्मा भी प्रमाण और नयों से पदार्थों को यथार्थ जानकर प्रतीति करते हैं।

(मनहरण)

ज्ञानी ना प्रदेश तें प्रवेश करै ज्ञेयमाहिं,

तथा व्यवहार से प्रवेश हू सो करै है ।

अच्छातीत ज्ञानतें समस्त वस्तु देखे जानें,

पाथर की रेख ज्यों न संग परिहरै है ॥

जैसे नैन रूपक पदारथ विलौकै वृन्द,

तैसे शुद्ध ज्ञान सों अमल छटा भरै है ।

मानों सर्व ज्ञेय को उखारि के निगलि जात,

शक्त व्यक्त तास को विचित्र एसो धरै है ॥१३३॥

यद्यपि निश्चयनय से आत्मा अपने प्रदेशों से ज्ञेय में प्रवेश नहीं करता; तथापि व्यवहार से पर में प्रवेश करता है - ऐसा कहा जाता है। पत्थर की रेखा के समान समस्त परिग्रह के त्यागी आत्मा अक्षातीत केवलज्ञान से समस्त वस्तुओं को देखते-जानते हैं।

जिसप्रकार आँखें रूपी पदार्थों को देखती-जानती हैं; उसीप्रकार शुद्धज्ञान की अमल छटा से भरा भगवान आत्मा अपने ज्ञान से मानों सर्व ज्ञेयों को उखाड़ कर निगल जाता है; उसकी शक्ति का ऐसा ही वैचित्र्य है।

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसतरह आँख रूपी पदार्थों में प्रवेश नहीं करती और रूपी पदार्थ आँख में प्रवेश नहीं करते, फिर भी आँख रूपी पदार्थों के ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने के-जानने के स्वभाववाली है और रूपी पदार्थ अपने ज्ञेयाकारों को अर्पण करने के-जानने के स्वभाववाले हैं; उसीतरह आत्मा पदार्थों में प्रवेश नहीं करता और पदार्थ भी आत्मा में प्रवेश नहीं करते, फिर भी आत्मा पदार्थों के समस्त ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने के जानने के स्वभाववाला है और पदार्थ अपने समस्त ज्ञेयाकारों को अर्पण करने के-जानने के स्वभाववाले हैं; यदि आत्मा ऐसा नहीं जाने तो उसने आत्मा को नहीं जाना। जो आत्मा को नहीं जानता; उसे पुण्य-पाप आदि तत्त्वों का भी ज्ञान नहीं है। इसे समझे बिना बाहर में अनन्त भव गये। ज्ञेयों में क्रम से परिणमन होते हुए भी वे सभी एक समय में अक्रम जानने की योग्यता रखते हैं और ज्ञान एक समय में अक्रम जानने की योग्यता रखता है।^१

आँख पर-पदार्थ में प्रवेश नहीं करती; इसलिए अप्रवेशी है और जैसे ज्ञेय हैं, वैसा जानती है; इसलिए उसे प्रवेशी कहा है। आँख सर्प को सर्परूप जानती है; जैसे पदार्थ हैं, वैसा जानती है; इसलिए आँख उसमें प्रविष्ट है - ऐसा कहते हैं। इसतरह उनका परस्पर संबंध बताते हैं। इसलिए व्यवहार से कहा कि वह प्रवेश किए बिना नहीं रहती। वास्तव में तो अंदर प्रवेश नहीं हुआ है; यही निश्चय है और अंदर प्रविष्ट हुई है, यह व्यवहार है।^२

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२१७

२. वही, पृष्ठ-२२१

ज्ञान ज्ञेय के अन्दर पहुँचे, तब ही जाने - ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान ज्ञेय के पास जाए, तब ज्ञान जाने - ऐसा स्वभाव नहीं है और ज्ञान ज्ञेय को प्राप्त होकर जाने - ऐसा भी स्वभाव नहीं है; वह इन्द्रियातीत होकर जानता है। लोकालोक के जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को स्पर्श नहीं करता; उन समस्त पदार्थों में प्रविष्ट हुए बिना ही यह ज्ञान जाने - ऐसा इसका स्वच्छ स्वभाव है - यह निश्चय है।

आत्मा स्व-परप्रकाशक शक्ति से विचित्र है। आत्मा के सिवाय अन्य में स्व-परप्रकाशक शक्ति नहीं होती। पर के ग्रहण और त्याग का स्वभाव आत्मा का नहीं है, अपितु मात्र पर को जानने का स्वभाव है।^१

ज्ञान का तो मात्र स्व-पर को जानने का स्वभाव है - यही उसका कार्य है; इसलिए आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। ज्ञान ने समस्त ज्ञेयाकारों को मानो कि उन्हें मूल में से ही उखाड़ कर ग्रसित कर लिया है; ऐसा लगता है कि जैसे ग्रास छोटा है और मुँह बड़ा है। मूल में से उखाड़ डाला है अर्थात् कि कोई भी ज्ञेय जानने में बाकी नहीं रहा, लोकालोक में कुछ भी बाकी नहीं रहा, सभी कुछ ज्ञान में आ गया है।^२

जिसप्रकार आँख अपने प्रदेशों द्वारा रूपी पदार्थों को स्पर्श नहीं करती होने से निश्चय से तो वह ज्ञेयों में अप्रविष्ट ही है। जिसतरह आँख अग्नि बर्फ आदि में प्रवेश नहीं करती, फिर भी उन रूपी पदार्थों को आँख जानती है; इसलिए यह कहा जाता है कि मेरी आँख बहुत पदार्थों में फिरती है।

उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञेयों का निकट संबंध है अर्थात् ज्ञेय जनाय बिना नहीं रहते और ज्ञान जाने बिना नहीं रहता। उसीप्रकार केवलज्ञानी आत्मा का केवलज्ञान लोकालोक के पदार्थों को स्पर्श नहीं करता। निश्चय से तो वह ज्ञेयों में प्रवेश नहीं करता; फिर भी जानने-देखने का स्वभाव

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२२२

२. वही, पृष्ठ-२२२

पर्याय में परिणमित हुआ है - ऐसा स्वभाव है।

समस्त ज्ञेयाकारों को जानता-देखता होने से व्यवहार में कहा जाता है कि आत्मा का परद्रव्य और उनकी पर्यायों में प्रवेश हो गया है। इसतरह व्यवहार से, ज्ञेय पदार्थों में आत्मा का प्रवेश सिद्ध होता है।^१”

उक्त गाथाओं में मात्र यही कहा गया है कि जिसप्रकार जब हम आँखों से जानते-देखते हैं, तब न तो आँखों को रूपी पदार्थों के पास जाना पड़ता है और न पदार्थों को ही आँखों में प्रवेश करना पड़ता है; आँखें और पदार्थ दोनों अपनी-अपनी जगह रहते हुए भी हम आँखों से पदार्थों को देख लेते हैं, जान लेते हैं और पदार्थ भी हमारे देखने-जानने में आ जाते हैं। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अग्नि को जानने से आँखें जलती नहीं हैं।

इसीप्रकार की स्थिति ज्ञान की भी है। ज्ञेय पदार्थों को देखने-जानने के लिए ज्ञान को न तो किन्हीं ज्ञेय पदार्थों के पास जाना पड़ता है और न वे ज्ञेय पदार्थ ही ज्ञान में प्रविष्ट होते हैं; दोनों के अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहने पर भी ज्ञान ज्ञेय पदार्थों को जान लेता है और ज्ञेय पदार्थ ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि ज्ञेयों को जानने से ज्ञान में कुछ भी विकृति उत्पन्न नहीं होती तथा ज्ञेयों पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अत्यन्त स्पष्ट उक्त वस्तुस्थिति होने पर भी यह प्रश्न उपस्थित होता ही है कि ज्ञान ने ज्ञेयों में प्रवेश किया कि नहीं अथवा ज्ञेय ज्ञान में आये कि नहीं ?

यदि ज्ञान ने ज्ञेयों में प्रवेश ही नहीं किया है तो फिर ज्ञान को सर्वगत कैसे कहा जा सकता है ?

इसीप्रकार ज्ञेयों ने ज्ञान में प्रवेश नहीं किया है तो फिर ज्ञेयों को ज्ञानगत

या आत्मगत कैसे कहा जा सकता है ?

यदि दोनों ने परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश किया है तो फिर वे दोनों एक-दूसरे से अप्रभावित कैसे रह सकते हैं ?

उक्त प्रश्नों का उत्तर यहाँ नयविभाग से दिया गया है। निश्चयनय से न तो ज्ञान ज्ञेय पदार्थों में प्रवेश करता है और न ज्ञेय पदार्थ ही ज्ञान में प्रवेश करते हैं; इसकारण वे एक-दूसरे से प्रभावित भी नहीं होते हैं।

यद्यपि ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे में प्रविष्ट नहीं होते; तथापि ज्ञान ज्ञेयपदार्थों को जानता है; इस अपेक्षा वह ज्ञेयों में गया - ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है और इसी अपेक्षा आत्मा व ज्ञान सर्वगत हैं। इसीप्रकार ज्ञेय ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं - इस अपेक्षा ज्ञेय ज्ञान में आ गये - ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है और इसी अपेक्षा ज्ञेय ज्ञानगत या आत्मगत

व्यवहारनय से कहा जायेगा है।
व्यवहारनय से कहा जायेगा है।
व्यवहारनय के कथनों में जो परस्पर विरोध दिखाई देता है, वह विषयगत है। अनेकान्तात्मक वस्तु में जो परस्पर विरोधी धर्मयुगल पाये जाते हैं, उनमें से एक धर्म निश्चय का और दूसरा धर्म व्यवहार का विषय बनता है।

जिस दृष्टि से निश्चय-व्यवहार एक-दूसरे का विरोध करते नजर आते हैं, उसी दृष्टि से वे एक-दूसरे के पूरक भी हैं। कारण कि वस्तु जिन विरोधी धर्मों को स्वयं धारण किए हुए हैं, उनमें से एक का कथन निश्चय और दूसरे का कथन व्यवहार करता है। यदि दोनों नय एक पक्ष को ही विषय करने लगे तो दूसरा पक्ष उपेक्षित हो जावेगा। अतः वस्तु के सम्पूर्ण प्रकाशन एवं प्रतिपादन के लिए दोनों नय आवश्यक हैं, अन्यथा वस्तु का समग्र स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पावेगा।

जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध है; वहीं दूसरी ओर व्यवहार और निश्चय में निषेध-निषेधक संबंध भी है।

निश्चय प्रतिपाद्य है और व्यवहार उसका प्रतिपादक है। इसीप्रकार व्यवहार निषेध है और निश्चय उसका निषेधक है।

प्रवचनसार गाथा-३०-३१

विगत २८ व २९वीं गाथाओं में यह कहा गया है कि यद्यपि निश्चयनय से आत्मा अपने असंख्यात प्रदेशों में ही रहता है; तथापि वह व्यवहारनय से सर्वगत भी है।

इसीप्रकार यह भी कहा गया है कि यद्यपि निश्चयनय से ज्ञेय ज्ञेयगत ही हैं; तथापि व्यवहारनय से वे ज्ञानगत भी हैं; आत्मगत भी हैं।

अब इन ३० व ३१वीं गाथाओं में उसी बात को सयुक्ति सिद्ध करते हैं -

गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं -

रयणमिह इन्द्रणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्टेसु ॥३०॥
जदि ते ण संति अट्टा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्टिया अट्टा ॥३१॥

(हरिगीत)

ज्यों दूध में है व्याप्त नीलम रत्न अपनी प्रभा से ।
त्यों ज्ञान भी है व्याप्त रे निश्लेष ज्ञेय पदार्थ में ॥३०॥
वे अर्थ ना हों ज्ञान में तो ज्ञान न हो सर्वगत ।
ज्ञान है यदि सर्वगत तो क्यों न हों वे ज्ञानगत ॥३१॥

जिसप्रकार इस जगत में दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा से उस दूध में व्याप्त होकर वर्तता है; उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयपदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।

यदि वे पदार्थ ज्ञान में न हों तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता और यदि ज्ञान सर्वगत है तो पदार्थ ज्ञानगत कैसे नहीं हैं ?

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा से दूध में व्याप्त दिखाई देता है; उसीप्रकार संवेदन अर्थात् ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होने से कर्ता अंश से आत्मा को प्राप्त होता हुआ ज्ञानरूप करण अंश के द्वारा कारणभूत पदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों में व्याप्त हुआ वर्तता है; इसलिए कार्य में कारण का (ज्ञेयाकारों में पदार्थों का) उपचार करके यह कहने में कोई विरोध नहीं आता कि ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।

यदि समस्त स्व ज्ञेयाकारों के समर्पण द्वारा ज्ञान में अवतरित होते हुए समस्त पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जा सकता।

यदि वह ज्ञान सर्वगत माना जाता है तो फिर साक्षात् ज्ञानदर्पण में अवतरित बिम्ब की भांति अपने-अपने ज्ञेयाकारों के कारण होने से और परम्परा से प्रतिबिम्ब के समान ज्ञेयाकारों के कारण होने से पदार्थ ज्ञानस्थित निश्चित कैसे नहीं होते अर्थात् पदार्थ ज्ञानस्थित हैं ही।”

इन गाथाओं का भाव आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में भी इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इन गाथाओं का भावानुवाद दो छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(मनहरण)

जैसे इस लोक में महान इन्द्रनील रत्न,
दूधमाहिं डारै तब ऐसो विरतंत है ।
अपनी आभासतें सफेदी भेद दूध की सो,
नील वर्न दूध को करत दरसंत है ॥
ताही भांति केवली के ज्ञान की शक्ति वृन्द,
ज्ञेयन को ज्ञानाकार करत लसंत है ।

निहचै निहारें दोऊ आपस में न्यारे तौऊ,

व्याप्य अरु व्यापक को यही विरतंत है ॥१३४॥

जिसप्रकार लोक में इन्द्रनील रत्न को दूध में डालते हैं तो वह रत्न अपनी आभा से दूध की सफेदी को भेदकर दूध को नीले रंगरूप दिखाने लगता है। उसीप्रकार केवली भगवान के ज्ञान की शक्ति ज्ञेयों को ज्ञानाकार करती हुई शोभायमान होती है।

निश्चयनय से देखें तो ज्ञान और ज्ञेय - दोनों जुदे-जुदे ही हैं। व्याप्य ज्ञान और व्यापक आत्मा - दोनों की यही स्थिति है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और ज्ञान - दोनों ही ज्ञेयों से जुदे ही हैं; तो भी ज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा और ज्ञान - दोनों ही सर्वगत कहे गये हैं।

(षट्पद)

जो सब वस्तु न लसें, ज्ञान केवलमहँ आनी।

तो तब कैसे होय, सर्वगत केवलज्ञानी ॥

जो श्रीकेवलज्ञान, सर्वगत पदवी पायो।

तो किमि वस्तु न बसहिं, तहाँ सब यों दरसायो ॥

उपचार द्वारतें ज्ञान जिमि, ज्ञेयमांहि प्रापति कही।

ताही प्रकार तें ज्ञान में, वस्तु वृन्द वासा लही ॥१३५॥

यदि केवलज्ञान में सभी वस्तुएँ जानने में नहीं आवें तो केवलज्ञानी सर्वगत कैसे हो सकते हैं? यदि केवलज्ञान सर्वगत है तो फिर उसमें सभी वस्तुएँ कैसे नहीं जानी जायेगी ?

जिसप्रकार उपचार से ज्ञेयों में ज्ञान की प्राप्ति कही; उसीप्रकार ज्ञान में ज्ञेयों का वास भी जानना चाहिए।

इस विषय को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“ज्ञान में सभी ज्ञेय जानने में आते हैं; इसलिए ज्ञान ज्ञेयों में प्रविष्ट होता है - ऐसा कहा जाता है; इसतरह यहाँ व्यवहार सिद्ध किया है।

आत्मा के ज्ञान में पर पदार्थ निमित्त कारण हैं, यह सिद्ध करते हैं। पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञान में जानने में आ गये हैं, इसलिए आत्मा पर में प्रविष्ट हुआ है - ऐसा कहा जाता है। ज्ञान पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, इसलिए ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होता है - ऐसा उपचार करने में आया है।^१

जिसतरह दूध में रहा हुआ इन्द्रनीलरत्न अपनी प्रभा समूह द्वारा दूध में व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है - उपचार से दूध में पसरता हुआ दिखाई देता है; उसीतरह भगवान अखण्ड आत्मा, ज्ञान से अभिन्न होने से कर्ता अंश द्वारा आत्मपने को प्राप्त होता हुआ और ज्ञान साधन के भेद द्वारा कारणभूत पदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों में व्याप्त होकर वर्तता है। ज्ञेयों से भरे हुए विश्व में रहा हुआ आत्मा, समस्त लोकालोक को अपनी ज्ञानप्रभा द्वारा प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है; इसलिए व्यवहार से आत्मा का ज्ञान और आत्मा सर्वव्यापी कहलाता है; यद्यपि निश्चय से तो आत्मा और ज्ञान अपने असंख्य प्रदेशों में ही रहते हैं, ज्ञेयों में प्रविष्ट नहीं होते।^२

जैसे मयूर (मोर) बिम्ब है और दर्पण में दिखाई देता है, वह प्रतिबिम्ब है; वैसे ही लोकालोक के ज्ञेयाकार बिम्ब हैं और ज्ञान में जो दिखते हैं, वे ज्ञेयाकार प्रतिबिम्ब हैं।^३ सम्पूर्ण लोकालोक बिम्ब है और आत्मा का ज्ञान प्रतिबिम्ब है। पदार्थ उनके द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण है और ज्ञान पर्याय में परम्परा कारण है; इसलिए पदार्थ ज्ञानस्थित हैं - ऐसा निश्चित होता है। द्रव्य-गुण-पर्याय बिम्ब हैं, उनका कारण पदार्थ है। पदार्थ कारण है और द्रव्य-गुण-पर्याय कार्य है। प्रतिबिम्ब तो ज्ञान की पर्याय है। प्रतिबिम्ब का कारण तो भेदरूप द्रव्य-गुण-पर्याय है।^४

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२२७

२. वही, पृष्ठ-२२७-२२८

३. वही, पृष्ठ-२३०

४. वही, पृष्ठ-२३१

मयूर आदि दर्पण में दिखाई देते हैं, वह तो दर्पण की अवस्था है। पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञान में नहीं आए हैं; निश्चय से ऐसा होने पर भी व्यवहार से देखा जाए तो ज्ञान में हुई ज्ञान की अवस्था का कारण पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उनका कारण पदार्थ है। इसतरह परम्परा से ज्ञान में हुए ज्ञेयाकारों का कारण पदार्थ है; इसलिए उस ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकारों को अथवा ज्ञानाकारों को ज्ञान में देखकर, कार्य में कारण का उपचार करके पदार्थ ज्ञान में है - ऐसा व्यवहार से कहा जा सकता है। ज्ञान पर्याय में ज्ञेयाकार आ गये हैं - ऐसा भी कहा जाता है।

तेरा ज्ञान पर-पदार्थ के भेद तथा अभेद को जानने में समर्थ है। पर-पदार्थ अपने भेद तथा अभेद स्वभाव को जनावने में समर्थ है। किन्तु तेरा ज्ञान उन्हें लावे अथवा छोड़े - ऐसा संबंध नहीं है। वे तेरे ज्ञान में आवे - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।^१”

यहाँ आत्मा को कर्ता और ज्ञान को करणरूप में प्रस्तुत किया गया है और आत्मा और ज्ञान - दोनों को ही पदार्थों में व्याप्त कहा गया है अर्थात् उन्हें सर्वगत कहा गया है।

आत्मा ज्ञान द्वारा पदार्थों को जानता है; इसे ही 'आत्मा सर्वगत है और ज्ञान सर्वगत है' - ऐसा कहा जाता है। कर्ता की अपेक्षा आत्मा को सर्वगत कहा जाता है और करण की अपेक्षा ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है।

इस बात को यहाँ दूध में पड़े हुए इन्द्रनील रत्न का उदाहरण देकर समझाया गया है।

इन्द्रनील रत्न नीले रंग का होता है। उसका ऐसा स्वभाव है कि यदि उसे दूध में डाल दें तो उसकी प्रभा से सम्पूर्ण दूध नीला दिखाई देने लगता है। इसे ही ऐसा कहा जाता है कि दूध नीला हो गया।

१ .दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२३३

गहराई से देखें तो दूध नीला नहीं हुआ है, दूध तो सफेद ही है; क्योंकि यदि दूध में से रत्न को निकाल लिया जाय तो दूध सफेद ही दिखाई देगा। इसका तात्पर्य यही है कि इन्द्रनील रत्न के डूबे होने पर भी दूध तो सफेद ही था; फिर भी लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण दूध नीला हो गया है।

रत्न रत्न में है और दूध दूध में है तथा रत्न और दूध - दोनों ही संयोग के काल में भी अविकृत ही रहे हैं; तथापि रत्न की प्रभा से दूध रत्न के समान नीला दिखाई देता है। इसकारण व्यवहारनय से दूध को नीला कह दिया जाता है। इसीप्रकार ज्ञान में ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं तो ज्ञान ज्ञेयाकार दिखाई देने लगता है। यद्यपि ज्ञेयों को जानते समय भी ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है, ज्ञेयरूप नहीं होता और ज्ञेय ज्ञेयरूप रहते हैं, ज्ञानरूप नहीं होते; तथापि ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं; इसकारण ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है।

पदार्थों का स्वयं का स्वरूप है बिंब और दर्पण में झलकता हुआ उनका रूप है प्रतिबिंब। प्रतिबिंब का निमित्त तो बिंब है, पर उपादान तो दर्पण ही है; क्योंकि दर्पण में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब दर्पण की अवस्थाएँ हैं।

इसीप्रकार ज्ञेय पदार्थों का जो भी स्वरूप है, वह तो उनका स्वयं का ही है; परन्तु जानने में आनेवाला उनका रूप ज्ञान की रचना है। यद्यपि उनका ज्ञेयरूप निमित्त ज्ञेय पदार्थ हैं, तथापि ज्ञेयों को जाननेवाली उन ज्ञान पर्यायों का उपादान तो ज्ञान ही है, आत्मा ही है। इसप्रकार वे ज्ञेयाकार वास्तव में तो ज्ञान ही हैं, आत्मा ही हैं।

सम्पूर्ण विश्लेषण का सार यही है कि यद्यपि निश्चय से आत्मा अपने में ही रहता है, तथापि समस्त ज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा और ज्ञान सर्वगत हैं और समस्त ज्ञेय आत्मा में प्रतिबिम्बित हो जाने के कारण ज्ञेय ज्ञानगत है, आत्मगत है।

प्रवचनसार गाथा-३२

विगत गाथाओं में सबको देखने-जानने के कारण आत्मा को सर्वगत सिद्ध किया गया है; अब इस गाथा में यह बताते हैं कि सबको देखते-जानते हुए भी यह आत्मा बाह्य ज्ञेय पदार्थों से भिन्न ही है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

गेणहृदि णेव व मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।

पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥३२॥

(हरिगीत)

केवली भगवान पर ना ग्रहे छोड़े परिणमें।

चहुं ओर से सम्पूर्णतः निरवशेष वे सब जानते ॥३२॥

केवली भगवान पर को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं, पररूप परिणमित नहीं होते; परन्तु निरवशेषरूप से सम्पूर्ण आत्मा को या सभी ज्ञेय पदार्थों को सर्व ओर से देखते-जानते हैं।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“स्वभाव से ही परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का तथा परद्रव्यरूप परिणमित होने का अभाव होने से यह आत्मा स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूप से परिणमित होकर, निष्कंप ज्योतिवाले मणि के समान जिसके सर्वात्मप्रदेशों से दर्शन-ज्ञान-शक्ति स्फुरित है और जो परिपूर्ण आत्मा को आत्मा से सम्पूर्णतः अनुभव करता है अथवा एक साथ ही सर्वपदार्थों के समूह का साक्षात्कार करने के कारण ज्ञप्तिपरिवर्तन का अभाव होने से ग्रहण-त्याग क्रिया से विराम को प्राप्त पहले से ही समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित होने से पररूप से नहीं परिणमित होता हुआ सर्वप्रकार से सर्व विश्व को मात्र देखता जानता है।

इसप्रकार दोनों रूप में आत्मा का पर-पदार्थों से अत्यन्त भिन्नत्व ही है।”

उक्त टीका में गाथा की दूसरी पंक्ति के दो अर्थ किये गये हैं। प्रथम तो यह कि यह केवलज्ञानरूप से परिणमित आत्मा परिपूर्ण आत्मा का आत्मा से सम्पूर्णतः अनुभव करता है और दूसरा यह कि यह केवलज्ञानरूप परिणमित आत्मा सर्वप्रकार से सम्पूर्ण विश्व (लोकालोक) को जानता देखता है।

उक्त दोनों ही स्थितियों में यह भगवान आत्मा न तो परद्रव्यों को ग्रहण करता है, न उनका त्याग करता है और न उनरूप परिणमित ही होता है; इसलिए उनसे भिन्न ही है।

प्रथम तो भगवान आत्मा में एक त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति है, जिसके कारण यह आत्मा परद्रव्यों के ग्रहण-त्याग से शून्य है; दूसरे यह केवलज्ञान लोक-अलोक के सभी द्रव्य, उनके गुण और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को एक समय में एकसाथ ही जान लेता है, इसकारण केवलज्ञान में ज्ञप्तिपरिवर्तन नहीं होता। ज्ञप्तिपरिवर्तन के अभाव में नया जाननेरूप ग्रहण और पुराने को जानना बन्द करनेरूप त्याग भी नहीं होता।

इसतरह केवलज्ञानी आत्मा परद्रव्यों के ग्रहण-त्याग से शून्य हैं।

ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञेयोंरूप में परिणमित नहीं होने से भी पररूप परिणमित नहीं होते। इसप्रकार पर के ग्रहण-त्याग से शून्य और पररूप परिणमन से रहित केवली भगवान अपने आत्मा को और अन्य सभी पदार्थों को सम्पूर्णतः देखते-जानते हैं; फिर भी वे सभी पर-पदार्थों से, ज्ञेयपदार्थों से भिन्न ही है। यही आशय है इस गाथा और टीका का।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का अर्थ करते हुए दो प्रकार से व्याख्यान करते हैं। प्रथम व्याख्यान में तो इतना ही कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान व्यवहारनय से सम्पूर्ण ज्ञेयों को देखते-जानते हुए भी उन्हें ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं और उनरूप परिणमित भी नहीं होते। इसकारण वे परद्रव्यों से भिन्न ही है।

दूसरे व्याख्यान में ग्रहण-त्याग की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि

काम-क्रोधादि एवं पंचेन्द्रियों के विषयों को ग्रहण नहीं करते और ज्ञानादि अनन्त चतुष्टयों को छोड़ते नहीं हैं तथा एकसाथ सबको जानते हुए भी उनरूप परिणमित नहीं होते। इसकारण भी परद्रव्यों से भिन्न ही हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस बात को अनेक छन्दों में स्पष्ट करते हैं

(मनहरण)

केवली जिनेश परवस्तु को न गहै तजै,
तथा पररूप न प्रनवैं तिहूँ काल में ।
जातें ताकी ज्ञानजोति जगी है अकंपरूप,
छायक स्वभावसुख वेवै सर्व हाल में ॥
सोई सर्व वस्तु को विलौकै जाने सरवंग,
रंच हू न बाकी रहै ज्ञान के उजाल में ।
आरसी की इच्छा बिना जैसे घटपटादिक,
होत प्रतिबिंबित त्यों ज्ञानी गुनमाल में ॥१३६॥

केवली भगवान परवस्तुओं को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं हैं और तीनों काल में कभी भी पररूप परिणमित नहीं होते। उनकी ज्ञान ज्योति अकंपरूप जगमगा रही है; क्योंकि क्षायिकभाव रूप है और उन्हें सभी स्थितियों में स्वाभाविक सुख प्राप्त है।

वह केवलज्ञान ज्योति सभी वस्तुओं को सर्वांग देखती-जानती है, उसके प्रकाश में रंचमात्र भी ज्ञेय शेष नहीं रहते। जिसप्रकार दर्पण की इच्छा के बिना ही उसमें घटपटादि पदार्थ झलकते हैं; उसीप्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान में बिना इच्छा के ही सभी पदार्थ झलकते हैं।

(दोहा)

राग उदयतें संगरह, दोष भावतें त्याग ।
मोह उदय पर-परिनमन, ऐसे तीन विभाग ॥१३७॥
गहन-तजन-परपरिनमन, इन ही तें नित होत ।
तास नाश करि के भयो, केवल जोत उदोत ॥१३८॥

जिनकी ज्ञानप्रभा अचल, यथा महामनि जोत ।
प्रथमहिं जो सब लखि लियो, सोन अन्यथा होत ॥१३९॥
जथा आरसी स्वच्छ के, इच्छा को नहिं लेश ।
लसत तहाँ घटपट प्रगट, यही सुभाव विशेष ॥१४०॥
तैसे श्रीसरवज्ञ के, इच्छा को नहिं अंस ।
निरइच्छा जानत सकल, शुद्धचिदातम हंस ॥१४१॥

राग के उदय से यह जीव पर-पदार्थों का संग्रह करता है और द्वेषभाव के कारण उनका त्याग करता है तथा मोह के उदय में पर के रूप में परिणमन करता है अर्थात् उनमें अपनापन करता है। इसप्रकार से मोह के तीन भाग हो जाते हैं।

इन राग-द्वेष-मोह के कारण ही ग्रहण-त्याग और पर-परिणमन होता है। हे भगवन्! आपने राग-द्वेष-मोह - इन तीनों का नाश कर दिया है; इसकारण आपको केवलज्ञानज्योति प्रगट हो गई है।

महामणि की ज्योति के समान जिनकी ज्ञानप्रभा अचल है। उस ज्ञान प्रभा ने जो जैसा पहले से देख लिया है, वह वैसा ही होता है, अन्यथा नहीं होता।

जिसप्रकार स्वच्छ दर्पण के कोई इच्छा नहीं होती और उसमें घट-पटादि पदार्थ झलकते हैं। ऐसा ही स्वभाव ज्ञान का है। सर्वज्ञ भगवान के भी कोई इच्छा नहीं होती और उनके ज्ञान में लोकालोक के सभी पदार्थ झलक जाते हैं।

उक्त गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“पहले आत्मा तथा उसका ज्ञान पर में प्रविष्ट होता है तथा पर के द्रव्य-गुण-पर्याय आत्मा में प्रविष्ट होते हैं - ऐसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध की बात की थी; किन्तु वास्तव में आत्मा का स्वभाव लोकालोकरूपी पर-पदार्थों के ग्रहण-त्याग का नहीं है।^१

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२३५

केवली को क्षयोपशम ज्ञान का अभाव है; वे एक ही साथ सभी को जानते हैं। खण्ड-खण्ड जानने में ज्ञान में परिवर्तन होता है और राग आता है; किन्तु केवली को यह नहीं होता। एक ज्ञेय को जानने, फिर दूसरे को जानना अथवा एक को जानकर छोड़ना और उसके बाद दूसरे को जानना - ऐसी ज्ञप्ति क्रिया का परिवर्तन करना अर्थात् ज्ञान में एक ज्ञेय को ग्रहण करना और दूसरे को छोड़ना - यह ग्रहण-त्याग है। ऐसी ग्रहण-त्याग की क्रिया है। ऐसी क्रिया का केवली भगवान को अभाव हुआ है। निचली (अल्प) दशा में भी ज्ञान परवस्तु का ग्रहण-त्याग नहीं करता, किन्तु एक को जानकर छोड़ना, फिर दूसरे को जानकर छोड़ना - यह निचलीदशा में होता है; किन्तु केवली भगवान को ऐसा नहीं होता। ऐसी ग्रहण-त्याग की क्रिया का उनके अभाव है; क्योंकि वहाँ एक ही साथ सभी पदार्थ जानने में आते हैं।^१

१. अपूर्णदशा में भी जीव पर का ग्रहण-त्याग नहीं करता। विपरीत ज्ञान मात्र मानता है कि मैं पर का ग्रहण-त्याग करता हूँ। इसप्रकार अज्ञान से खेद सहित ज्ञप्तिपरिवर्तन को प्राप्त होता है।

२. सम्यग्ज्ञान होते ही 'मैं पर का ग्रहण-त्याग करता हूँ' - ऐसा नहीं मानता; इसलिए ज्ञान मिथ्या नहीं; किन्तु अपूर्ण है, इसलिए एक के बाद एक जानता है। इसप्रकार ज्ञान में परिवर्तन होता है। इसतरह वह ज्ञान सहित परिवर्तन को प्राप्त है।

३. भगवान को पूर्णदशा होने पर ग्रहण-त्याग क्रिया का परिवर्तन नहीं है। केवली भगवान अक्रमपने जानते-देखते हैं, वहाँ खण्ड-खण्डपना अथवा परिवर्तन नहीं है।

इसतरह पूर्वोक्त दोनों ही प्रकार से आत्मा का पदार्थों से अत्यन्त भिन्नपना ही है।^२

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि सबको जानते-देखते हुए भी भगवान, भगवानों सबरूप नहीं होते, ज्ञानरूप ही रहते हैं, ज्ञेयपदार्थों से भिन्न ही रहते हैं।

प्रवचनसार गाथा-३३

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि केवलज्ञान में लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है, पर केवलज्ञानी लोकालोकरूप नहीं होते, लोकालोक भी उनरूप नहीं होता; वे ज्ञेयरूप लोकालोक से भिन्न ही रहते हैं, निर्लिप्त ही रहते हैं।

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि केवलज्ञानी के समान श्रुतज्ञानी भी सबको जानते हुए सबसे भिन्न ही रहते हैं, निर्लिप्त ही रहते हैं। इसप्रकार से केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है।

मूल गाथा इसप्रकार है -

जो हि सुदेण विजाणादि अप्पाणं जाणगं सहावेण।

तं सुदेकेवलिमिसियो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥३३॥

(हरिगीत)

श्रुतज्ञान से जो जानते ज्ञायकस्वभावी आत्मा।

श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥३३॥

जो वास्तव में श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ज्ञायक आत्मा को जानता है, उसे लोक के प्रकाशक ऋषिगण श्रुतकेवली कहते हैं।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अनादिनिधन निष्कारण असाधारण स्वसंवेद्यमान चैतन्य सामान्य महिमा के धारक चेतनस्वभाव से एकत्व होने से जिसप्रकार भगवान युगपत् परिणमित समस्त चैतन्यविशेषयुक्त केवलज्ञान के द्वारा केवल आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली हैं; उसीप्रकार अनादि-निधन निष्कारण असाधारण स्व-संवेद्यमान चैतन्य सामान्य महिमा के

धारक चेतनस्वभाव से एकत्व होने से हम भी क्रमशः परिणमित कतिपय चैतन्य विशेषों से युक्त श्रुतज्ञान द्वारा केवल आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली हैं।

इसलिए विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो, हम तो स्वरूपनिश्चल ही रहते हैं।”

मूल गाथा में निश्चय श्रुतकेवली का स्वरूप समझाया गया है। कहा गया है कि जो श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञायकस्वभावी आत्मा को जानता है, उसे श्रुतकेवली कहते हैं।

उक्त कथन स्पष्ट करते हुए, टीका में निश्चय केवली से निश्चय श्रुतकेवली की तुलना की गई है और कहा गया है कि जिसप्रकार निश्चय से केवली भगवान केवलज्ञान द्वारा केवल आत्मा को जानने के कारण केवली हैं; उसीप्रकार श्रुतकेवली श्रुतज्ञान द्वारा केवल आत्मा को जानने के कारण श्रुतकेवली हैं। जब दोनों ही केवल आत्मा को जानने के कारण केवली या श्रुतकेवली हैं तो फिर अधिक जानने की आकुलता से क्या लाभ है? आत्मा के कल्याण के लिए तो स्वरूप में निश्चल रहना ही पर्याप्त है।

टीका में जिस आत्मा के अनुभव की चर्चा है, उसके संबंध में केवली और श्रुतकेवली दोनों ही प्रकरणों में एक समान विशेषणों का उपयोग किया गया है; दोनों में ही अनुभवगम्य आत्मा को अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण, स्वस्वेद्यमान चैतन्य सामान्य महिमावान और चेतनस्वभावी बताया गया है; किन्तु केवलज्ञान और श्रुतज्ञान संबंधी विशेषणों में कहा गया है कि केवलज्ञान युगपत् परिणमित है और श्रुतज्ञान क्रमशः परिणमित है, केवलज्ञान समस्त सामान्य चैतन्य विशेषों से युक्त है और श्रुतज्ञान कतिपय चैतन्य विशेषों से युक्त है। ऐसा होने पर चेतनस्वभावी आत्मा में एकत्व केवली और श्रुतकेवली में समान है, दोनों का जानना भी समान

है; अतः उक्त अन्तर होते हुए भी दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका के समान करते हुए भी अन्त में सूर्य और दीपक का उदाहरण देकर समझाते हैं; जो इसप्रकार है -

“जिसप्रकार कोई देवदत्त नामक पुरुष दिनमें सूर्योदय से देखता है और रात्रि में दीपक से देखता है; उसीप्रकार केवली भगवान सूर्योदय के प्रकाश में देखने समान केवलज्ञान से आत्मा को जानते-देखते हैं और संसारी विवेकीजन दीपक के प्रकाश के समान श्रुतज्ञान से रागादि विकल्पों से रहित परमसमाधि में निज आत्मा को जानते-देखते हैं, अनुभव करते हैं।

तात्पर्य यह है कि ‘आत्मा परोक्ष है; अतः उसका ध्यान कैसे कर सकते हैं?’ इसप्रकार के संशय में पड़कर परमात्वभावना को छोड़ना उचित नहीं है।”

निश्चय श्रुतकेवली के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए वृन्दावनदासजी ने बड़े-बड़े छह छन्द लिखे हैं; जो मूलतः पठनीय हैं; उन सभी को यहाँ देना संभव नहीं है; फिर भी अन्त में दिया गया दोहा इसप्रकार है -

(दोहा)

शब्दब्रह्मकरि जिन लख्यो, ज्ञानब्रह्म निजरूप।

ताही को श्रुतिकेवली, भाषतु हैं जिनभूप ॥१४८॥

जिन्होंने शब्द ब्रह्म के माध्यम से ज्ञानब्रह्म रूप निज आत्मा देखा है; उन्हीं को जिनेन्द्र भगवान श्रुतकेवली कहते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अब केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि सामान्यरूप से समान है, उनमें अन्तर नहीं है - यह दर्शाते हैं। राग-द्वेष की अस्थिरता को गौण करो तो सम्यग्दृष्टि और केवलज्ञानी में अन्तर नहीं। इस गाथा में

मुनि की बात है, किन्तु यहाँ सम्यग्दृष्टि भी ले लेना। अविशेष अर्थात् अन्तर नहीं है – यह बताकर विशेष जानने की इच्छा के क्षोभ को नष्ट करते हैं।

ज्ञानस्वभाव का भान होने पर समकिति और केवली में अंतर नहीं होता। अल्प अंतर होता है, उसको गौण किया है।^१

आत्मा चैतन्य ज्ञानज्योति है, उसका भान होकर जो श्रुतज्ञान प्रगट हुआ, उसके द्वारा वे आत्मा को अनुभवते हैं। केवली भगवान केवलज्ञान द्वारा आत्मा को अनुभवते हैं। इसतरह केवली और श्रुतकेवलियों में समानता है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन है – ऐसे स्वभाव को श्रुतज्ञान द्वारा जाने उनको श्रुतकेवली कहते हैं।^२

चैतन्यस्वभाव से भरा हुआ आत्मा जाना है; इसलिए इसमें सभी कुछ आ गया है; अतः बहुत जानने की इच्छा को छोड़ दे। ज्ञान कम है, उसे बढ़ाऊँ – ऐसी अस्थिरता की इच्छा छोड़कर ज्ञानस्वरूप में स्थिर रहे – यही योग्यता है और यही केवलज्ञान प्राप्ति का उपाय है। इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं है।^३”

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि श्रुतज्ञान से आत्मा को जाननेवाले, आत्मा का अनुभव करनेवाले श्रुतकेवली हैं तो फिर तो प्रत्येक आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि को श्रुतकेवली होना चाहिए; जबकि शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि भरतक्षेत्र में भद्रबाहु के बाद कोई भी श्रुतकेवली हुआ ही नहीं है।

समयसार की नौवीं-दसवीं गाथा के प्रकरण में भी इसप्रकार प्रश्न उपस्थित हुआ है। अतः समयसार के अनुशीलन के समय इस प्रकरण पर

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२४२

२. वही, पृष्ठ-२४६-२४७

३. वही, पृष्ठ-२४८

विस्तार से चर्चा की गई थी; जिसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है –

“अरे भाई ! निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली कोई अलग-अलग व्यक्ति थोड़े ही होते हैं, श्रुतकेवली तो एक ही होते हैं और वे द्वादशांग के पाठी और आत्मानुभवी ही होते हैं। आत्मानुभवी होने के कारण उन्हें ही निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और द्वादशांग के पाठी होने के कारण उन्हें ही व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं।

इसी बात को इसप्रकार भी व्यक्त करते हैं कि श्रुतकेवली निश्चय से निज शुद्धात्मा को ही जानते हैं, पर को नहीं, द्वादशांगरूप श्रुत को भी नहीं; तथा वे ही श्रुतकेवली व्यवहार से द्वादशांगरूप श्रुत को जानते हैं, आत्मा को नहीं।

ध्यान रहे, ये दोनों ही नय एक साथ एक ही समय में एक ही व्यक्ति पर घटित होते हैं, अन्य-अन्य व्यक्तियों पर नहीं, अन्य-अन्य समय पर भी नहीं। जो व्यक्ति जिससमय आत्मा को जानने के कारण निश्चय-श्रुतकेवली हैं; वही व्यक्ति उसीसमय द्वादशांगरूप श्रुत का विशेषज्ञ होने के कारण व्यवहार श्रुतकेवली भी है। इसीप्रकार जो व्यक्ति जिससमय द्वादशांग का पाठी होने से व्यवहारश्रुतकेवली है, वही व्यक्ति उसीसमय आत्मज्ञानी होने से निश्चयश्रुतकेवली भी है। उनमें न व्यक्तिभेद है और न समयभेद ही।

इसीप्रकार के प्रयोग केवली भगवान के बारे में भी उपलब्ध होते हैं। नियमसार में लिखा है –

‘जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणण केवली भगवं ।

केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।

जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं ।

जड़ कोड़ भणड़ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६९॥

व्यवहारनय से केवली भगवान सभी को जानते-देखते हैं और निश्चयनय से केवली भगवान मात्र आत्मा को ही जानते-देखते हैं ।

केवली भगवान निश्चय से आत्मस्वरूप को ही देखते-जानते हैं, लोकालोक को नहीं । यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहे तो उसमें क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि ऐसा कहने में भी कोई दोष नहीं है ।

केवली भगवान व्यवहार से लोकालोक को देखते-जानते हैं, आत्मा को नहीं । यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहता है तो उसमें क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि ऐसा कहने में भी कोई दोष नहीं है ।’

इसीप्रकार का भाव कलश में भी आया है, जो इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

‘जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः

स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।

नो वेत्ति सेऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्

वक्तीति कोऽपि मुनिपो न च तस्स दोषः ॥

तीर्थकर भगवान वास्तव में समस्त लोक को जानते हैं और वे एक निर्दोष, निजसुख में लीन आत्मा को नहीं जानते - कोई मुनिवर व्यवहारमार्ग से ऐसा कहते हैं तो कोई दोष नहीं है ।’

क्या उक्त कथनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निश्चयकेवली अलग होते हैं और व्यवहारकेवली अलग; तथा निश्चयकेवली मात्र आत्मा को जानते हैं और व्यवहारकेवली मात्र लोकालोक को ? इसीप्रकार क्या यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि जब केवली निश्चय में होते हैं, तब मात्र आत्मा को जानते हैं; और जब व्यवहार में होते हैं, तब मात्र लोकालोक को जानते हैं ?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि केवली दो प्रकार के होते ही नहीं । एक

ही केवली का दो प्रकार से निरूपण किया जाता है - एक निश्चयकेवली और दूसरे व्यवहारकेवली । जो केवली जिससमय आत्मा को जानने के कारण निश्चयकेवली कहे जाते हैं, वे ही केवली उसीसमय लोकालोक को जानने के कारण व्यवहारकेवली कहे जाते हैं; न तो उनमें व्यक्तिभेद होता है और न समयभेद ।

इसीप्रकार निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली पर घटित कर लेना चाहिए ।^१

प्रश्न - शास्त्रों में जिन श्रुतकेवलियों की बात आती है, वे तो सभी मुनिराज ही थे; फिर चतुर्थ गुणस्थान से श्रुतकेवली होते हैं - यह आप कैसे कहते हैं ?

उत्तर - सौधर्मादि इन्द्र, लोकान्तिकदेव एवं सर्वार्थसिद्धि आदि के अहमिन्द्र भी तो द्वादशांग के पाठी और आत्मानुभवी होते हैं । तथा यह तो आप जानते ही हैं कि देवगति में संयम नहीं होता; अतः उनका गुणस्थान भी चौथे से ऊपर नहीं होता ।

यद्यपि यह बात सत्य है कि चौथे से बारहवें गुणस्थान तक के जीव श्रुतकेवली हो सकते हैं; तथापि इसका आशय यह कदापि नहीं कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का प्रत्येक व्यक्ति श्रुतकेवली होता है; क्योंकि श्रुतकेवली होने के लिए स्वसंवेदनज्ञानी और द्वादशांग का पाठी - दोनों शर्तें पूरी होना अनिवार्य है ।

प्रश्न - जब चौथे गुणस्थान में श्रुतकेवली हो सकते हैं तो फिर तो पंचमकाल में भी श्रुतकेवली हो सकते होंगे; क्योंकि पंचमकाल में भी छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिङ्गी संत हो सकते हैं, होते भी हैं ।

उत्तर - हाँ, हाँ क्यों नहीं ? अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु पंचमकाल में ही हुए हैं । उनके पहले भी अनेक श्रुत-

केवली पंचमकाल में हुए हैं, जिनकी चर्चा जिनागम में है। अतः 'अभी श्रुत-केवली नहीं होते' - आचार्य जयसेन के इस वाक्य में समागत 'अभी' शब्द का अर्थ अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद का काल ही लेना चाहिए।

'अभी श्रुतकेवली नहीं होते' - इस कथन से यह अर्थ निकालना कि अभी स्वसंवेदन के बल से आत्मानुभव भी नहीं होता - यह भी ठीक नहीं है और आत्मानुभव होता है, इसलिए अभी निश्चयश्रुतकेवली भी होते हैं - यह भी ठीक नहीं है। जब भद्रबाहु श्रुतकेवली के बाद कोई श्रुतकेवली हुआ ही नहीं तो फिर अभी भी भावश्रुतकेवली होने की बात कहाँ टिकती है ?

इसीप्रकार जब पंचमकाल के अन्त तक भावलिंगी मुनिराज आर्यिकाएँ एवं सम्यग्दृष्टि-अणुव्रती श्रावक-श्राविकायें होना सुनिश्चित है तो फिर अभी स्वसंवेदनरूप आत्मज्ञान का अभाव कैसे हो सकता है ?^१

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि श्रुतज्ञान का अधिकतम विकास द्वादशांग का पाठी होना ही है; इसकारण ही उसे यहाँ सर्वश्रुत कहा है। 'जो आत्मा सर्वश्रुत को जानता है, वह श्रुतकेवली है' - का अर्थ यह हुआ कि जिस आत्मा का श्रुतज्ञान पूर्णतः विकसित हो गया है, वह श्रुतकेवली है।

पूर्ण विकसित श्रुतज्ञान में स्व-पर सभी द्रव्य श्रुतज्ञान के विषय बनते हैं। अतः यह सुनिश्चित हुआ कि सर्वश्रुत को जाननेवाले श्रुतकेवली ने सभी को जाना है। उसके इस सर्वज्ञान में स्व को जानने के कारण वह निश्चयश्रुतकेवली कहा जाता है और द्वादशांगरूप पर को जानने के कारण वह व्यवहारश्रुतकेवली कहलाता है।

१. समयसार अनुशीलन भाग १ (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ १०१-१०२

ऐसी ही अपेक्षा केवली पर भी घटित होती है। स्व-पर सभी को जाननेवाले केवली भगवान स्व को जानने के कारण निश्चयकेवली और लोकालोक को जानने के कारण व्यवहारकेवली कहे जाते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि केवली भगवान निश्चय से आत्मज्ञ हैं और व्यवहार से सर्वज्ञ।^१

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण का तात्पर्य यही है कि अपने आत्मा को अनुभवपूर्वक जाननेवाला आत्मा, आत्मा में ही अपनापन स्थापित करनेवाला आत्मा और आत्मा में ही जमजानेवाला, रमजानेवाला आत्मा ही श्रुतकेवली बनता है और केवली भी वही बनता है।

तात्पर्य यह है कि पढ़-पढ़कर या सुन-सुनकर आजतक न कोई केवली बना है और न श्रुतकेवली। केवली और श्रुतकेवली बनने के लिए आत्मज्ञान और आत्मध्यान ही कार्यकारी हैं। अतः आत्मार्थी भाइयों को परज्ञेयों की जानने की आकांक्षा से, अधिक ज्ञेयों को जानने की आकांक्षा से परलक्षी १. समयसार अनुशीलन भाग १ (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ-१०३ होना योग्य नहीं है।

धर्म के आरम्भ करने की विधि ही यह है कि पहले गुरुपदेशपूर्वक विकल्पात्मक क्षयोपशमज्ञान में निजशुद्धात्मतत्त्व का स्वरूप समझे, सम्यक् निर्णय करे; उसके उपरान्त गुरु आदि समस्त परपदार्थों से उपयोग हटाकर उपयोग को आत्मसन्मुख करे और आत्मा में ही तन्मय हो जावे।

यह आत्मतन्मयता ही आत्मानुभूति का उपाय है, आत्मानुभूति है; यही धर्म का आरम्भ है, यही संवर है। निरंतर वृद्धिगत यह आत्मस्थिरता ही निर्जरा है और अनन्तकाल तक के लिए आत्मा में समा जाना ही वास्तविक मोक्ष है, जो अनन्तसुखस्वरूप है और प्राप्त करने के लिए एकमात्र परम-उपादेय है।

- निमित्तोपादान, पृष्ठ-४०

प्रवचनसार गाथा-३४

विगत गाथाओं में विस्तार से यह बताया गया है कि आत्मा को जाननेवाला ही केवली है और श्रुतकेवली है; इसलिए केवली और श्रुतकेवली में कोई अन्तर नहीं है।

अब इस ३४ वीं गाथा में कहते हैं कि यदि श्रुत की उपाधि की उपेक्षा करें तो श्रुतज्ञान भी तो ज्ञान ही है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं ।

तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

(हरिगीत)

जिनवर कथित पुद्गल वचन ही सूत्र उसकी ज्ञप्ति ही ।

है ज्ञान उसको केवली जिनसूत्र की ज्ञप्ति कहें ॥३४॥

पुद्गलद्रव्यात्मक वचनों के रूप में जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप के ज्ञान को सूत्र की ज्ञप्ति अर्थात् श्रुतज्ञान कहा गया है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“प्रथम तो श्रुत ही सूत्र है और वह सूत्र भगवान अरहंत सर्वज्ञ द्वारा स्वयं जानकर उपदिष्ट, स्यात्कार चिह्नयुक्त, पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। उस शब्दब्रह्म की ज्ञप्ति (जानना) ज्ञान है। उस ज्ञान का कारण होने से उक्त सूत्ररूप श्रुत को उपचार से ज्ञान कहा जाता है। इसप्रकार यह फलित हुआ कि सूत्र की ज्ञप्ति ही श्रुतज्ञान है।

अब यदि उपाधि होने से सूत्र का आदर न किया जाय तो सूत्रज्ञप्ति में से ज्ञप्ति ही शेष रह जाती है और वह ज्ञप्ति केवली और श्रुतकेवली के आत्मानुभवन में समान ही है। इसलिए ज्ञान में श्रुतोपाधिकृत भेद नहीं है।”

आचार्य जयसेन भी इस गाथा का अर्थ तात्पर्यवृत्ति में इसीप्रकार करते हुए कहते हैं कि द्रव्यश्रुत व्यवहार से श्रुतज्ञान है और भावश्रुत निश्चय से श्रुतज्ञान है।

केवली भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर या उनकी दिव्यध्वनि के अनुसार लिखे गये शास्त्रों को पढ़कर जो ज्ञान होता है; उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

यहाँ विचार का बिन्दु यह है कि केवली की दिव्यध्वनि तो भाषावर्गणा-रूप पुद्गलों की रचना है। पुद्गलमय होने से वह स्वयं तो कुछ जानती नहीं है; जानने-देखने का कार्य तो आत्मा में ही होता है, आत्मा ही करता है; पुद्गलमयी दिव्यध्वनि तो मात्र निमित्त है।

श्रुतज्ञान में से यदि द्रव्यश्रुत को गौण कर दें तो भावश्रुत तो ज्ञान ही है, ज्ञान की ही पर्याय है; आत्मानुभव भी भावश्रुतज्ञानरूप ही है। केवली भगवान अपने आत्मा को ज्ञानपर्याय से ही जानते हैं और श्रुतज्ञानी भी अपने आत्मा का अनुभव भावश्रुतज्ञानरूप ज्ञानपर्याय से ही करते हैं। इसप्रकार आत्मा को जानने में केवली और श्रुतकेवली अर्थात् केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी में समानता ही है।

उक्त गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“प्रथम सूत्र को कारण कहा, पश्चात् उसे उपाधि कहा; इस उपाधि का लक्ष्य छोड़े तो जानने की क्रिया ही शेष रहती है।

१. त्रिलोकी नाथ तीर्थकर की वाणी के सिवाय अन्य कोई दूसरा निमित्त नहीं होता। अन्यमत की ही नहीं अपितु जैन के नाम से जो कल्पित शास्त्र की रचना हुई है, वह भी (आत्मज्ञान में) निमित्त नहीं होता।

२. अब, उस निमित्त को उपाधि कहा है, क्योंकि उसका लक्ष्य छोड़ने से ही श्रुतज्ञान होता है।

३. उनका आदर छोड़कर स्वभाव में ठहरनेरूप जाननक्रिया रही, वह श्रुतज्ञान है। इसे ही धर्म कहते हैं।^१

निमित्त और उपाधि का आदर छोड़कर जो स्वभाव में ठहरता है, उसे श्रुतज्ञान होता है। यहाँ निमित्त का ज्ञान कराया है, किन्तु निमित्त का आदर छोड़ाया है। निमित्त के लक्ष्य से जो राग की मंदता हुई, वह श्रुतज्ञान नहीं है। मेरी ज्ञानपर्याय मेरे में होती है – ऐसा आत्मा को भासित हो तो सूत्र का आदर छूट जाता है।^२

श्रुतज्ञानी ज्ञानस्वभावी आत्मा को भावश्रुतज्ञान द्वारा अनुभवते हैं और केवली भगवान केवलज्ञान द्वारा आत्मा को अनुभवते हैं; इसलिए दोनों में ध्येय एक ही है, अंतर नहीं। चौथे गुणस्थानवाले जीव त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेकर पुण्य-पाप का आश्रय छोड़कर क्रमशः कितने ही चैतन्य विशेषोंवाले श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को अनुभवते हैं और तेरहवें गुणस्थानवाले भगवान भी अक्रम सर्वचैतन्य विशेषोंवाले केवलज्ञान द्वारा आत्मा को अनुभवते हैं – अतः दोनों को एक समान गिना है।^३”

इस गाथा में द्रव्यश्रुत को केवली उपदिष्ट पौद्गलिक वचनात्मक कहा है और उसके आश्रय से प्राप्त होनेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है।

इसकी व्याख्या करते हुए टीकाओं में यह कहा गया है कि श्रुत अर्थात् निमित्तरूप द्रव्यश्रुत को गौण कर दें तो श्रुतज्ञान भी तो ज्ञान ही है।

केवलज्ञान भी ज्ञान है और श्रुतज्ञान भी ज्ञान है। इसप्रकार केवलज्ञान से आत्मा को जानना भी ज्ञान से जानना है और श्रुतज्ञान से आत्मा को जानना भी ज्ञान से ही जानना है। केवली और श्रुतकेवली – दोनों ही अपने आत्मा को ज्ञान से ही जानते हैं; अतः उन दोनों के आत्मा को जानने में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि ज्ञान में श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२५२

२. वही, पृष्ठ-२५२

३. वही, पृष्ठ-२५३

प्रवचनसार गाथा-३५

विगत गाथा में श्रुतज्ञान में श्रुतोपाधि का निषेध किया, द्रव्यश्रुत का निषेध किया, द्रव्यश्रुतरूप निमित्त का निषेध किया; अब इस ३५वीं गाथा में आत्मा और ज्ञान में कर्ता-करण संबंधी भेद का भी निषेध करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।

णाणं परिणमदि सयं अट्टा णाणट्टिया सव्वे ॥३५॥

(हरिगीत)

जो जानता सो ज्ञान आतम ज्ञान से ज्ञायक नहीं ।

स्वयं परिणत ज्ञान में सब अर्थ थिति धारण करें ॥३५॥

जो जानता है, वह ज्ञान है, ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञायक है – ऐसा नहीं है। वह आत्मा स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमित है और सर्व पदार्थ ज्ञानस्थित हैं।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“साधकतम उष्णत्वशक्ति अन्तर्लीन है जिसमें, ऐसी अग्नि के जिसप्रकार स्वतंत्ररूप से दहनक्रिया की प्रसिद्धि होने से उष्णता सिद्ध है; उसीप्रकार अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्व की शक्तिरूप परमैश्वर्यवान होने से जो आत्मा स्वयमेव जानता है, वही ज्ञान है।

जिसप्रकार पृथग्वर्ती हांसिये से देवदत्त काटनेवाला कहलाता है; उसीप्रकार ज्ञान से आत्मा जाननेवाला है – ऐसा नहीं है।

यदि ऐसा हो तो दोनों के अचेतनता आ जावेगी और दो अचेतनों का संयोग होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होगी। आत्मा और ज्ञान के पृथग्वर्ती होने पर भी यदि आत्मा को ज्ञप्ति होना माना जाय तो परज्ञान के द्वारा पर को ज्ञप्ति हो जावेगी और इसप्रकार राख आदि के भी ज्ञप्ति का उद्भव निरकुंश हो जावेगा।

दूसरी बात यह है कि अपने से अभिन्न समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित ज्ञानरूप स्वयं परिणमित होनेवाले को, कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों के कारणभूत समस्त पदार्थ ज्ञानवर्ती ही कथंचित् हैं; इसलिए ज्ञाता और ज्ञान के विभाग की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है ?”

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में भी इस गाथा का भाव इन्हीं उदाहरणों से इसीप्रकार स्पष्ट किया है।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इस गाथा और इसकी टीकाओं के भाव को ११ छन्दों में विस्तार से स्पष्ट करते हैं, जो मूलतः पठनीय हैं।

नमूने के रूप में एक छन्द प्रस्तुत है -

(षटपद्)

जो जाने सो ज्ञान जुदी कछु वस्तु न जानो ।

आतम आपहि ज्ञान धर्मकरि ज्ञायक मानो ॥

ज्ञानरूप परिनवै स्वयं यह आतमरामा ।

सकल वस्तु तसु बोधमाहिं निवसैं करि धामा ॥

जद्यपि संज्ञा संख्यादितें भेद प्रयोजनवश कहा ।

तद्यपि प्रदेशतें भेद नहिं एक पिंड चेतन महा ॥१५०॥

जो जानता है, वही ज्ञान है। इस ज्ञान और आत्मा को जुदी वस्तु नहीं समझो; क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानरूप ही है और ज्ञानधर्म के कारण ही वह ज्ञायक है। यह आतमराम स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमित होता है और जगत की सम्पूर्ण वस्तुएँ उस ज्ञान में स्थित हैं, झलकती हैं; निवास करती हैं।

यद्यपि संज्ञा, संख्या आदि की अपेक्षा आत्मा और ज्ञान में भेद किये जाते हैं; तथापि आत्मा और ज्ञान में प्रदेशभेद नहीं है; आत्मा और ज्ञानादि अनंतगुण एक पिंडरूप ही हैं।

इस गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“आत्मा अपृथक्भूत कर्तृत्व और करणत्व की शक्तिरूप परमेश्वर्य-वाला होने से जो स्वयं ही जानता है; अर्थात् जो ज्ञायक है, वही ज्ञान है। सम्यक्श्रुतज्ञान में चौथे गुणस्थान में आत्मा कर्ता और ज्ञान करण - ऐसे भेद नहीं हैं। आत्मा स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमता है।

प्रश्न - श्रुत और राग को तो निकाल दिया, किन्तु आत्मा ज्ञानी और ज्ञान - ये भेद तो हैं न ?

समाधान - नहीं।

प्रश्न - ज्ञान ने आत्मा को जाना अर्थात् भेद है ?

समाधान - नहीं। ज्ञान के साधन द्वारा आत्मा को जानते हैं - इसे भी निकाल दिया है। निमित्त और व्यवहार साधन तो दूर ही रह गये, किन्तु आत्मा स्वयं कर्ता और ज्ञान साधन - ऐसा भेद नहीं है। निमित्त और पुण्य के परिणाम साधन - इस बात को तो पहले ही निकाल दिया था। निमित्त और राग से दूर, श्रुत उपाधि से दूर और कर्ता और करण के भेद से भी उसे दूर बताया है।

आत्मा स्वयं कर्ता और स्वयं करण - ऐसे अभेदस्वरूप से परमेश्वर है। कर्ता और करण के भेद की परमेश्वरता नहीं है। आत्मा ज्ञान है तथा वह ज्ञान द्वारा जानता है - ऐसा भेद आत्मा में नहीं है।^१

जैसे अग्नि उष्णता द्वारा जलाती है - ऐसा नहीं है; वैसे ही आत्मा ज्ञान द्वारा जानता है - ऐसा भी नहीं है; किन्तु स्वयं ही ज्ञानरूप से परिणमता है, गुण-गुणी भेद नहीं है, अभेद है। आत्मा श्रुतज्ञान द्वारा जानता है - ऐसा भेद नहीं है। आत्मा ज्ञानरूप परिणमित हो गया है। जैसे अग्नि को उष्ण कहते हैं, अग्नि और उष्णता पृथक् नहीं है; वैसे ही आत्मा और ज्ञान पृथक् नहीं है।^२

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२५८

२. वही, पृष्ठ-२५९

पूर्व की गाथा में श्रुत-उपाधिकृत भेद निकाल दिया था। अब कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञान के विभाग की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है ? ज्ञानपर्याय पर का ग्रहण-त्याग करे - यह तो मिथ्याभाव है। इसीतरह ज्ञान पर्याय शास्त्र से अथवा पर से प्रगट होती है - यह भी मिथ्याभाव है।

ज्ञानपर्याय और ज्ञाता का विभाग करना यह क्लिष्ट कल्पना है; उससे तेरी आत्मा को क्या लाभ है ? ज्ञाता और ज्ञानपर्याय - इन दो को लक्ष्य में लेने से विकल्प होता है और विकल्प में लाभ मानने से मिथ्यात्व होता है।^१”

इस गाथा और इसकी टीकाओं में अभिन्न कर्ता और करण की ही बात है। सोलहवीं गाथा की टीका में अभिन्न षट्कारकों की चर्चा विस्तार से की जा चुकी है।

वस्तुतः बात यह है कि निश्चय कर्ता और करण अभिन्न होते हैं और व्यवहार से कर्ता और करण भिन्न-भिन्न होते हैं। अग्नि उष्णता से ईंधन को जलाती है और हम हांसिये से लकड़ी को काटते हैं। इन वाक्यों में वस्तु-स्थिति एकदम जुदी-जुदी है, क्योंकि जिसप्रकार हमसे हांसिया जुदा है, उसप्रकार अग्नि उष्णता से जुदी नहीं है। आत्मा और ज्ञान की स्थिति हांसिया और हम जैसी नहीं है, अपितु अग्नि और उष्णता जैसी है।

हम हांसिया से काटते हैं - यह तो बहुत कुछ ठीक लगता है, पर अग्नि उष्णता से जलाती है - यह कुछ अटपटा लगता है। ‘अग्नि जलाती है’ क्या इतना ही पर्याप्त नहीं है। यदि है तो फिर अग्नि उष्णता से जलाती - इस क्लिष्ट कल्पना से क्या लाभ है ? इसीप्रकार ‘आत्मा जानता है’ इतना ही पर्याप्त है। आत्मा ज्ञान से जानता है - इस क्लिष्ट कल्पना से क्या लाभ है ?

टीकाओं में इसी बात को तर्क व युक्तियों से समझाया गया है।

भारतीय दर्शनों में एक दर्शन ऐसा है, जो यह मानता है कि आत्मा जुदा है और ज्ञान जुदा है। आत्मा और ज्ञान - ये दोनों समवाय नामक संबंध के कारण जुड़े हैं। उनका कहना है कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं है, अपितु ज्ञान के संयोग से ज्ञानी है।

उक्त मत से असहमति व्यक्त करते हुए यहाँ कहा गया है कि आत्मा और ज्ञान यद्यपि कथंचित् भिन्न-भिन्न हैं; तथापि वे सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं। आत्मा और ज्ञान में गुण-गुणी का भेद होने पर भी उनमें प्रदेशभेद नहीं है; दोनों के प्रदेश एक ही हैं।

उनमें परस्पर अतद्भाव है, अभाव नहीं है, अत्यन्ताभाव नहीं है। जिनके प्रदेश भिन्न-भिन्न होते हैं, उनमें परस्पर अभाव होता है, अत्यन्ताभाव होता है; पर जिनके प्रदेश एक होते हैं, उनमें अतद्भाव होता है; अभाव नहीं, अत्यन्ताभाव भी नहीं।

वस्तुतः बात यह है कि आत्मा और ज्ञान अन्य-अन्य तो हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। उनमें परस्पर अन्यत्व है, पर पृथक्त्व नहीं।

अन्यत्व और पृथक्त्व की चर्चा आगे ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन महाधिकार में विस्तार से होगी ही। अतः यहाँ इतना पर्याप्त है।

टीका में अत्यन्त स्पष्टरूप से इस बात का उल्लेख है कि आत्मा और ज्ञान को सर्वथा भिन्न मानने पर दोनों ही अचेतन हो जायेंगे और दो अचेतन मिलकर भी जानने का काम नहीं कर सकते।

दूसरी बात यह है कि जब आत्मा और ज्ञान सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं तो फिर ज्ञान आत्मा से ही क्यों जुड़े, अन्य अजीव पदार्थों से क्यों नहीं ? वह राख आदि जड़-पदार्थों से भी जुड़ सकता है। यदि ऐसा हुआ तो राख आदि पदार्थ भी जानने-देखने लग जावेंगे; पर ऐसा होता नहीं है।

अतः आत्मा कर्ता और ज्ञान करण - ऐसा विभाग करने से भी क्या लाभ है ? ‘आत्मा ज्ञान से जानता है’ के स्थान पर ‘ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं से जानता है’ यही ठीक है अथवा आत्मा जानता है - इतना ही पर्याप्त है।

प्रवचनसार गाथा-३६

आत्मा और ज्ञान में कर्ता-करण संबंध के निषेध पूर्वक दोनों में अभेदत्व स्थापित करने के उपरान्त अब ज्ञान और ज्ञेय क्या हैं - यह समझाते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।

दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

(हरिगीत)

जीव ही है ज्ञान ज्ञेय त्रिधावर्णित द्रव्य हैं ।

वे द्रव्य आतम और पर परिणाम से संबद्ध हैं ॥३६॥

यह जीव ज्ञान है और ज्ञेय तीनप्रकार से वर्णित त्रिकालस्पर्शी द्रव्य हैं । वे ज्ञेयभूत परिणामस्वभावी द्रव्य स्व और पर हैं ।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“विगत गाथा में की गई प्ररूपणा के अनुसार यह जीव स्वयं ही ज्ञानरूप से परिणमित होकर स्वतंत्रतया ही जानता है; इसलिए यह जीव ही ज्ञान है; क्योंकि अन्य द्रव्य इसप्रकार ज्ञानरूप परिणमित होने और जानने में असमर्थ हैं ।

जो द्रव्य; वर्त चुकीं, वर्त रहीं और भविष्य में वर्तनेवाली विचित्र (विभिन्न प्रकार की) पर्यायों की परम्परा के प्रकार से त्रिविध कालकोटि को स्पर्श करते होने से अनादि-अनंत हैं; वे सभी द्रव्य ज्ञेय हैं ।

वे ज्ञेयभूत द्रव्य स्व और पर के भेद से दो प्रकार के हैं । ज्ञान स्व-पर ज्ञायक है; इसकारण ज्ञेय की इसप्रकार द्विविधता मानी जाती है ।

प्रश्न - अपने में क्रिया के हो सकने का विरोध है; इसलिए आत्मा की स्वज्ञायकता किसप्रकार घटित होती है ?

उत्तर - कौनसी क्रिया है और किसप्रकार का विरोध है? जो यहाँ प्रश्न में विरोधी क्रिया कही गई है, वह उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप ?

उत्पत्तिरूप क्रिया तो 'नैकं स्वस्मात्प्रजायत - एक स्वयं से उत्पन्न नहीं हो सकता' - इस आगम वाक्य से विरुद्ध ही है; परन्तु ज्ञप्तिरूप क्रिया में विरोध नहीं आता; क्योंकि वह प्रकाशनक्रिया की भांति उत्पत्तिक्रिया से विरुद्ध अर्थात् भिन्नप्रकार की होती है ।

जो पर को प्रकाशित करता है - ऐसे प्रकाशक दीपक को स्व को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाशक (दीपक) की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि उसे स्वयमेव प्रकाशनक्रिया की प्राप्ति है ।

उसीप्रकार परज्ञेयों को जाननेवाले आत्मा को स्वज्ञेय को जानने के लिए अन्य ज्ञायक की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि उसे स्वमेव ज्ञानक्रिया की प्राप्ति है ।

इससे यह सहज ही सिद्ध है कि ज्ञान स्वयं को जान सकता है ।

प्रश्न - आत्मा को द्रव्यों की ज्ञानरूपता और द्रव्यों को आत्मा की ज्ञेयरूपता किसप्रकार है ? तात्पर्य यह है कि आत्मा द्रव्यों को जानता है और द्रव्य आत्मा के जानने में आते हैं - यह बात किसप्रकार घटित होती है?

उत्तर - आत्मा सहित सभी द्रव्यों के परिणमनस्वभावी होने से यह सब सहज ही घटित हो जाता है । ज्ञेय द्रव्यों के ज्ञानरूप परिणमित आत्मा के और द्रव्यों के ज्ञान के अवलम्बन से ज्ञेयाकाररूप परिणमित होने में कोई बाधा नहीं है ।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में दो बातें नई प्रस्तुत करते हैं । प्रथम तो ज्ञेय द्रव्यों की तीनरूपता में भूत, भावी और वर्तमान के अतिरिक्त द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपता को भी प्रस्तुत करते हैं । दूसरे ज्ञान को जानने के लिए ज्ञानान्तर की आवश्यकता होगी - ऐसा नैयायिक कहते हैं । ऐसा कहकर वे दीपक के उदाहरण से उक्त मान्यता का खण्डन

करते हैं। जिसप्रकार दीपक को खोजने के लिए दूसरे दीपक की जरूरत नहीं पड़ती; उसीप्रकार ज्ञान को जानने के लिए ज्ञानान्तर (दूसरे ज्ञान) की जरूरत नहीं है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को स्पष्ट करने के लिए छह छन्दों का उपयोग करते हैं; जिससे वे मूल गाथा तथा तत्त्वप्रदीपिका और तात्पर्यवृत्ति – दोनों टीकाओं के भाव को विस्तार से स्पष्ट करते हैं।

वैसे तो जो बातें उन्होंने लिखी है; वे सभी बातें गाथा और टीकाओं में आ गई हैं; तथापि **नैकं स्वस्मात् प्रजायत** के भाव को समझाने के लिए उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है; उसमें न केवल नवीनता है, अपितु हृदय को छू लेनेवाली ताजगी भी है।

वे लिखते हैं –

जदपि होय नट निपुन, तदपि निजकंध चढ़ै किमि ।

नट कितना ही चतुर क्यों न हो; पर वह अपने कंधे पर तो चढ़ नहीं सकता।

सम्पूर्ण छन्द मूलतः इसप्रकार है –

(षटपद्)

जदपि होय नट निपुन तदपि निजकंध चढ़ै किमि ।

तिमि चिन्मूरति ज्ञेय लखहु नहिं लखत आप इमि ॥

यों संशय जो करै तासु को उत्तर दीजे ।

सुपरप्रकाशकशक्ति जीव में सहज लखीजे ॥

जिमि दीप प्रकाशत सुघटपट तथा आप दुति जगमगत ।

तिमि चिदानंद गुन वृन्द में स्वपरप्रकाशक पद पगत ॥१६२॥

यद्यपि नट निपुण हो, तथापि वह अपने कंधे पर कैसे चढ़ सकता है?

उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वयं को कैसे जान सकता है?

इसप्रकार की आशंका जो लोग प्रस्तुत करते हैं; उनको उत्तर देते हैं कि जीव में सहज ही स्व-परप्रकाशक शक्ति विद्यमान है।

जिसप्रकार दीपक स्वयं अपनी द्युति से जगमग होता हुआ घट-पटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है; उसीप्रकार स्व-पर को प्रकाशित करनेवाला चिदानंद आत्मा भी स्वयं प्रकाशमान है।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रवचनसार में जो टिप्पणी लिखी गई है, वह इसप्रकार है –

“कोई पर्याय स्वयं अपने में से उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु वह द्रव्य के आधार से द्रव्य में से उत्पन्न होती है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो द्रव्यरूप आधार के बिना पर्यायें उत्पन्न होने लगेँ और जल के बिना तरंगें होने लगेँ; किन्तु यह सब प्रत्यक्ष विरुद्ध है; इसलिए पर्याय के उत्पन्न होने के लिए द्रव्यरूप आधार आवश्यक है।

इसीप्रकार ज्ञानपर्याय भी स्वयं अपने में से उत्पन्न नहीं हो सकती; वह आत्मद्रव्य में से उत्पन्न हो सकती है; जो कि ठीक ही है। परन्तु ज्ञानपर्याय स्वयं अपने से ही ज्ञात नहीं हो सकती – यह बात यथार्थ नहीं है। आत्मद्रव्य में से उत्पन्न होनेवाली ज्ञानपर्याय स्वयं अपने से ही ज्ञात होती है।

जैसे दीपकरूपी आधार में से उत्पन्न होनेवाली प्रकाशपर्याय स्व-पर को प्रकाशित करती है; उसीप्रकार आत्मारूपी आधार में से उत्पन्न होने वाली ज्ञानपर्याय स्वपर को जानती है और यह अनुभव सिद्ध भी है कि ज्ञान स्वयं अपने को जानता है।^१”

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“एक समय के परिणामन की क्रिया में से दूसरे समय की परिणामन क्रिया हो जाये – ऐसा नहीं होता। ज्ञानपर्याय ग्रहण-त्याग रहित और श्रुत-उपाधि रहित है, किन्तु पर्याय में से पर्याय नहीं होती। **ज्ञायक परिणमता है – ऐसा कहा है, किन्तु पर्याय परिणमती है – ऐसा नहीं**

१. प्रवचनसार, पृष्ठ-९४

२. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२६८

कहा। यदि पर्याय में से पर्याय हो तो विरोध आयेगा।^१

यहाँ तो यह कहना है कि ज्ञानपर्याय में से ज्ञानपर्याय होती है – ऐसी उत्पत्ति क्रिया नहीं हो सकती; किन्तु ज्ञानपर्याय अपने को जाने – इसमें विरोध नहीं है। ज्ञानपर्याय के परिणमन में से परिणमन नहीं आता – यह बताया है, किन्तु परिणमन के समय नहीं जाने तो वह स्वयं अंधी हुई।

अपनी ज्ञानपर्याय स्वयं अपने को जानती है। समय-समय की श्रुतज्ञान पर्याय आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई है; वह स्व-परप्रकाशक है।^२”

इस गाथा की टीका में एक बात तो यह बताई गई है कि सभी द्रव्यों की त्रिकालवर्ती पर्यायें ज्ञेय हैं अर्थात् जानी जा सकती हैं। इस बात पर आगामी गाथाओं में विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा।

दूसरे ज्ञान अर्थात् आत्मा स्व-परप्रकाशक है। यदि आत्मा स्व-परप्रकाशक नहीं होता तो फिर ज्ञेय के स्व और पर – ऐसे भेद नहीं किये जा सकते थे। तात्पर्य यह है कि परपदार्थ तो ज्ञेय हैं ही, उन्हें जाननेवाला अपना आत्मा भी ज्ञेय है।

अपने आत्मा को छोड़कर अन्य सभी परपदार्थ अपने लिए मात्र ज्ञेय ही हैं; किन्तु अपना आत्मा स्वयं ज्ञायक है और ज्ञेय भी है। इसतरह ‘स्व’ में अर्थात् अपने आत्मा में ज्ञेय और ज्ञायक – ये दोनों विशेषताएँ हैं और पर अपने लिए मात्र ज्ञेय ही हैं। यही कारण है कि स्व और पर – ज्ञेय के ऐसे दो भेद किए गए हैं।

तीसरी बात यह कही है कि भले ही ज्ञानपर्याय स्वयं से उत्पन्न न होती हो, पर वह पर के साथ-साथ स्वयं को जानती अवश्य है; क्योंकि वह स्व-परप्रकाशक है।

रतन त्रय के बिना होता रहा है यह परिणमन।

तुम रतन त्रय धारण करो बस यही है जिनवर कथन ॥३०॥

– अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद, पृष्ठ-५०, छन्द-३०

प्रवचनसार गाथा-३७

विगत गाथा में यह कहा गया है कि सभी द्रव्यों की भूतकाल में हो गई; वर्तमान में हो रही और भविष्य में होनेवाली पर्यायें ज्ञेय हैं। उसी बात को आगे बढ़ाते हुए इस गाथा में कहते हैं कि सभी द्रव्यों की अतीत और अनागत पर्यायें भी वर्तमान पर्याय के समान ही ज्ञान में विद्यमान हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

तत्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।

वट्टन्ते ते गाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

(हरिगीत)

असद्भूत हों सद्भूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब।

सद्ज्ञान में वर्तमानवत् ही हैं सदा वर्तमान सब ॥३७॥

उन जीवादि द्रव्यजातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भांति विशिष्टतापूर्वक ज्ञान में वर्तती हैं।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“जीवादि समस्त द्रव्यजातियों की पर्यायों की उत्पत्ति मर्यादा तीनों काल की मर्यादा जितनी होने से, उनकी क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूपसंपदा वाली विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं; वे सब तात्कालिक पर्यायों की भांति अत्यन्त मिश्रित होने पर भी सब पर्यायों के विशिष्ट लक्षण ज्ञात हों; इसप्रकार एक क्षण में ही ज्ञानमंदिर में स्थिति को प्राप्त होती हैं।

यह अयुक्त नहीं है; क्योंकि उसका दृष्ट के साथ अविरोध है। जगत में दिखाई देता है कि छद्मस्थों के भी जिसप्रकार वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है; उसीप्रकार भूत और भविष्यत वस्तु चिन्तवन करते हुए भी ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है।

ज्ञान चित्रपट के समान है। जिसप्रकार चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं; उसीप्रकार ज्ञानरूपी भित्ति में भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं।

सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता अविरोद्ध है। जिसप्रकार नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं; उसीप्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार भी वर्तमान ही हैं।”

टीका के भाव को भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

“केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की तीनों काल की पर्यायों को युगपद् जानता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायों को वर्तमान काल में कैसे जान सकता है ?

उसका समाधान है कि - जगत में भी देखा जाता है कि अल्पज्ञ जीव का ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं का चिंतवन कर सकता है, अनुमान के द्वारा जान सकता है, तदाकार हो सकता है; तब फिर पूर्ण ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायों को क्यों न जान सकेगा ?

ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि वह चित्रपट की भांति अतीत और अनागत पर्यायों को भी जान सकती है और आलेख्याकार की भांति द्रव्यों की ज्ञेयत्वशक्ति ऐसी है कि उनकी अतीत और अनागत पर्यायों भी ज्ञान में ज्ञेयरूप होती हैं, ज्ञात होती हैं।

इसप्रकार आत्मा की अद्भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्यों की अद्भुत ज्ञेयत्वशक्ति के कारण केवलज्ञान में समस्त द्रव्यों की तीनोंकाल की पर्यायों का एक ही समय में भासित होना अविरोद्ध है।”

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव इसीप्रकार व्यक्त करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा और उसकी टीकाओं के भाव को एक मनहरण कवित्त और बारह दोहों के माध्यम से समझाते हैं; जो अत्यन्त उपयोगी और प्रयोजनभूत है; अतः वे सभी छन्द अर्थ सहित यहाँ प्रस्तुत हैं-

(मनहरण)

जेते परजाय षट्द्रव्यन के होय गये,
अथवा भविष्यत जे सत्ता में विराजैं हैं।

ते ते सब भिन्न भिन्न सकल विशेषजुत,
शुद्ध ज्ञान भूमिका में ऐसे छबि छाजैं हैं ॥

जैसे ततकाल वर्तमान को विलोकैं ज्ञान,
तैसे भगवान अविलोकैं, महाराजैं हैं।

भूतभावी वस्तु चित्रपट में निहारैं जैसे,

गहै ज्ञान ताको तैसे तहां भ्रम भाजैं हैं ॥१६७॥

छह द्रव्यों की जितनी भी पर्यायें अभी तक हो गई हैं अथवा भविष्य में होनेवाली हैं, अभी सत्ता में विराजमान हैं; शुद्धज्ञान की भूमिका में वे सभी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ भिन्न-भिन्न वैसी ही शोभायमान होती हैं, जैसी वर्तमान पर्यायें प्रतिभासित होती हैं। उन भूत-भावी पर्यायों को केवली भगवान वर्तमान पर्यायों के समान ही जानते-देखते हैं। जिसप्रकार हम भूतकाल और भविष्यकाल की घटनाओं को चित्रपट में देखते हैं और हमारा भ्रम भंग हो जाता है, उसीप्रकार केवली भगवान देखते हैं।

(दोहा)

वर्तमान के ज्ञेय को जो जानत है ज्ञान।

तामें तो शंका नहीं देखत प्रगट प्रमान ॥१६८॥

भूत भविष्यत पर्ज तो है ही नाहीं मित्त।

तब ताको कैसे लखै यह भ्रम उपजत चित्त ॥१६९॥

बाल अवस्था की कथा जब उर करिये याद।

तब प्रतच्छवत होत सब यामें नाहिं विवाद ॥१७०॥
 अथवा भावी वस्तु जे वेदविदित सब ठौर ।
 तिनहिं विचारत ज्ञान तहँ होत तदाकृति दौर ॥१७१॥
 बाहूबलि भरतादि जे ऽतीत पुरुष परधान ।
 अथवा श्रेणिक आदि जे होनहार भगवान ॥१७२॥
 तिनको चित्र विलोकतैं ऐसो उपजत ज्ञान ।
 जैसे ज्ञेय प्रतच्छ को जानत ज्ञान महान ॥१७३॥
 छद्मस्थनि के ज्ञान की जहँ ऐसी गति होय ।
 जानहिं भूत भविष्य को वर्तमानवत सोय ॥१७४॥
 तब जिनके आवरन कौ भयौ सरवथा नाश ।
 प्रगट्यो ज्ञान अनंतगत सहज शुद्ध परकाश ॥१७५॥
 तिनके भूत भविष्य जे परजै भेद अनंत ।
 छहों दरब के लखन में शंका कहा रहंत ॥१७६॥
 यह सुभाव है ज्ञान को जब प्रनवत निजरूप ।
 तब जानत जुगपत जगत त्रिविध त्रिकालिक भूप ॥१७७॥
 ऐसे परम प्रकाशमहँ शुद्ध बुद्ध जिमि अर्क ।
 तास प्रगट जानन विषैं कैसे उपजै तर्क ॥१७८॥
 अपने वस्तुस्वभाव में राजै वस्तु समस्त ।
 निज सुभाव में तर्क नहिं यह मत सकल प्रशस्त ॥१७९॥

शंकाकार शंका करता है कि ज्ञान वर्तमान पर्यायों को जानता है; इसमें तो शंका नहीं होती; क्योंकि यह तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं; किन्तु हे मित्र ! भूत और भविष्य की पर्यायें तो अभी हैं ही नहीं; उन्हें कैसे देखा जाय ? इसलिए चित्त में भ्रम उत्पन्न होता है ।

उत्तर में समाधानकर्ता कहते हैं कि जब हम बचपन की बातें याद करते हैं तो सभी घटनायें प्रत्यक्ष के समान ही भासित होने लगती हैं, इसमें तो कोई विवाद नहीं है । अथवा शास्त्रों में बताई गई भविष्य की घटनाओं के बारे में विचार करते हैं तो वे आकृति सहित ज्ञान में झलक जाती हैं ।

बाहूबली-भरत आदि जो प्रधान पुरुष भूतकाल में हुए हैं अथवा राजा श्रेणिक जो भविष्य में भगवान होने वाले हैं; इन सबके चित्र देखकर इसप्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है कि जैसे हम ज्ञेयों को प्रत्यक्ष देखते हैं ।

छद्मस्थों के ज्ञान की भी जब ऐसी स्थिति है कि वे भूत और भविष्य को वर्तमान के समान ही जान लेते हैं; तब जिनके सम्पूर्ण आवरण का सर्वथा नाश हो गया है, अनंत ज्ञान प्रगट हो गया है, सहज ही शुद्ध प्रकाश हो गया है; वे छहों द्रव्यों की भूत और भविष्य की अनंत पर्यायों को देखें- जानें तो इसमें शंका के लिए कहाँ स्थान है ?

ज्ञान का यह स्वभाव जब निजस्वभाव में परिणमित होता है; तब भगवान जगत के सभी द्रव्यों की त्रिकालवर्ती पर्यायों को एकसाथ जान लेते हैं । सूर्य के समान शुद्ध-बुद्ध परमप्रकाश में सभी वस्तुएँ प्रगट जान ली जाती हैं, इसमें तर्क-वितर्क के लिए क्या स्थान है ?

सभी वस्तुएँ अपने वस्तुस्वभाव में शोभायमान हैं, स्वभाव में कोई तर्क नहीं चलता - यह प्रशस्तमत सर्वसम्मत मत है ।

उक्त गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“द्रव्य क्रमपूर्वक तपती (प्रगट होनेवाली) संपदावाला है । उसमें एक समय में एक पर्याय होती है, जो क्रमपूर्वक तपती है - अपने समय में प्रतापवन्त वर्तती है । वह पर्याय अपना प्रभुत्व रखती है । उससमय की पर्यायें स्वयं से स्वरूप की संपदा है, लक्ष्मी है । इसमें विकारी और अविकारी दोनों पर्यायें आ जाती हैं । पर्याय क्रमपूर्वक होती है, वह उसकी शोभा है- वह उसकी सम्पदा है । विकार एक के बाद एक होता है । इसतरह ज्ञेयों में क्रमबद्ध परिणमन होता है, यह ज्ञेय का स्वभाव है । विकार अथवा अविकार सभी क्रमबद्ध हैं ।”

अनन्तकाल की भूत पर्यायें और भविष्य की पर्यायें - वे सभी अविद्यमान पर्यायें विद्यमानवत् केवलज्ञान में भासित होती हैं । उन सभी

द्रव्यों की सभी पर्यायें एकसाथ जानने पर भी, प्रत्येक पर्याय का विशिष्ट स्वरूप, प्रदेश, काल, आकार आदि विशेषताएँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं। उनमें संकर-व्यतिकर (मिल जाना-बदलना) नहीं होता।^१

सर्वज्ञ के ज्ञान में एक समय में सभी अवस्थाएँ आ गई हैं। सभी अवस्थाएँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं। भूतकाल की अवस्था, वर्तमान अवस्था और भविष्य की अवस्था - सभी भिन्न-भिन्न ज्ञात होती हैं। प्रत्येक पर्याय का लक्षण भिन्न-भिन्न ज्ञात होता है। केवलज्ञान में सभी पर्यायों की मिलावट नहीं होती। जो अवस्था हो चुकी है, हो रही है और होगी, उसे वे भिन्न-भिन्न जानते हैं; केवलज्ञान एक समय में सभी कुछ जानता है; इसलिए उसे मिश्रित कहा है; किन्तु प्रत्येक का लक्षण भिन्न-भिन्न ज्ञात होता है।

जीव का विकार असंख्य प्रदेश में रहता है। उसका समय और उसका लक्षण ज्ञान में स्पष्ट ज्ञात होता है। एकदशा, दूसरीदशा में नहीं मिल जाती। त्रिकाल वेत्ता के ज्ञान में सभी अवस्थाएँ, जो हो चुकी हैं, हो रही हैं अथवा होंगी वे सभी जानने में आ गईं। इस जीव को राग हुआ है, इस जीव को भ्रान्ति हुई है, इस जीव को केवलज्ञान हुआ, इस परमाणु की ऐसी अवस्था है, इसके बाद दूसरी होगी, यह शरीर छूटेगा और इसके बाद अमुक अवस्था होगी - ऐसा केवलज्ञान में ज्ञात होता है। इसतरह यहाँ ज्ञानस्वभाव का माहात्म्य कराते हैं।^२

जो वह ज्ञायक की पूर्ण अवस्था प्रगट हुई है, उसमें सभी अनन्त पर्यायें क्रमबद्ध ज्ञात हो जाती हैं। यह जीव इस भव में मोक्ष प्राप्त करेगा वह ज्ञान में ज्ञात होता है। भूतकाल की अनादि-सांत पर्यायें वर्तमान पर्याय और भविष्य की सादि-अनन्त पर्यायें केवलज्ञान में स्थिति प्राप्त करती हैं। कुछ भी जाने बिना बाकी नहीं रहता।^३

आत्मा की ज्ञानत्वशक्ति अद्भुत है, इस बात का विश्वास आना

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-२८९-२९० २. वही, पृष्ठ-२९५ ३. वही, पृष्ठ-२९७

चाहिए। जो पदार्थ है, उनको जानना वह ज्ञानस्वभाव है और जो पदार्थ है, उनका ज्ञात होने का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई स्वभाव नहीं है। जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं; वैसे ही अतीत और अनागत पर्याय के ज्ञेयाकार ज्ञान में वर्तमान के समान ही ज्ञात होते हैं।

ज्ञेय क्रमबद्ध होते हैं और ज्ञान भी क्रमबद्ध जानता है। जिस पदार्थ की जो अवस्था होनेवाली है। वैसे ही ज्ञान जानता है। ऐसा जाने तो 'मैं उसकी रचना करता हूँ' - ऐसा अभिमान दूर हो जाता है और स्वभाव-सन्मुखदशा, प्रतीति होकर स्थिरता होती है।

सर्वज्ञ पूर्ण देखते हैं और अल्पज्ञ अपूर्ण देखते हैं; किन्तु बीच में ज्ञान को दूसरा काम सौंपना वह भ्रान्ति है।^१

उक्त गाथा और उनकी टीकाओं में जो प्रमेय उपस्थित किया गया है, उसमें निम्नांकित बिन्दु विशेष ध्यान देने योग्य हैं -

सर्वप्रथम तो यह बात कही गई है कि भूतकालीन पर्यायें भले ही विनष्ट हो गई हों और भविष्यकालीन पर्यायें अभी उत्पन्न ही न हुई हों; फिर भी केवलज्ञान में तो वे वर्तमान पर्यायों के समान ही विद्यमान हैं।

दूसरे ज्ञान का उन्हें जानना - यह ज्ञान की स्वरूपसंपदा है और उन पर्यायों का ज्ञान में झलकना उक्त पर्यायों की स्वरूपसंपदा है। तात्पर्य यह है कि उनको जानना ज्ञान की मजबूरी नहीं है और उनका ज्ञान में झलक जाना भी उनके लिए कोई विपत्ति नहीं है। ज्ञान का जानना और ज्ञेयों का जानने में आना सहज स्वभाव है, उनकी स्वरूपसम्पदा है।

ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर कि जब वे अभी हैं ही नहीं, तब उनको जानना कैसे संभव है? कहा गया है कि जब हमारे क्षयोपशमज्ञान में भूत और भविष्य की बातें जान ली जाती हैं तो फिर केवलज्ञान में जान लेने पर क्या आपत्ति हो सकती है? आत्मा की ज्ञानशक्ति और पदार्थों की ज्ञेयत्वशक्ति का ही अन्तर्निहित सम्बन्ध है, यहाँ चिन्मयप्रद के उदाहरण से ज्ञानशक्ति और आलेख्या-कारों के उदाहरण से ज्ञेयत्वशक्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। ●

प्रवचनसार गाथा-३८-३९

विगत ३७ वीं गाथा में यह कहा था कि केवलज्ञान में सभी द्रव्यों की अतीत और भावी पर्यायें भी वर्तमान पर्यायों के समान ही झलकती हैं और अब ३८ व ३९वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि सभी द्रव्यों की भूत और भावी पर्यायें ज्ञान में विद्यमान ही हैं तथा जिस ज्ञान में भूत और भावी पर्यायें ज्ञात न हों, उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पजाया ।

ते होंति असब्भूदा पजाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

जदि पच्चक्खमजादं पजायं पलयिदं च णाणस्स ।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेत्ति ॥३९॥

(हरिगीत)

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं ।

असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञानप्रत्यक्ष हैं ॥३८॥

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो ।

फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो ॥३९॥

जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं या उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं; वे सभी अविद्यमान पर्यायें ज्ञान में तो प्रत्यक्ष ही हैं, विद्यमान ही हैं ।

यदि अनुत्पन्न तथा नष्ट पर्यायें ज्ञान (केवलज्ञान) में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो पर्यायें अभीतक उत्पन्न नहीं हुईं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं; वे पर्यायें अविद्यमान होने पर भी ज्ञान के प्रति नियत होने से ज्ञान में

प्रत्यक्ष वर्तती हुई पाषाण स्तम्भ में उत्कीर्ण भूत और भावी तीर्थकर देवों की भांति अपने स्वरूप को ज्ञान में अर्पित करती हुई विद्यमान ही हैं ।

जिन्होंने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया और जिन्होंने अस्तित्व का अनुभव कर लिया है; ऐसी अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायों को यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न, अखंडित प्रतापयुक्त प्रभुशक्ति से बलात् प्राप्त करे तथा वे पर्यायें अपने स्वरूप सर्वस्व को अक्रम से अर्पित करें - इसप्रकार उन्हें अपने प्रति अर्पित न करें, उन्हें प्रत्यक्ष न जाने; तो उस ज्ञान की दिव्यता क्या है ?

इससे यह कहा गया है कि पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञान के लिए यह सब योग्य है ।”

इन गाथाओं के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“केवलज्ञानी को भविष्य की अवस्था का ज्ञान वर्तमान में होता है, इसलिए वे पदार्थ भी निमित्तरूप से वर्तमान ज्ञेयरूप हैं ।^१

यह पदार्थ पहले नहीं था, किन्तु मैंने किया - ऐसा माने तो फिर त्रिकालज्ञानी नहीं रहे; क्योंकि उन्हें भूतकाल का ज्ञान नहीं हुआ ।^२

भूतकाल की अवस्था और भविष्य की अवस्था वर्तमान में ज्ञात हो - ऐसा ज्ञेय का स्वभाव है और ज्ञान का जानने का स्वभाव है ।^३

एक समय का केवलज्ञान भूत और भविष्य की अवस्था को जानता है; इसलिए पर्यायें निश्चित हो गई हैं और वे सर्वज्ञ के ज्ञान में चिपक गई हैं । अनन्तकाल की अनन्ती अवस्थाएँ जो बीत गई हैं और भविष्य की अनन्ती अवस्थाएँ जो होंगी वे सभी सर्वज्ञ के ज्ञान में सीधी ज्ञात होती हैं । ऐसा सर्वज्ञ के ज्ञान का निर्णय करें तो सभी अज्ञान दूर हो जाता है ।^४

इस ३८वीं गाथा में ज्ञान में सभी प्रत्यक्ष कहकर ज्ञेयों की अवस्था वर्तमानवत् है - ऐसा बताते हैं । ज्ञान में भूतकाल और भविष्य की

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३०५

२. वही, पृष्ठ-३०५

३. वही, पृष्ठ-३०६

४. वही, पृष्ठ-३०६

अवस्थाएँ प्रत्यक्ष वर्तमान दिखाई देती हैं; इसलिए ज्ञेयों की भूतकाल और भविष्य की अवस्थाएँ वर्तमानवत् हैं।^१

जिस द्रव्य की जो अवस्था जैसी होनेवाली है, उसको केवलज्ञान जानता है - ऐसा ज्ञान का जानने का स्वभाव है और ज्ञेय का ज्ञात होने का स्वभाव है। जो होनेवाला है, वह होता है - ऐसे निर्णय में पुरुषार्थ है। जिसे जो विकार होनेवाला होता है, वही होता है और जिसे जो धर्म होनेवाला है, वही होगा - ऐसे ज्ञानस्वभाव की जिसे प्रतीति आई है, वह ज्ञाता-दृष्टा होनेवाला है और ऐसी पूर्ण ज्ञानसम्पदावाला जगत में है, जिसमें जगत की सभी पर्यायें ज्ञात हो जाती हैं; ऐसे केवलज्ञान की अस्ति अर्थात् सत्ता का भरोसा जिसे आया है, उसे विकार तथा अल्पज्ञता का भरोसा निकल गया है और अपने सर्वज्ञ स्वभाव का भरोसा आया है। जो पर्याय, जिस समय होनेवाली है, उसे केवलज्ञान ने देखा है और उस पर्याय में जो निमित्त है, उसे भी केवलज्ञान में देखा है - ऐसा निर्णय करना वह पुरुषार्थ है।^२

अनन्त महिमावंत केवलज्ञान की यह दिव्यता है कि वह अनन्त द्रव्यों की समस्त अवस्थाओं को भूतकाल तथा भविष्य की अवस्थाओं को सम्पूर्णतया एक ही समय में प्रत्यक्ष जानता है। यह बात खास चर्चा करने जैसी है।^३

इन गाथाओं में न केवल केवलज्ञान की महिमा बताई गई है; अपितु केवलज्ञान का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है। यद्यपि इन गाथाओं में बताई गई बात हाथ पर रखे आंखों के समान स्पष्ट है; तथापि कुछ लोग शंकायें-आशंकायें व्यक्त करते हैं। उन्हें लगता है कि इसे मान लेने पर तो 'सबकुछ निश्चित है' - यह सिद्ध हो जावेगा। ऐसी स्थिति में हमारे हाथ में तो कुछ रहेगा नहीं।

उक्त संदर्भ में मैंने **क्रमबद्धपर्याय** नामक कृति में विस्तार से चर्चा की है। जिज्ञासु पाठक उसका स्वाध्याय गहराई से अवश्य करें। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३०७ २. वही, पृष्ठ-३१२ ३. वही, पृष्ठ-३१६

प्रवचनसार गाथा-४०-४१

विगत गाथाओं में यह समझाया गया है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान से सभी द्रव्यों की तीनकाल संबंधी सभी पर्यायें एक साथ एक समय में जान ली जाती हैं। अब इन ४० व ४१वीं गाथा में इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान की तुलना करते हुए यह बता रहे हैं कि इन्द्रियज्ञान के लिए सभी पदार्थों की त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों को जानना शक्य नहीं है; क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान है; जबकि अतीन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षज्ञान होने से मूर्त-अमूर्त, सप्रदेशी-अप्रदेशी सभी द्रव्यों की अजात और प्रलय को प्राप्त सभी पर्यायों को एक समय में एकसाथ जानता है।

गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं -

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥४०॥
अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिदियं भणियं ॥४१॥

(हरिगीत)

जो इन्द्रियगोचर अर्थ को ईहादिपूर्वक जानते ।
वे परोक्ष पदार्थ को जाने नहीं जिनवर कहें ॥४०॥
सप्रदेशी अप्रदेशी मूर्त और अमूर्त को ।
अनुत्पन्न विनष्ट को जाने अतीन्द्रिय ज्ञान ही ॥४१॥

जो इन्द्रियगोचर पदार्थों को ईहादिक पूर्वक जानते हैं; उनके लिए परोक्षभूत पदार्थ का जानना अशक्य है - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

जो ज्ञान अप्रदेश को, सप्रदेश को, मूर्त को, अमूर्त को, अनुत्पन्न और नष्ट पर्यायों को जानता है; वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“विषय और विषयी के सन्निपात (मिलाप) लक्षणवाले इन्द्रियों और पदार्थों के सन्निकर्ष को प्राप्त करके जो अनुक्रम से उत्पन्न ईहादिक के क्रम से जानते हैं; वे उन्हें नहीं जान सकते, जिनका स्व-अस्तित्व काल बीत गया है और जिनका अस्तित्वकाल उपस्थित नहीं हुआ है; क्योंकि अतीत-अनागत पदार्थों और इन्द्रियों के ग्राह्य-ग्राहक संबंध असंभव है।

उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ आदि बहिरंग विरूपकारणता और क्षयोपशमरूप उपलब्धि व संस्कार आदि अंतरंग स्वरूपकारणता से ग्रहण करके प्रवृत्त होता हुआ इन्द्रियज्ञान सप्रदेश को ही जानता है, अप्रदेश को नहीं जानता; क्योंकि वह स्थूल को जाननेवाला है, सूक्ष्म को नहीं; वह मूर्त को ही जानता है, अमूर्त को नहीं; क्योंकि उसका संबंध मूर्तिक के साथ ही होता है, अमूर्तिक के साथ नहीं; वह वर्तमान को ही जानता है, भूत और भविष्य को नहीं; क्योंकि उसका वर्तमान के साथ ही विषय-विषयी का सन्निपात होता है, भूत-भविष्यत के साथ नहीं।

परन्तु जो अनावरण अतीन्द्रियज्ञान है, वह सप्रदेश-अप्रदेश, मूर्त-अमूर्त, अनुत्पन्न-व्यतीत सभी को जानता है; क्योंकि वे सभी ज्ञेय हैं, ज्ञेयता का उल्लंघन नहीं करते।

जिसप्रकार अनेकप्रकार का ईंधन दाह्य होने से, दाह्यता का उल्लंघन नहीं करने से प्रज्वलित अग्नि को दाह्य (जलाने योग्य) ही हैं; अतः वह सभी को जला देती है; उसीप्रकार उक्त सभी ज्ञेय हैं, ज्ञेयता का उल्लंघन नहीं करते; इसकारण अतीन्द्रियज्ञान उन सभी को जान लेता है।”

इन गाथाओं के सन्दर्भ में आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका एवं कविवर वृन्दावनदासजी कृत प्रवचनसार परमागम में भी इसीप्रकार का स्पष्टीकरण किया गया है।

स्वामीजी उक्त गाथाओं का भाव अपने शब्दों में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इन्द्रियज्ञान निमित्त का आश्रय करता है; इसलिए इन्द्रियज्ञान की रुचि छोड़ने लायक है। दया, दानादि का शुभराग तो आदरणीय नहीं है; किन्तु इन्द्रियज्ञान भी आदरणीय नहीं है; क्योंकि इन्द्रियज्ञान खण्ड-खण्ड जानता है और एक विषय को जानता है; इसलिए जिसे सर्वज्ञपद लेना है, उस जीव को इन्द्रियज्ञान की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभाव की रुचि करना चाहिए।^१

इन्द्रियज्ञान पर का आश्रय लेता है और अतीन्द्रियज्ञान स्वभाव का आश्रय लेता है।^२

इन्द्रियज्ञान स्वभाव का अवलम्बन नहीं लेता; इसलिए निमित्त का अवलम्बन लेता है; अतः वह ज्ञान हेय है। स्वभाव का अवलम्बन लेनेवाले ज्ञान से केवलज्ञान प्रगट होता है।^३

देखो ! समयसार, प्रवचनसार में केवलज्ञान का बीज है। जिस समय जो अवस्था होनेवाली है, वह निश्चित ही होगी - ऐसा निर्णय ज्ञानस्वभाव में होता है।^४

केवलज्ञान को आवरण नहीं है तथा वह अतीन्द्रियज्ञान है। वह ज्ञान, अप्रदेश अर्थात् कालाणु व परमाणु को और सप्रदेश अर्थात् स्थूल स्कन्धादि, मूर्त, अमूर्त पदार्थ को जानता है तथा जो अवस्थाएँ बीत चुकी हैं - ऐसे सभी जानने में आने योग्य पदार्थों को जानता है।^५

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३१८

२. वही, पृष्ठ-३१८

३. वही, पृष्ठ-३१९

४. वही, पृष्ठ-३२७

५. वही, पृष्ठ-३२८

इस जीव की पर्यायों जो वर्तमान में अभी नहीं हुई हैं और जो बीत गई हैं, वे ज्ञेयपने का उल्लंघन नहीं करतीं अर्थात् उसको ज्ञेयपना प्राप्त है; इसलिए वे ज्ञान में ज्ञात हो जाती हैं।^१

जैसे प्रज्वलित अग्नि अनेक प्रकार की हरी एवं सूखी वनस्पति को जला डालती है, हरी वनस्पति सूखने के पश्चात् जल जाती है। वैसे ही प्रकाशमान ज्ञानदीपकरूप सर्वज्ञ का ज्ञान वर्तमान को तो जानता ही है; किन्तु भूत और भविष्य को भी जान लेता है - ऐसा स्वभाव है।^२”

उक्त कथन का तात्पर्य यही है कि परोक्षज्ञान में इन्द्रियों का पदार्थों के साथ जबतक संबंध न हो, तबतक जानना नहीं होता। इसलिए इन्द्रियज्ञान भूत-भावी पर्यायों को नहीं जान सकता, दूरवर्ती वर्तमान पर्यायों को भी नहीं जान सकता; अतः इन्द्रियज्ञान हीन है, हेय है।

अतीन्द्रियज्ञान किसी पर की सहायता से प्रवृत्त नहीं होता; इसलिए वह सभी ज्ञेयपदार्थों को उनकी वर्तमान, भूत और भावी पर्यायों के साथ अत्यन्त स्पष्टरूप से एकसमय में एकसाथ जान लेता है। सभी को जानने में उसे कोई श्रम नहीं होता; क्योंकि सबको जानना उसका सहजस्वभाव है।

जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट हो जाता है, उसके अतीन्द्रिय सुख भी नियम से प्रगट होता है; इसकारण अतीन्द्रियज्ञान परम उपादेय है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३२८

२. वही, पृष्ठ-३२९

निजभाव को निज जान अपनापन करें जो आतमा ।
परभाव से हो भिन्न नित निज में रमें जो आतमा ॥
वे आतमा सदृष्टि उनके ज्ञान अर वैराग्य बल ।
हो नियम से - यह जानिये पहिचानिये निज
अ त म ब ल । ।

प्रवचनसार गाथा-४२

विगत गाथाओं में इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान का स्वरूप समझाते हुए यह कहा गया है कि इन्द्रियज्ञान हेय है और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है। अब इस ४२वीं गाथा में यह बता रहे हैं कि ज्ञेयार्थपरिणमन है लक्षण जिसका - ऐसी क्रिया ज्ञान से उत्पन्न नहीं होती।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

परिणमदि णेयमट्टं णादा यदि णेव खाइगं तस्स ।

णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

(हरिगीत)

ज्ञेयार्थमय जो परिणमे ना उसे क्षायिक ज्ञान हो ।

कहें जिनवरदेव कि वह कर्म का ही अनुभवी ॥४२॥

ज्ञाता यदि ज्ञेयपदार्थरूप परिणमित होता हो तो उसके क्षायिकज्ञान होता ही नहीं। जिनेन्द्रदेवों ने उसे कर्म को ही अनुभव करनेवाला कहा है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यदि ज्ञाता ज्ञेयपदार्थरूप परिणमित होता है तो उसे सम्पूर्ण कर्मकक्ष के क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपने का कारणभूत क्षायिकज्ञान नहीं है अथवा उसे ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की परिणति के द्वारा मृगतृष्णा में जलसमूह की कल्पना करने की भावनावाला वह आत्मा अत्यन्त दुःसह कर्मभार को ही भोगता है - ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।”

गाथा की उत्थानिका में अमृतचन्द्र लिखते हैं कि ज्ञेयार्थपरिणमन है लक्षण जिसका - ऐसी क्रिया ज्ञान से नहीं होती।

यहाँ ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया से क्या आशय है ? यह बात गहराई से जानने योग्य है।

आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा की उत्थानिका लिखते हुए कहा गया है कि जिसके कर्मबंध के कारणभूत हितकारी-अहितकारी विकल्परूप से जानने योग्य विषयों का परिणमन है, उसके क्षायिकज्ञान नहीं है।

टीका में लिखा है कि 'यह नीला है, यह पीला है' इत्यादि विकल्परूप से ज्ञेयपदार्थों के प्रति परिणमन करता है तो उस आत्मा को क्षायिकज्ञान नहीं है अथवा ज्ञान ही नहीं है।

सहजानन्दजी वर्णी सप्तदशांगी टीका में लिखते हैं -

“ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया तीन रूपों में परखी जाती हैं -

१. दर्शनमोह संबंधित
२. दर्शनमोहरहित चारित्रमोहसंबंधित
३. वीतराग क्षयोपशमिकज्ञान संबंधित

आत्मरूप से अंगीकृत ज्ञेयाकार के अनुरूप इष्टानिष्टादिविकल्पभाव-परिणति दर्शनमोहसंबंधित ज्ञेयार्थ-परिणमनरूप क्रिया है।

आत्मरूप से अंगीकृत न होने पर भी ज्ञेयाकार के अनुरूप हर्ष-विषादादि विकल्पभाव परिणति दर्शनमोहरहितचारित्रमोह-संबंधित ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया है।

वीतरागछद्मस्थ श्रमणों के क्षायोपशमिक ज्ञान में ज्ञानावरणदेशघाति-स्पर्द्धकविपाकवश होनेवाली अस्थिरता वीतराग क्षायोपशमिक ज्ञान-संबंधित ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सर्वज्ञदेव की सिद्धि करने के लिए न्याय देते हैं कि ज्ञेय का अवलम्बन लेकर जो ज्ञान राग में अटके, वह विभाविक ज्ञान है; किन्तु वास्तविक ज्ञान नहीं, कुमतिज्ञान है।”

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३३०

आत्मा जाननहार है। जाननहार भगवान जानने योग्य पदार्थ के आश्रय से परिणमित होता हो अथवा राग में अटक करके काम करता हो तो उसे सकल कर्मवन के क्षय से प्रवर्तित होनेवाले ज्ञायक का ज्ञान नहीं है। ज्ञेय, पदार्थरूप से परिणमित होता हो अर्थात् ज्ञातास्वभावरूप परिणमित नहीं होता; किन्तु ज्ञाता को चूक करके पर को जानने जाय - वह ज्ञान राग में अटकता है। वह ज्ञान ज्ञातारूप नहीं परिणमित होता; किन्तु ज्ञेयरूप परिणमित होता है - ऐसा कहा जाता है।^१

ज्ञातास्वभाव को भूलकर, ज्ञेय का अवलम्बन लेकर राग का कार्य करता है, उसे ज्ञान नहीं कहते; क्योंकि वह ज्ञेयार्थपरिणमन है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह पर-पदार्थरूप परिणमित होता है; अपितु रागरूप परिणमता है - ऐसा यहाँ समझना और परज्ञेयों को जानने के लिए जाता हुआ ज्ञान, राग में अटकता है; इसलिए उसे ज्ञान नहीं कहते अर्थात् उसे क्षायिक ज्ञान नहीं कहते। ज्ञान राग में अटके तो वह क्षायिकज्ञान नहीं है। राग और ज्ञेय में अटककर राग का कार्य करे, वह सच्चा ज्ञान नहीं है अपितु राग और ज्ञेय का भेद करके ज्ञान का कार्य करे, वही सच्चा ज्ञान है।^२

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। वह दूसरे ज्ञेयों को जानकर, इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें प्रीति-अप्रीति करता है, वह बन्ध का कारण है। सर्वज्ञ को ऐसा नहीं होता। जो ज्ञेयों को इष्ट-अनिष्ट कल्पित करके राग-द्वेषरूप होता हो, उसे केवलज्ञान नहीं हो सकता। केवलज्ञान, कहीं भी अटके बिना भूत-भविष्य और वर्तमान को जानता है। जो ज्ञान एक के बाद एक जानता हुआ राग में अटके, वह क्षायिकज्ञान नहीं कहलाता।

आत्मा ज्ञानस्वभावरूप नहीं परिणमता और एक-एक ज्ञेय में अटक कर काम करता है और पर-पदार्थों की इष्ट-अनिष्ट की कल्पना में अटकता

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३३०-३३१

२. वही, पृष्ठ-३३१-३३२

है तो उस कल्पना में ज्ञान नहीं और सुख भी नहीं है। वह ज्ञेय से मुझे ज्ञान होगा, मुझे आनन्द होगा। इसतरह ज्ञेय के इष्टपने में अटकता हुआ अज्ञानी राग-द्वेष का अनुभव करता है। जो आत्मा पर में सावधानपने अनुभवता है, वह कर्म के बोझ को अनुभवता है।^१”

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण से एक ही बात स्पष्ट होती है कि ज्ञेयों को जानते समय जो उनमें ही अटक जाते हैं, उनमें एकत्व-ममत्व स्थापित करते हैं, कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्थापित करते हैं; उनके लक्ष्य से अथवा उन्हें आधार बनाकर राग-द्वेषरूप परिणमित होते हैं; वे सभी ज्ञेयार्थपरिणमन-स्वभाववाले हैं।

यह ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों को परज्ञेयों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धिपूर्वक होती है और सविकल्प ज्ञानियों के चारित्र मोहजन्य राग-द्वेषरूप और हर्ष-विषादरूप विकल्पात्मक होती है तथा वीतराग छद्मस्थों में अस्थिरतारूप होती है।

तात्पर्य यह है कि क्षयोपशमज्ञान में जाने गये ज्ञेय पदार्थों में एकत्व-ममत्व, कर्तृत्व-भोक्तृत्व और उनके लक्ष्य से राग-द्वेषरूप परिणमन ही ज्ञेयार्थपरिणमन है। ऐसा ज्ञेयार्थपरिणमन न तो केवलज्ञानियों को होता है और न इसप्रकार परिणमनवालों को केवलज्ञान होता है; क्योंकि वे लोग तो कर्म का ही अनुभव करनेवाले हैं।

अतः जिन्हें अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख की कामना हो; वे ज्ञेयार्थपरिणमन से विरक्त हो निजभगवान आत्मा में रमण करें। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३३२

निर्दण्ड है निर्द्वन्द्व है यह निरालम्बी आत्मा।

निर्देह है निर्मूढ है निर्भयी निर्मम आत्मा ॥६४॥

- शुद्धात्मशतक, पृष्ठ-२३, छन्द-६४

प्रवचनसार गाथा-४३

विगत गाथा में यह कहा गया है कि ज्ञेयार्थपरिणमनक्रियावालों को केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञानी के ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया नहीं होती। अब इस ४३ वीं गाथा में यह बताया जा रहा है कि यदि ऐसा है तो फिर इस ज्ञेयार्थपरिणमन और उसके फलरूप क्रिया का कारण क्या है? आखिर यह होती कैसे है?

ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया का कारण बतानेवाली ४३ वीं गाथा मूलतः इसप्रकार है -

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥४३॥
(हरिगीत)

जिनवर कहें उसके नियम से उदयगत कर्मांश हैं।

वह राग-द्वेष-विमोह बस नित वंध का अनुभव करे ॥४३॥

जिनवरों में श्रेष्ठ तीर्थकरों ने संसारी जीवों के ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय प्राप्त कर्मांश नियम से होते हैं - ऐसा कहा। उन उदय प्राप्त कर्मांशों के होने पर यह जीव मोही, रागी और द्वेषी होता हुआ बंध का अनुभव करता है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार करते हैं -

“संसारी जीवों के उदयगत पुद्गलकर्मांश नियम से होते ही हैं। उन उदयगत पुद्गलकर्मांशों के होने पर यह जीव उनमें ही चेतते हुए, अनुभव करते हुए मोह-राग-द्वेषरूप में परिणमित होने से ज्ञेयार्थपरिणमनरूपक्रिया से युक्त होता है और इसीकारण क्रिया के फलभूत बंध का अनुभव करता है।

इससे यह सुनिश्चित होता है कि मोह के उदय से ही क्रिया और क्रियाफल होता है, ज्ञान से नहीं।”

आचार्य अमृतचन्द्र तो यहाँ मात्र इतना ही कहते हैं कि ज्ञान बंध का कारण नहीं है, मोह-राग-द्वेष ही बंध के कारण हैं; किन्तु आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में कहते हैं कि न ज्ञान बंध का कारण है और न कर्मोदय बंध का कारण है; बंध का कारण तो मोह-राग-द्वेष भाव ही हैं।

वे उत्थानिका में ही लिख देते हैं कि अनंत पदार्थों के जाननेरूप परिणमित होते हुए भी न तो ज्ञान बंध का कारण है और न रागादि रहित कर्मोदय ही बंध का कारण है - यह निश्चित करते हैं।

इसी बात का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

“१. ज्ञानस्वभाव बन्ध का कारण नहीं है अर्थात् जानना-देखना बन्ध का कारण नहीं है।

२. जड़ कर्म का उदय, बन्ध का कारण नहीं है, और

३. अघाति कर्म के कारण मिले हुए संयोग भी बंध के कारण नहीं है, अपितु

४. ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर जो कर्म के उदय अनुसार जुड़ान करके, इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है, वह मोह-राग-द्वेष को अनुभवता है - यह बन्ध का कारण है।^१

एक तरफ कर्म का उदयभाव वर्तमान है और एकतरफ त्रिकालज्ञानभाव है। अब वर्तमान ज्ञान पर्याय, त्रिकाल स्वभाव का आश्रय नहीं लेकर, कर्म तरफ झुके तो वह मोह-राग-द्वेष करता है और कर्म का उदय होने पर भी ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव तरफ झुकाव रखे तो मोह-राग-द्वेष नहीं होते।

देखो ! यहाँ द्रव्यकर्म का उदय आवे ते भावकर्म होगा ही - इस बात से इन्कार करते हैं; क्योंकि जड़-द्रव्यकर्म का उदय संसारी को सदा ही है; किन्तु उस समय ज्ञानपर्याय, ज्ञातास्वभाव में जुड़ान करे तो कर्म खिर जाते हैं।^२

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३३४

२. वही, पृष्ठ-३३४

स्वरूप की सावधानी धर्म है और ज्ञेय की सावधानी अधर्म है।^३

यह हरा है, यह पीला है, यह जड़ पदार्थ ठीक लगता है, यह ठीक नहीं लगता - ऐसी कल्पना में अटकना विकार का अनुभव है; इसलिए अधर्म है और स्वभाव का अनुभव धर्म है।^४

भगवान आत्मा ज्ञानभाव है। आहार-पानी, देव-गुरु-शास्त्र आदि सभी ज्ञेयों को जानते हुए स्वभाव की सावधानी छोड़कर, ज्ञेय की सावधानी में रुककर, उनमें इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना करना कर्म का अनुभव है, धर्म का अनुभव नहीं। एक तरफ ज्ञानस्वभाव है, उसकी एकता-सावधानी वह आत्मा का अनुभव है और स्वरूप की सावधानी छोड़कर, पर-पदार्थों में, अनुकूलता-प्रतिकूलता में सावधानी करना कर्म का अनुभव है; ज्ञान का अनुभव नहीं है, आत्मा के धर्म का अनुभव नहीं।^५

भगवान आत्मा का स्वरूप निर्विकार आनन्द है, उसमें एकाग्र रहना और जगत के पदार्थों को जानना; किन्तु उनमें ठीक-अठीक की कल्पना नहीं करना, यह आत्मा का स्वरूप है। यह धार्मिक क्रिया है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा के स्वभावसन्मुख एकाग्रता का होना आत्मा का अनुभव है। जड़ कर्म के उदय में राग मिश्रित विचार करके अनुभव करना ज्ञेय का अनुभव है, किन्तु ज्ञान का अनुभव नहीं।^६

जाननेयोग्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट का विभाग करना धर्म का अनुभव नहीं है, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नहीं हैं। शरीर रोगी हो तो ठीक नहीं है और निरोगी हो तो ठीक है - ऐसे दो विभाग करके रुकना आस्रव की क्रिया है। यह क्रिया ज्ञेयार्थपरिणमन में रुक गई है; इसलिए अनात्मा की क्रिया है, अधर्म है।^६

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३३५

२. वही, पृष्ठ-३३५

४. वही, पृष्ठ-३३५-३३६

३. वही, पृष्ठ-३३५

५. वही, पृष्ठ-३३६

ज्ञानस्वभाव को भूलकर कर्म तरफ का झुकाव बन्ध का कारण है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसकी तरफ का झुकाव बन्ध का कारण नहीं है। कर्म का उदय जड़ है, वह भी बन्ध का कारण नहीं है। हिलने की, चलने की, बोलने की क्रिया तथा मन-वाणी की क्रिया सदोषता का कारण नहीं है; फिर भी कोई कर्म के ऊपर दोष लगावे, वह बड़ी अनीति है। जिनवाणी का उसके ऊपर कोप है।^१

श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि कर्म का उदय बन्ध का कारण नहीं है। ज्ञान भी बन्ध का कारण नहीं है; अपितु मोह-राग-द्वेष बन्ध के कारण हैं। शुद्ध भावना छोड़कर कर्म की भावना बन्ध का कारण है। स्वयं ज्ञातास्वभाव है, इसके आश्रय से विकार का परिणमन नहीं होता; किन्तु शुद्धस्वभाव से च्युत होता है तो कर्मों ने च्युत कराया - ऐसा कहने में आता है।^२”

उक्त सम्पूर्ण कथन का मर्म यही है कि यह तो जिनेन्द्र भगवान द्वारा निरूपित सुविचारित कथन है कि प्रत्येक संसारी जीव के ज्ञानावरणादि कर्मों का उदय सदा ही रहता है।

उक्त उदयजन्य कर्मांशों के होने पर, उनमें ही चेतते हुए जो मोह-राग-द्वेषभाव होते हैं; उन मोह-राग-द्वेषरूप भावों से परिणमित होने से ही यह जीव ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया से युक्त होता है और इसीकारण उसके फल में प्राप्त होनेवाले बंध का अनुभव करता है।

इससे ही यह सुनिश्चित होता है कि ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया और क्रियाफलरूप बंध न तो ज्ञान से होता है, न जड़कर्म से और न कर्मोदय से प्राप्त संयोग से ही होता है। बंध तो एकमात्र पर में एकत्वबुद्धिरूप मोह एवं राग-द्वेष से ही होता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३३८

२. वही, पृष्ठ-३३९-३४०

प्रवचनसार गाथा-४४

४३वीं गाथा में यह कहा गया है कि मोह-राग-द्वेषरूप भावों से परिणमित होने से ही यह जीव ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया से युक्त होता है और इसीकारण उसके फल में प्राप्त होनेवाले बंध का अनुभव करता है।

अब इस ४४वीं गाथा में यह बता रहे हैं कि यद्यपि केवली भगवान के भी विहारादि क्रियायें देखी जाती हैं; तथापि उन्हें बंध नहीं होता।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मवदेसो य णियदयो तेसिं ।

अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥४४॥

(हरिगीत)

यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों ।

हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरिहंत के ॥४४॥

उन अरिहंत भगवंतों के उस समय खड़े रहना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश करना आदि क्रियायें स्त्रियों के मायाचार की भांति स्वाभाविक ही हैं, प्रयत्न बिना ही होती हैं।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार महिलाओं के प्रयत्न बिना ही उसप्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से माया के ढक्कन से ढंका हुआ व्यवहार स्वभावभूत ही प्रवर्तता है; उसीप्रकार केवली भगवान के प्रयत्न बिना ही उसप्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से खड़ा रहना, बैठना, विहार करना और उपदेश देना आदि क्रियायें स्वभावभूत ही प्रवर्तती हैं।

यह बात बादल के दृष्टान्त से भी समझी जा सकती है; क्योंकि बादल के उदाहरण के साथ भी इसका कोई विरोध भासित नहीं होता।

जिसप्रकार बादल के आकाररूप परिणमित पुद्गलों का गमन, स्थिरता, गर्जन और वरसना आदि क्रियायें पुरुष के प्रयत्न बिना ही देखी जाती हैं; उसीप्रकार केवली भगवान के खड़े रहना, चलना, दिव्यध्वनि आदि क्रियायें अबुद्धिपूर्वक बिना इच्छा के ही देखी जाती हैं। केवली भगवान के ये क्रियायें मोहोदयपूर्वक न होने से क्रिया के फल में होनेवाले बंध का कारण नहीं हैं।”

वस्तुतः बात यह है कि बाह्य क्रियायें तो बंध का कारण हैं ही नहीं; क्योंकि यह आत्मा निश्चय से उनका कर्ता-धर्ता ही नहीं है। ये क्रियायें पूर्वबद्ध कर्म के उदय के निमित्त से होती हैं; उनके होने में आत्मा निमित्त भी नहीं है; इसीलिए उन क्रियाओं को औदयिकी क्रियायें कहते हैं।

उक्त क्रियाओं के लक्ष्य से जब यह आत्मा मोह-राग-द्वेष करता है, उनमें एकत्व-ममत्व करता है, कर्तृत्व-भोक्तृत्वरूप से जुड़ता है; तब बंध होता है। अतः बंध के कारण तो ये एकत्व-ममत्व हैं, कर्तृत्व-भोक्तृत्व हैं, राग-द्वेष हैं।

केवली भगवान के होनेवाली इन क्रियाओं में न तो उनका एकत्व-ममत्व है, न कर्तृत्व-भोक्तृत्व है और न उनके प्रति राग-द्वेष है; अतः उन्हें बंध नहीं होता।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को उक्त दोनों उदाहरणों के माध्यमों से ठीक इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को बारह छन्दों में समझाते हैं; जो मूलतः पठनीय हैं। यद्यपि अनेक छन्द तो उक्त विषयवस्तु को ही प्रस्तुत करते हैं; तथापि कुछ नये उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं।

बिना इच्छा के गमनादि कायिकक्रियायें और दिव्यध्वनि के खिरनेरूप वाचनिकक्रिया का होना, जिन्हें असंभव लगता है; उन्हें समझाते हुए वे अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार हैं -

(दोहा)

चिन्तामनि अरु कल्पतरु, ये जड़ प्रगट कहाहिं ।
मनवांछित संकल्प किमि, सिद्धि करहिं पलमाहिं ॥१९८॥
पारस निज गुन देत नहिं, नहिं पर औगुन लेत ।
किमि ताको परसत तुरत, लोह कनकछबि देत ॥१९९॥
इच्छारहित अनच्छरी, ऐसे जिनधुनि होय ।
उठन चलन थितिकरन में, यहाँ न संशय कोय ॥२००॥

चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष - इन्हें तो प्रगटरूप से जड़ कहा जाता है; फिर ये मनवांछित संकल्प की सिद्धि पल में किसप्रकार कर देते हैं ?

इसीप्रकार पारस पत्थर भी किसी को अपने गुण देता नहीं है और पर के औगुणों को लेता नहीं है; फिर भी उसके स्पर्शमात्र से लोहा तत्काल सोने की छवि कैसे देने लगता है ?

जिसप्रकार चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और पारस पत्थर से इच्छा और प्रयत्न बिना ही कार्य होते देखे जाते हैं; उसीप्रकार अरिहंत भगवान के अनक्षरी दिव्यध्वनि, उठना-बैठना और विहार आदि क्रियायें बिना इच्छा के ही होती हैं। इसमें संशय के लिए कोई स्थान नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“पुराने कर्मों के उदयकाल में अपनी सावधानी न रखे और कर्म में जुड़े तो मिथ्याभ्रान्ति और राग-द्वेष होता है, जो संसार का कारण है। कर्म के उदय, शरीर की क्रिया और जो राग होता है, उनका जाननेवाला रहे तो वह बन्ध का कारण नहीं है। शरीर की क्रिया भी सदोषता का कारण नहीं है।”

मेरा स्वभाव तो शरीर की क्रिया तथा राग की क्रिया जो क्रमबद्ध होती है, उसको जानने का है और वह धर्म है। कर्म के अंश में रुचि-शुकाव वह बन्ध का कारण है अथवा अधर्म है।^१

श्री कुन्दकुन्द आचार्य 'काल' शब्द कहते हैं, उसमें से श्री अमृतचन्द्र आचार्य योग्यता कहते हैं।^२

भगवान खड़े रहे वह पुद्गल परमाणु का वर्तमान काल है। क्रमबद्ध में वही काल है, वही योग्यता है; किन्तु आत्मा के कारण बिल्कुल नहीं। विहार होते हुए शरीर ठहर जाय, वह परमाणु की योग्यता के कारण है। शरीर खड़ा हो और बैठे वह उसके स्वकाल के क्रमबद्ध के कारण बैठता है। भगवान के प्रयत्न के कारण नहीं। नामकर्म तो उसमें निमित्त मात्र है; क्योंकि वह पुद्गल की क्रिया का वर्तमान काल है।^३

तथा भगवान की वाणी भी भाषावर्गणा के स्वकाल के कारण बनती है; किन्तु आत्मा के कारण नहीं।^४

यहाँ केवली भगवन्तों की बात करते हैं। केवली भगवान की शरीर की क्रिया खड़े रहने की अथवा बैठने की होती है, वह जड़ की क्रिया है। केवली भगवान उस क्रिया को नहीं करते। अंदर में प्रदेश का कंपन है, बाह्य जड़ की क्रिया है। भगवान के श्रीमुख से जो वाणी निकलती है, वह अघाति कर्म के निमित्त से सहज होता है और वाणी आदि की अवस्था भगवान के कारण नहीं होती। शरीर आदि की अवस्था आत्मा नहीं करता।

जिसप्रकार जिन्हें ज्ञानतत्त्व के अवलम्बन से केवलज्ञान पूर्ण हो गया है, उनकी शरीर आदि की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है; उसीप्रकार निचलीदशा में मैं जानने-देखनेवाला हूँ, मेरा स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसे स्वभावसन्मुख होने का निर्णय होने पर भी जितना राग-द्वेष होता है, वह बन्ध का कारण है; किन्तु जो शरीर की हलने-चलने की क्रिया होती

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३४२

२. वही, पृष्ठ-३४३-३४४

३. वही, पृष्ठ-३४४

४. वही, पृष्ठ-३४५

है, वह बन्ध का कारण नहीं है।

जानने-देखने की क्रिया धर्म का कारण है। केवलीभगवान को सर्वथा मोह का अभाव है। चौथे गुणस्थान में दर्शनमोह का नाश होता है। केवली भगवान को दर्शनमोह, चारित्रमोह दोनों का अभाव है; इसलिए उनको इच्छा नहीं है। इसप्रकार इच्छा बिना ही तथा मोह-राग-द्वेष बिना ही शरीर आदि की क्रिया होने से केवली भगवन्तों को ये क्रियाएँ बन्ध का कारण नहीं होती।

जैसे, बाहर की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है, वैसे ही ज्ञानस्वभाव भी बन्ध का कारण नहीं है। राग की रुचि करके विकार की उत्पत्ति करे तो वह सदोषता का कारण है। धर्मी को जितनी अस्थिरता-इच्छा है, उतना बन्ध है। भगवान को एक भी इच्छा नहीं है।^१

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि अरिहन्त भगवान के विहार आदि शरीरसंबंधी क्रियायें तो आहारवर्गणा के कार्य हैं और दिव्यध्वनि का खिरना भाषावर्गणा का कार्य है। इन क्रियाओं का उपादानकारण तो आहारवर्गणा और भाषावर्गणा हैं और अंतरंग निमित्तकारण तत्संबंधी कर्मों का उदय है। अरहन्त भगवान का आत्मा न तो इनका उपादान कारण ही है और न अंतरंग निमित्तकारण ही।

जब अरिहन्त भगवान इसके कर्ता ही नहीं हैं; उनका इनमें एकत्व-ममत्व भी नहीं है तो फिर उन्हें बंध भी क्यों हो ?

बंध के कारण तो मोह-राग-द्वेषरूप भाव हैं। इन मोह-राग-द्वेष भावों से वे सर्वथा रहित हैं; अतः संयोग में उक्त क्रियायें होने पर भी संयोगी भावों के अभाव के कारण उन्हें बंध नहीं होता।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि भाषावर्गणाओं की तत्समय संबंधी उपादानगत योग्यता और संबंधित कर्मों का उदय ही दिव्यध्वनि के कारण हैं; अरिहन्त केवली का दिव्यध्वनि से कोई भी संबंध नहीं है तो फिर

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३४७-३४८

उसकी प्रामाणिकता का आधार क्या है ?

अरे भाई ! उपादान-उपादेय संबंध नहीं है और अंतरंगनिमित्त की अपेक्षा निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी नहीं है; फिर भी बहिरंग निमित्त की अपेक्षा सूर्य और कमल के समान अरिहंत भगवान और दिव्यध्वनि में सहज निमित्त-नैमित्तिकभाव तो है ही और दिव्यध्वनि की प्रामाणिकता का आधार भी यही है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि दिव्यध्वनि में वस्तु का स्वरूप जैसा प्रतिपादित हुआ है; वस्तु भी ठीक उसीप्रकार की है। प्रामाणिकता के लिए इससे बड़ी बात और क्या हो सकती है ?

कुछ लोग इस गाथा में समागत **मायाचारो व्व इत्थीणं** पद पर बहुत नाक-भों सिकोड़ते हैं। उनका कहना है कि **स्त्रियों में मायाचार स्वभावगत है** - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने महिलाओं का अपमान किया है। कुछ लोग तो यहाँ तक आगे बढ़ते हैं कि इस पद को बदल देना चाहिए। उनकी सलाह के अनुसार मायाचार के स्थान पर **मातृकाचार** कर देना चाहिए।

पर भाई, इसमें किसी की निन्दा-प्रशंसा की बात ही कहाँ है ? आचार्यदेव की माँ-बहिन भी तो महिलायें ही थीं। तीर्थकरों की मातायें भी तो महिला ही होती हैं। उक्त कथन को स्त्रीनिन्दा के रूप में देखना समझदारी का काम नहीं है। यह स्त्री पर्याय में सहजभाव से होनेवाले भाव की बात है। महिलाओं के स्वभावगत मायाचार की तुलना भी तो अरिहंत केवली के विहारादि कार्यात्मिक क्रियाओं और केवली की दिव्यध्वनि से की है। क्या वे दिव्यध्वनि की निन्दा करना चाहते हैं ?

दूसरे किसी भी आचार्य की कृति में फेरफार करने का अधिकार भी हमें कहाँ है ?

जब आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन, सहजानन्दजी वर्णी, पाण्डे हेमराजजी, कविवर वृन्दावनदासजी एवं आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी आदि सभी को यह सहजभाव से स्वीकार है और इसमें उन्हें महिलाओं का अपमान नहीं दिखाई देता है तो फिर हमें ऐसा विकल्प क्यों आता है ?

प्रवचनसार गाथा-४५

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि यद्यपि भव्यों के भाग्य और अरिहंत भगवान के पूर्व पुण्योदय के अनुसार दिव्यध्वनि प्रसारण व विहारादि कार्य देखे जाते हैं; तथापि मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण उन्हें बंध नहीं होता।

अब इस गाथा में उसी बात को आगे बढ़ाते हुए कह रहे हैं कि इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि तीर्थकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर ही है।

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।

मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग ति मदा ॥४५॥

(हरिगीत)

पुण्यफल अरिहंत जिन की क्रिया औदयिकी कही।

मोहादि विरहित इसलिए वह क्षायिकी मानी गई ॥४५॥

अरिहंत भगवान पुण्य फलवाले हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है, मोहादि रहित है; इसकारण वह औदयिकी क्रिया भी क्षायिकी मानी गई है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार करते हैं -

“जिनके पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभांति पक गये हैं; उन अरिहंत भगवान की जो भी क्रिया है, वह सब पुण्य के उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी ही है। महामोह राजा की समस्त सेना के क्षय से उत्पन्न होने से मोह-राग-द्वेषरूपी उपरंजकों के अभाव के कारण से वह औदयिकी क्रिया भी चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती।

इसकारण उक्त औदयिकी क्रिया को कार्यभूत बंध की अकारणता और कार्यभूत मोक्ष की कारणता के कारण क्षायिकी ही क्यों न मानी जाय? अर्थात् उसे क्षायिकी ही मानना चाहिए।

जब वह क्षायिकी ही है तो फिर उन अरहंतों के कर्मविपाक भी स्वभाव - विघात का कारण नहीं होता - ऐसा निश्चित होता है।”

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका के समान ही करते हैं; तथापि उक्त तथ्य की सिद्धि के लिए वे भावमोह से रहित संसारियों का उदाहरण देते हैं।

उनका कथन मूलतः इसप्रकार है-

“प्रश्न - उक्त स्थिति में ‘औदयिक भाव बंध के कारण हैं’ - यह आगमवचन व्यर्थ ही सिद्ध होगा ?

उत्तर - यद्यपि औदयिक भाव बंध के कारण हैं; तथापि मोह के उदय से सहित औदयिक भाव ही बंध के कारण हैं; अन्य नहीं। द्रव्यमोह के उदय होने पर भी यदि शुद्धात्मभावना के बल से भावमोहरूप परिणमन नहीं होता है तो बंध नहीं होता।

यदि कर्मोदयमात्र से ही बंध होता हो तो फिर संसारियों के सदैव कर्मोदय की विद्यमानता होने से सदैव-सर्वदा बंध ही होगा, मोक्ष कभी भी हो ही नहीं सकेगा।”

तात्पर्य यह है कि जब कर्मोदय सहित अन्तरात्माओं के अनुभूति के काल में भावमोह के अभाव में बंध नहीं होता तो फिर भावमोह से पूर्णतः रहित कर्मोदय सहित अरहंत परमात्मा के बंध कैसे होगा ?

इस गाथा के भाव को समझाने के लिए कविवर वृन्दावनदासजी ने चौदह छन्द लिखे हैं; जिसमें वे मूल गाथा और टीकाओं के भावों को तो छन्दोबद्ध करते ही हैं; साथ ही प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग - इन चार प्रकार के बंधों को भी समझाते हैं। यह स्पष्ट करते हैं कि प्रकृति और प्रदेश बंध योग से होते हैं और स्थिति और अनुभाग बंध मोह अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के कारण होते हैं। चूंकि अरहंत भगवान के मोह का पूर्णतः अभाव हो गया है; अतः उनके स्थिति और

अनुभाग बंध होने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता है। ऐसी स्थिति में प्रकृति और प्रदेश बंध का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता है; क्योंकि जब कर्मों की स्थिति ही नहीं पड़ेगी तो वे एक समय में ही खिर जायेंगे और जब अनुभाग भी नहीं होगा तो फिर फलदान का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

इसके बाद मोह के अभाव में उनके कर्मोदय और भव्यों के भाग्य से होनेवाली क्रियाओं के संबंध में अनेक उदाहरण देते हुए यह समझाते हैं कि अरहंत भगवान का और उक्त क्रियाओं का सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव कैसे बन रहा है ?

तत्संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण छन्द इसप्रकार हैं -

(दोहा)

भानु वसत आकाश में जल में जलज वसंत ।
किमि ताको अवलोकते विकसित होत तुरन्त ॥२०४॥
अस्त गभस्त विलोकते चकवा तिय तजि देत ।
लखहु निमित्त नैमित्तिक को प्रगट अनाहत हेत ॥२०५॥
तैसे पुण्यनिधान के प्रश्न होत परमान ।
जिनधुनि खिरत अनच्छरी इच्छारहित महान ॥२०६॥
जैसे शयन दशा विशैं कोउ करि उठत प्रलाप ।
विनु इच्छा तसु वचन तहं खिरत आपतैं आप ॥२०७॥
जब इच्छाजुत को वचन खिरत अनिच्छा येम ।
तब सो वचन खिरन विषैं इच्छा को नहिं नेम ॥२०८॥
चिंतामनि सुरवृच्छ तैं, गुनित अनंतानंत ।
शक्ति सुखद जिनदेह में, सहज सुभाव लसंत ॥२०९॥

यद्यपि सूर्य आकाश में रहता है और कमल जल में वसता है; तथापि सूर्य को देखते ही कमल किसप्रकार विकसित हो जाते हैं ?

सूर्य के अस्त होते ही चकवा चकवी से बिछुड़ जाता है। इन बातों से निमित्त-नैमित्तिकों का अनाहत भाव देखा जा सकता है।

इसीप्रकार पुण्यवानों के प्रश्नों के अनुसार इच्छारहित जिनेन्द्रदेव की अनक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति सोते हुए भी प्रलाप करने लगता है, उसमें उसके वचन बिना इच्छा के अपने आप ही निकलने लगते हैं।

इसप्रकार जब इच्छावालों के वचन भी अनिच्छापूर्वक ही निकलने लगते हैं, तब तो वचनों के खिरने में इच्छा का कोई नियम नहीं रहा।

चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्षों से अनंतानंत गुणी सुखद शक्ति अरहंत भगवान की देह में स्वाभाविकरूप से सहज ही रहती है।

उक्त कथनों के माध्यम से वृन्दावनदासजी यह कहना चाहते हैं कि अरिहंत भगवान के इच्छा के बिना होनेवाले विहारादि कायिक कार्य और दिव्यध्वनि सहज ही हैं, स्वाभाविक ही हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह ४५वीं गाथा अलौकिक है; इसमें महान सिद्धान्त है। पूर्व पुण्य प्रकृति के कारण से सभी फल मिले हैं। समवशरण की ऐसी रचना होती है, जिसे देखकर इन्द्र भी आश्चर्यचकित हो जाता है। जबकि इन्द्र स्वयं समवशरण की रचना करता है, फिर भी उसे विस्मयता होती है।^१

केवली भगवान को हलने-चलने व उपदेश आदि की क्रिया होती है उस समय औदयिकी क्रिया होने पर भी वह बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु सर्वज्ञ का पारिणामिक भाव तो शुद्ध होना बाकी है, वह शुद्ध होता जाता है; इसलिए उसे कार्यभूत मोक्ष का कारणभूत कहा है। केवली भगवान को जिससमय आस्रव होता है, उसीसमय खिर जाता है - ऐसा कहा है। ज्ञानी का झुकाव स्वभाव की तरफ है और अज्ञानी का झुकाव कर्म की तरफ।

१. निचलीदशा में सम्यग्दृष्टि को चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी जितने अंशों में जीव उसमें नहीं जुड़ता, उतने अंश में उस कर्म के उदय को निर्जरा कहते हैं।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३५३

२. केवली भगवान को साता वेदनीय कर्म के परमाणु का आस्रव जो समय-समय होता है, वह उसी समय चला जाता है - ऐसा शास्त्र में कथन है।

३. केवली भगवान को पूर्व कर्म का उदय है; किन्तु समय-समय शुद्धता बढ़ती जाती है; इसकारण औदयिकी क्रिया को क्षायिकी कहा है।^२

केवली भगवान को समय-समय शुद्ध पर्याय होती जाती है; इसलिए औदयिकी का कार्य क्षायिक कहा जाता है। वह औदयिकी क्रिया चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती; किन्तु मोक्ष का कारण होती है; इसलिए औदयिकी क्रिया को उसीसमय क्षायिकी मानना। औदयिकी क्रिया मोह रहित है, इसलिए वह बन्ध का कारण नहीं है; अतः उसी समय उसे क्षायिकी कहा है।^३

जैसे नदी में पानी का पूर आने पर भी जिसे तैरना आता हो तो वह तिर जाता है; वैसे ही कर्म का उदय होने पर भी स्वभाव-दृष्टिवंत तिर जाता है; किन्तु कर्म के उदय की तरफ झुकाववाला नहीं तिरता। ‘मैं ज्ञानस्वभाव हूँ’ - ऐसे भानवाले के कर्म के उदय को निर्जरा कहते हैं। केवली के आस्रव को उसीसमय अभाव कहा और औदयिकी क्रिया को क्षायिकी कहा है।^३

पूर्व कर्म का उदय भगवान को आता है; वह विहार, दिव्यध्वनि आदि में निमित्त है; वे कर्म छूटते जाते हैं और पारिणामिकभाव शुद्ध होता जाता है; इसलिए औदयिकभाव को क्षायिकभाव कहा है।^४”

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि अरिहंत भगवान के पूर्वपुण्य के उदय में समवशरण आदि विभूति तो होती ही है, विहार भी होता है, दिव्यध्वनि भी खिरती है। इन सबकी न तो उन्हें कोई इच्छा है और न उनका इनमें एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही है। यह सब सहजभाव

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३५७-३५८

२. वही, पृष्ठ-३५८

३. वही, पृष्ठ-३५९

४. वही, पृष्ठ-३६१-३६२

से ही होता रहता है। इसकारण इन क्रियाओं के होने पर भी उन्हें किसी भी प्रकार का बंध नहीं होता। इसकारण ये कियार्ये उनके लिए निष्फल ही हैं; इसीलिए उत्थानिका में कहा गया है कि पुण्य का विपाक अरहंत भगवान के लिए निष्फल ही है, अकिंचित्कर ही है।

जगत में कहा जाता है और आगम में भी कहा गया है कि औदयिक क्रिया बंध का कारण है; किन्तु मोहादिभावरूप औदयिक भावों के अभाव में औदयिक क्रिया भी बंध करने में समर्थ नहीं होती; यही कारण है कि अरिहंत भगवान के विद्यमान उक्त औदयिक क्रियाओं को क्षायिकी क्रिया माना गया है; क्योंकि उनके मोह का पूर्णतः अभाव हो चुका है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि दिव्यध्वनि जैसे महान कार्य को अकिंचित्कर कहना, निष्फल कहना तो अच्छा नहीं लगता; क्योंकि उससे तो भव्यजीवों का अनंत उपकार होता है, जिनशास्त्रों का मूल आधार तो वही दिव्यध्वनि है।

अरे भाई ! भव्य श्रोताओं और पाठकों को अर्थात् हमारे-आपके लिए तो वह दिव्यध्वनि पूर्णतः कार्यकारी है, सफल है, सार्थक है।

यहाँ बात हमारी-तुम्हारी नहीं, अरिहंत भगवान की है, उनके बंध की है। अरिहंत भगवान की दिव्यध्वनि उनके लिए कर्मबंध करने में अकिंचित्कर है, निष्फल है। उन्हें उसके कारण किसी भी प्रकार का कर्मबंध नहीं होता - यही अकिंचित्कर का अर्थ है।

प्रश्न - यहाँ तो साफ-साफ लिखा है कि **पुण्यफला अरहंता** अर्थात् पुण्य के फल में अरहंत होते हैं और आप कह रहे हैं कि..... ?

उत्तर - अरे भाई ! पुण्यफला अरहंता का अर्थ पुण्य के फल में अरिहंत होते हैं - यह नहीं है। इसका अर्थ तो यह है कि अरिहंत भगवान के पुण्यके उदय में जो क्रियायें होती हैं; वे पुण्य का फल हैं अर्थात् औदयिकी हैं; उनमें अरहंत भगवान का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इसलिए यहाँ यह कहा

प्रवचनसार गाथा-४६

४५ वीं गाथा में यह कहा है कि केवली भगवान की विहारादि क्रियायें औदयिकी होने पर भी क्षायिकी के समान ही हैं; क्योंकि रागादि भावों के अभाव में उन क्रियाओं के कारण उन्हें बंध नहीं होता।

अब इस ४६ वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि उक्त कथन के आधार पर यदि कोई ऐसा मान ले कि केवली भगवान के समान अन्य सभी संसारी जीवों के भी स्वभाव के विघात का अभाव है तो उसका यह मानना ठीक नहीं है; क्योंकि संसारी जीव तो स्वयं शुभाशुभभावरूप परिणमित होते हैं और इसकारण उन्हें बंध भी होता है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण ।

संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

(हरिगीत)

यदी स्वयं स्वभाव से शुभ-अशुभरूप न परिणमें ।

तो सर्व जीवनिकाय के संसार भी ना सिद्ध हो ॥४६॥

यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा स्वयं स्वभाव से अर्थात् अपने भाव से शुभ या अशुभभावरूप परिणमित नहीं होता तो सभी जीवों के संसार का अभाव सिद्ध होगा।

उक्त गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यदि एकान्त से ऐसा माना जाय कि शुभाशुभभावरूप स्वभाव में (अपने भाव में) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता तो यह सिद्ध होगा कि वह सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्धस्वभाव से अवस्थित है।

इसप्रकार समस्त जीवसमूह समस्त बंध कारणों से रहित सिद्ध होने

से संसार के अभावरूप स्वभाव के कारण नित्यमुक्तता को प्राप्त हो जावेंगे; किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्फटिक मणि के जपाकुसुम और तमालपुष्प के रंगरूप स्वभावपने की तरह आत्मा के परिणामधर्मपना होने से शुभाशुभस्वभावयुक्तता प्रकाशित होती है।

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार स्फटिक मणि लाल और काले फूल के निमित्त से लाल और काले स्वभावरूप परिणमित होता दिखाई देता है; उसीप्रकार आत्मा कर्मोपाधि के निमित्त से शुभाशुभभावरूप परिणमित होता दिखाई देता है।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को नयविवक्षा से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सांख्यों जैसी मान्यतावाला कोई शिष्य यदि ऐसा कहे कि जिसप्रकार आत्मा शुद्धनय से शुभाशुभभावरूप परिणमित नहीं होता; उसीप्रकार अशुद्धनय से भी शुभाशुभभावरूप परिणमित नहीं होता हो तो व्यवहारनय से भी समस्त जीवों के संसार का अभाव हो जाये और सभी जीव सदा मुक्त ही सिद्ध हो जायेंगे।

इस पर वह सांख्यमतानुयायी शिष्य कहता है कि संसार का अभाव होता है तो हो जाने दो, वह तो हमारे लिए भूषण है, दूषण नहीं। उससे कहते हैं कि यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध बात है; क्योंकि संसारी जीवों के शुभाशुभभाव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथा के भाव को दो छन्दों में स्पष्ट करते हैं। दूसरे छन्द में तो सांख्यमत की मान्यता को ही स्पष्ट किया है, प्रथम छन्द में गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत किया है -

(माधवी)

जदि आतम आप सुभावहितैं स्वयमेव शुभाशुभरूप न होई ।
तदि तौ न चहै सब जीवनि के जगजाल दशा चहिये नहिं कोई ॥
जब बंध नहीं तब भोग कहां जो बंधै सोई भोगवै भोग तितोई ।
यह पच्छ प्रतच्छ प्रमानतैं साधते खंडन सांख्यमतीनि कौ होई ॥२१६॥

यदि आत्मा स्वयं स्वभाव से ही शुभाशुभभावरूप परिणमित न होता हो तो फिर किसी भी जीव की संसारदशा नहीं होना चाहिए। जब बंध ही नहीं होगा तो उसके फल का उपभोग भी कैसे होगा; क्योंकि बंधनेवाला ही भोगता है। ‘आत्मा स्वभाव से रागादि भावोंरूप परिणमित नहीं होता’ - यह सांख्यों जैसी मान्यता प्रत्यक्ष प्रमाण से ही बाधित है।

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अब स्वभाव में विकार नहीं - ऐसा कहा; इसलिए कोई अज्ञानी ऐसा माने कि ‘विकार पर्याय में नहीं है’ तो यह भ्रम है।”

संसारपर्यायरूप जीव स्वयं परिणमित होता है और पर्याय आत्मा का अंश है; इसकारण अंशी आत्मा स्वयं विकाररूप क्षणिक परिणमित होता है, निमित्त का आश्रय करके स्वयं परिणमित होता है और यदि स्वभाव का आश्रय ले तो विकार छूट जाता है।^१

पर्याय में अशुद्धता है; किन्तु स्वभाव में अशुद्धता नहीं है - ऐसे स्वभाव का भान करे तो मिथ्यात्व की अशुद्धता दूर हो जायेगी और अंतर स्थिर होने पर राग-द्वेष दूर होंगे। ऐसा होने पर पूर्ण वीतरागता होगी। इसी का नाम धार्मिक क्रिया है।^२

आत्मा ज्ञानस्वरूप चैतन्य है; यदि उसकी पर्याय में भी केवली भगवान के समान विकार नहीं हो तो संसार सिद्ध नहीं होगा। आत्मा आदि-अन्त रहित है। जैसे सिद्धों की पर्याय में मोह-राग-द्वेष नहीं है; वैसे ही इस संसारी की पर्याय में भी मोह-राग-द्वेष नहीं हो तो मोह-राग-द्वेष हेय नहीं रहते।^३

आत्मा परिणाम धर्मवाला है और अपनी पर्याय में विकार होता है - ऐसा निश्चित करे तो उसे हेय कर सकेगा; क्योंकि स्वभाव में लीनता होने पर विकार हेय हो जाता है।

देखो ! यहाँ अपनी विकारी पर्याय को शुद्धपने कहा है। यहाँ अपनी अशुद्धता अपने से होती है - ऐसा बताने के लिए शुद्धपना कहा है और

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३६५

२. वही, पृष्ठ-३६५

३. वही, पृष्ठ-३६६

४. वही, पृष्ठ-३६७-३६८

कर्म के निमित्त से होता है - ऐसा कहने में अशुद्धपना कहा है; अतः विकार तेरा है - ऐसा निर्णय कर। यदि विकार अपना है - ऐसा जाने तो उसे छोड़ सकता है।^१

जैसे केवली भगवान को शुभाशुभ परिणामों का अभाव है; वैसे सभी जीवों को सर्वथा शुभाशुभ परिणामों का अभाव नहीं समझना।

मोहकर्म का उदय होने पर भी जीव अपने पुरुषार्थ अथवा शुद्ध आत्मबल की भावना से राग-द्वेषरूप नहीं परिणमित हो तो बन्ध नहीं होता। स्वयं कर्म के ऊपर लक्ष्य करे तो बन्ध होता है अथवा स्वभाव की दृष्टि नहीं रखे तो बन्ध होता है।

कर्म का उदय होने पर भी शुद्धात्मा की भावना से रागरूप परिणमित नहीं होता तो बन्ध नहीं होता। ज्ञानस्वभाव पूर्णशक्तिरूप है। इस शक्ति से केवलज्ञान प्रगट होता है, यह बात यहाँ सिद्ध करना है।^२”

इसप्रकार इस गाथा में मूलरूप से यही कहा गया है कि केवली भगवान के जो दिव्यध्वनि का खिरना, विहार होना आदि क्रियायें पाई जाती हैं; उनके कारण उन्हें रंचमात्र भी बंध नहीं होता; क्योंकि केवली भगवान के मोह-राग-द्वेष का पूर्णतः अभाव हो गया है।

उक्त कथन के आधार पर कोई अज्ञानी यह कहने लगे कि जब केवली भगवान के चलने-फिरने और बोलते रहने पर भी बंध नहीं होता तो फिर हमें भी चलने-फिरने और बोलने के काल में बंध नहीं होना चाहिए।

उसके समाधान में इस गाथा में कहा गया है कि बंध तो मोह-राग-द्वेष से होता है, शारीरिक क्रियाओं से नहीं। केवली भगवान के राग-द्वेष नहीं है; अतः उन्हें उक्त क्रियाओं के सद्भाव में भी बंध नहीं होता और संसारी जीवों के मोह-राग-द्वेष होने से बंध होता है।

केवली भगवान के समान यदि संसारी जीवों के भी औदयिकी क्रियाओं के काल में बंध का अभाव माना जायेगा तो फिर संसार ही न रहेगा; क्योंकि बंधदशा का नाम ही संसार है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३६९

२. वही, पृष्ठ-३७०

प्रवचनसार गाथा-४७

यह ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्तर्गत ज्ञानाधिकार चल रहा है। इसमें सर्वज्ञता के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस गाथा में भी सर्वज्ञता के स्वरूप को ही स्पष्ट किया जा रहा है।

इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि प्रकरणगत विषय का अनुसरण करते हुए एक बार फिर अतीन्द्रियज्ञान का सर्वज्ञता के रूप में अभिनन्दन करते हैं। इसप्रकार यह अतीन्द्रियज्ञान और सर्वज्ञता के अभिनन्दन की गाथा है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।

अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

(हरिगीत)

जो तात्कालिक अतात्कालिक विचित्र विषम पदार्थ को।

चहुं ओर से इक साथ जाने वही क्षायिक ज्ञान है ॥४७॥

जो ज्ञान तात्कालिक-अतात्कालिक विचित्र और विषम - सभी प्रकार के समस्त पदार्थों को सर्वात्मप्रदेशों से जानता है, उस ज्ञान को क्षायिक ज्ञान कहा गया है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार समझाते हैं -

“वस्तुतः जिनमें पृथक् रूप से वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मी से आलोचित अनेक प्रकारों के कारण विचित्रता प्रगट हुई है और परस्पर विरोध से उत्पन्न होनेवाली असमानजातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है; ऐसे भूत, भविष्य और वर्तमान में वर्तते समस्त पदार्थों को वह क्षायिक-ज्ञान सर्वात्म-प्रदेशों से एक समय में ही जान लेता है।

वह क्षायिकज्ञान, क्रमप्रवृत्ति के हेतुभूत क्षयोपशम अवस्था में रहनेवाले ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलों का अत्यन्त अभाव होने से तात्कालिक-अतात्कालिक पदार्थ समूह को समकाल में ही प्रकाशित करता है।

वह सर्वविशुद्ध क्षायिकज्ञान, प्रतिनियत प्रदेशों की विशुद्धि का सर्वविशुद्धि में डूब जाने से सभी पदार्थों को सर्वात्मप्रदेशों से प्रकाशित करता है और सर्व आवरणों का क्षय होने से व देश आवरण का क्षयोपशम न रहने से भी सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है।

ज्ञानावरण के सर्वप्रकार क्षय हो जाने से और असर्वप्रकार के ज्ञानावरण के क्षयोपशम के विलय को प्राप्त हो जाने से वह अतीन्द्रियज्ञान विचित्र अर्थात् अनेकप्रकार के पदार्थों को प्रकाशित करता है।

असमानजातीय ज्ञानावरण के क्षय हो जाने से और समानजातीय ज्ञानावरण के क्षयोपशम के नष्ट हो जाने से वह विषम अर्थात् असमानजातीय पदार्थों को भी प्रकाशित करता है।

अथवा अतिविस्तार से क्या लाभ है ? इतना ही पर्याप्त है कि जिसका अनिवारित फैलाव है - ऐसा वह प्रकाशमान क्षायिकज्ञान सर्वत्र सभी को सर्वथा और सदा जानता ही है।”

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का अर्थ सामान्य ही किया है। उसमें ऐसी कोई विशेष बात नहीं है, जो विशेष उल्लेखनीय हो।

इसीप्रकार कविवर वृन्दावनदासजी ने भी उक्त गाथा और टीका के भाव को दो छन्दों में सामान्यरूप से ही छन्दोबद्ध कर दिया है।

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

तथा भगवान सभी को अक्रम जानते हैं। भविष्य में होगा, तब भगवान जानेंगे तो इसमें क्रम हो गया; किन्तु भगवान के जानने में क्रम नहीं है, वे युगपत् जानते हैं। क्षयोपशम ज्ञान में क्रम पड़ता है।^१

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३७४-३७५

जगत में केवलज्ञान है - इसकी स्वीकारोक्ति ज्ञाता-स्वभाव को स्वीकार किए बिना नहीं होती। केवली भगवान कहते हैं कि 'हम कौन हैं' - यह तेरे स्वभाव-सन्मुख होकर निर्णय कर।^१

आत्मा एक समय में सर्वप्रदेश से, सर्व द्रव्यों को, सर्वभाव से जानता है। पूर्ण द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानता है। यह धर्म के लिए मुख्य (मुद्दे की) रकम है - ऐसे निर्णय बिना करणानुयोग अथवा चरणानुयोग आदि का ज्ञान, सच्चा नहीं होता।^२

केवलज्ञान के निर्णय में मोक्ष-तत्त्व का अथवा देव का निर्णय आता है - ऐसा निर्णय ज्ञानस्वभाव के आश्रय से होता है।^३

केवलज्ञान सर्व पदार्थों के, सर्व क्षेत्र को, सर्व काल से, सर्व भाव से जानता है। यह क्षायिकज्ञान बाहर से नहीं आता, राग की क्रिया में से अथवा निमित्त में से क्षायिकज्ञान नहीं आता, अपितु परम-पारिणामिक भाव-चैतन्यभाव में से क्षायिकज्ञान आता है।^४”

इस गाथा में अतीन्द्रियज्ञान की सर्वज्ञता सिद्ध की गई है। कहा गया है कि अतीन्द्रिय ज्ञान पर की सहायता बिना स्वयं के सर्वात्मप्रदेशों से जानता है, अक्रम से जानता है, सभी को जानता है और भूत, भविष्य और वर्तमान - तीनों कालों में घटित होनेवाली घटनाओं-पर्यायों को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष जानता है; क्योंकि क्रमपूर्वक जानना, नियत आत्मप्रदेशों से ही जानना, अमुक को ही जानना आदि मर्यादायें क्षयोपशमज्ञान में ही होती हैं। अतीन्द्रियज्ञान अर्थात् केवलज्ञान में ऐसी कोई मर्यादा नहीं होती।

ज्ञान की सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय में आशंकायें व्यक्त करनेवालों को इस गाथा के भाव को गंभीरता से जानने का प्रयास करना चाहिए। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३७५

२. वही, पृष्ठ-३७७

३. वही, पृष्ठ-३७८

४. वही, पृष्ठ-३७८

प्रवचनसार गाथा-४८

विगत गाथा में यह बताया गया था कि अतीन्द्रियज्ञान, क्षायिकज्ञान, केवलज्ञान; तात्कालिक-अतात्कालिक, विचित्र और विषम - सभी पदार्थों को सर्वात्मप्रदेशों से एकसाथ जानता है।

अब इस ४८ वीं गाथा में उसी बात को सिद्ध करते हुए यह कहा जा रहा है कि जो ज्ञान सबको नहीं जानता; वह ज्ञान एक अपने आत्मा को भी सम्पूर्णतः नहीं जान सकता।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहवणत्थे ।

णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥

(हरिगीत)

जाने नहीं युगपद् त्रिकालिक अर्थ जो त्रैलोक्य के।

वह जान सकता है नहीं पर्यय सहित इक द्रव्य को ॥४८॥

जो तीनकाल और तीनलोक के सभी पदार्थों को एक ही साथ नहीं जानता; वह पर्यायों सहित एक द्रव्य को भी नहीं जान सकता।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इस विश्व में एक आकाशद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्य कालद्रव्य, अनंत जीवद्रव्य और जीवद्रव्यों से भी अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं। उन सभी द्रव्यों की अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की अतीत, अनागत और वर्तमान भेदवाली निरवधि (अनादि-अनन्त) वृत्तिप्रवाह के भीतर पड़नेवाली अनन्त पर्यायें हैं।

यह समस्त द्रव्य और पर्यायों का समुदाय ज्ञेय है और इन्हीं सबमें से एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है।

अब यहाँ जिसप्रकार समस्त दाह्य (ईंधन) को जलाती हुई अग्नि, समस्त दाह्य जिसका निमित्त है - ऐसे समस्त दाह्याकार पर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है - ऐसे एक अपनेरूप (अग्निरूप) परिणमित होती है; उसीप्रकार समस्त ज्ञेयों को जानता हुआ ज्ञाता आत्मा समस्त ज्ञेय जिसका निमित्त है - ऐसे समस्त ज्ञेयाकार पर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है - ऐसे निजरूप से जो चेतनता के कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष है - उसरूप परिणमित होता है। वस्तुतः द्रव्य का ऐसा स्वभाव है।

किन्तु जो समस्त ज्ञेय को नहीं जानता, वह आत्मा; जिसप्रकार समस्त दाह्य को नहीं जलाती हुई अग्नि समस्त दाह्यहेतुक समस्त दाह्याकार-पर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है, ऐसे अपनेरूप में परिणमित नहीं होती; उसीप्रकार समस्त ज्ञेयहेतुक समस्त ज्ञेयाकार पर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार है; ऐसे अपने रूप में - स्वयं चेतनता के कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष होने पर भी - परिणमित नहीं होता अर्थात् अपने को परिपूर्णतया अनुभव नहीं करता, नहीं जानता।

इसप्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता, वह अपने आत्मा को भी नहीं जानता।”

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि ‘इन्हीं सबमें से एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है’ - ऐसा कहकर यहाँ क्या कहना चाहते हैं; क्या सभी जीवद्रव्य ज्ञाता नहीं हैं?

अरे भाई! ज्ञाता तो सभी जीव हैं, किन्तु सभी जीवद्रव्य ज्ञेय भी हैं। जब एक जीवद्रव्य जानने का काम करता है, जानता है, सभी को जानता है; तब वह अकेला स्वयं ज्ञाता होता है और अन्य अजीव द्रव्यों के साथ-साथ उससे भिन्न शेष जीवद्रव्य भी ज्ञेय ही होते हैं। इसप्रकार प्रत्येक जीव

स्वयं के लिए ज्ञाता और ज्ञेय - दोनों है; किन्तु अन्यजीव उसके लिए अजीवद्रव्यों के समान ज्ञेय ही हैं। यही कारण है कि यहाँ ऐसा लिखा गया है कि इन्हीं सबमें से एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है।

यद्यपि आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका का तो अनुसरण करते ही हैं; तथापि वे यह स्पष्ट कर देते हैं कि सभी पदार्थ ज्ञेय हैं और उनमें से विवक्षित एक जीवद्रव्य ज्ञाता है। इसीप्रकार द्रव्यों की संख्या गिनाते हुए कहते हैं कि लोकाकाशप्रमाण असंख्यात कालाणु हैं और उनसे अनन्तगुणे जीवद्रव्य हैं।

समस्त ईंधन को जलानेवाली अग्नि का उदाहरण तो वे तत्त्वप्रदीपिका के समान ही देते हैं; किन्तु साथ ही अन्य उदाहरण भी देते हैं; जो इस-प्रकार हैं -

“जिसप्रकार कोई अन्धा व्यक्ति सूर्य से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ सूर्य को नहीं देखने के समान; दीपक से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ दीपक को नहीं देखने के समान; दर्पण में स्थित बिम्ब को नहीं देखते हुए दर्पण को नहीं देखने के समान; अपनी दृष्टि से प्रकाशित पदार्थों को नहीं देखता हुआ हाथ-पैर आदि अंगोंरूप से परिणत अपने शरीराकार स्वयं को अपनी दृष्टि से नहीं देखता; उसीप्रकार यह विवक्षित आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशित पदार्थों को नहीं जानता हुआ सम्पूर्ण अखण्ड एक केवलज्ञानरूप आत्मा को भी नहीं जानता।

इससे यह निश्चित हुआ कि जो सबको नहीं जानता, वह अपने को भी नहीं जानता।”

उक्त उदाहरणों से यह बात पूरी तरह साफ हो गई है कि जिसप्रकार सूर्य व दीपक के प्रकाश में और दर्पण में प्रकाशित पदार्थों को नहीं जाननेवाला अंधा व्यक्ति सूर्य, दीपक और दर्पण को भी नहीं जानता; उसीप्रकार अतीन्द्रियज्ञान, केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित पदार्थों को नहीं

जाननेवाला आत्मा अतीन्द्रिय केवलज्ञान और केवलज्ञानी आत्मा को भी नहीं जान सकता।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा का भाव एक ही छन्द में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

(मनहरण)

तीनों लोकमांही जे पदारथ विराजैं तिहूँ,
काल के अनंतानंत जासु में विभेद है।
तिनको प्रतच्छ एक समै ही में एकै बार,
जो न जानि सकै स्वच्छ अंतर उछेद है॥
सो न एक दर्वहू को सर्व परजाययुत,
जानिवे की शक्ति धरै ऐसे भने वेद है।
तातैं ज्ञान छायक की शक्ति व्यक्त वृन्दावन,
सोई लखै आप-पर सर्वभेद छेद है॥

तीनलोक में जितने भी पदार्थ विद्यमान हैं; उनकी तीनकाल संबंधी अनंतानंत पर्यायें हैं; उन सभी को एक समय में ही एकबार ही जो प्रत्यक्ष नहीं जान सकता है; उसके अन्तर की स्वच्छता का उच्छेद हो गया है।

वह व्यक्ति सर्व पर्यायों से युक्त एक द्रव्य को भी जान सकने की शक्ति से रहित है - ऐसा शास्त्र कहते हैं। वृन्दावन कवि कहते हैं कि क्षायिकज्ञान की शक्ति तो ऐसी व्यक्त है कि उसमें अपने और पर के सभी भेद (पर्यायें) जान लिये जाते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। एक समय में सर्व ज्ञेयों को जाने - ऐसा इसका स्वभाव है।”

यदि सर्व को नहीं जाने तो उसका पर्याय सहित एक द्रव्य को भी

जानना सम्भव नहीं है; एक समय की पूर्ण पर्याय है, उसके सहित द्रव्य को जानना सम्भव नहीं है। एक समय में पूर्ण जाने, वह ज्ञाता है। यदि अनन्त पदार्थों को नहीं जानता हो तो वह एक समय की केवलज्ञान की पर्याय को भी नहीं जानता; इसलिए वह द्रव्य को भी नहीं जानता।

गाथार्थ में 'पर्याय सहित एक द्रव्य कहा है।' इसका अर्थ यहाँ केवलज्ञान पर्याय सहित द्रव्य की बात है। आत्मा ज्ञाता अर्थात् एक समय की पर्याय की पूर्णतावाला आत्मा ज्ञाता है - ऐसा अर्थ लेना है।

यहाँ केवलज्ञान की बात चलती है। एक समय में लोकालोक नहीं जाने तो एकसमय की केवलज्ञान पर्याय सहित द्रव्य को जानना सम्भव नहीं है।^१

जैसे यदि, अग्नि सभी को एक साथ ही पूर्णतः जला नहीं सके तो यह अग्नि का वास्तविक स्वरूप नहीं है। राग तेरा स्वरूप नहीं है, अल्पज्ञता भी तेरा स्वरूप नहीं है। सर्वज्ञियों को एक ही साथ आत्मा नहीं जाने तो वह आत्मा नहीं है - ऐसा यहाँ कहते हैं।

तथा लोकालोक तो अनादि से है; किन्तु जब स्वयं केवलज्ञानरूप परिणमित हो तो लोकालोक निमित्त कहलाये। एक समय में पूर्ण ज्ञानरूप होना - ज्ञाता का स्वभाव है।^२

आत्मा महासत्य है, उसका ज्ञान महासत्य है और उसकी पर्याय (जो) पूर्ण प्रगट होती है, वह भी महासत्य है। स्वयं लोकालोक को जाने - ऐसा है। अपूर्ण रहे, यह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। यदि एक समय में अनन्त पदार्थों को नहीं जाने तो अपनी एकसमय की केवलज्ञान की पर्याय को नहीं जानने पर वह द्रव्यों को (भी) नहीं जानता। छद्मस्थ को इस विधि से पूर्णता की प्रतीति होती है।^३

तथा कोई कहे कि श्रुतज्ञान-अपेक्षित धर्मों को जानता है; किन्तु

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३८२ २. वही, पृष्ठ-३८४ ३. वही, पृष्ठ-३८४

केवलज्ञान अपेक्षित धर्मों को नहीं जानता तो यह बात असत्य है। जब केवलज्ञान श्रुतज्ञान को जानता है तो केवलज्ञान उसके विषयों को नहीं जाने - ऐसा नहीं बनता। श्रुतज्ञान अपेक्षित धर्मों को जानता है और उस श्रुतज्ञान को केवलज्ञान जानता है; इसलिए वह सर्व धर्मों को जानता है। एकसमय में पूर्णज्ञान प्रगट होता है - वही ज्ञाता है।^१

इसप्रकार विविध उदाहरणों के माध्यम से इस गाथा और इसकी टीकाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान का स्वभाव कुछ ज्ञेयों को जानना नहीं है; अपितु सभी पदार्थों, उनके गुणों और उनकी पर्यायों को एकसाथ एक समय में ही जानना है, जाननेरूप परिणमना है।

जो ज्ञाता अभी समस्त गुण-पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों के जाननेरूप नहीं परिणम रहा है; वह अभी सम्पूर्ण गुण-पर्यायों सहित अपने आत्मा को भी नहीं जान रहा है।

तात्पर्य यह है कि जो सर्व गुण-पर्यायों सहित सबको नहीं जानता; वह सर्व गुण-पर्यायों सहित स्वयं को भी नहीं जान सकता। इसीप्रकार जो सर्व गुण-पर्यायों सहित स्वयं को नहीं जानता; वह सर्व गुण-पर्यायों सहित पर को भी नहीं जान सकता; क्योंकि स्व-पर को सर्व गुण-पर्यायों सहित जानना एकसाथ ही होता है, केवलज्ञान में ही होता है।

अतः यह सुनिश्चित ही है कि केवलज्ञान में अपने आत्मा सहित सभी पदार्थ अपने-अपने अनंतगुण और उनकी अनन्त पर्यायों सहित प्रतिसमय एकसाथ जानने में आते हैं।

वस्तुतः बात यह है कि यह भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, सबको देखने-जानने के स्वभाववाला है। कुछ को जानना और कुछ को नहीं जानना आत्मा का स्वभाव नहीं; अपितु विभाव है। यही कारण है कि नियमसार की गाथा ११-१२ में मतिज्ञानादि क्षयोपशम ज्ञानों को विभाव कहा है।●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३८५

प्रवचनसार गाथा-४९

४८वीं गाथा में यह कहा गया है कि जो तीनलोक और तीनकाल के सभी पदार्थों को एकसाथ नहीं जानता, वह सम्पूर्ण पर्यायों सहित अपने आत्मा को भी नहीं जान सकता।

अब इस ४९वीं गाथा में यह कह रहे हैं कि जो एक अपने आत्मा को भी पूर्णतः नहीं जानता है, वह सबको सम्पूर्णतः कैसे जान सकता है ?

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।

ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥

(हरिगीत)

इक द्रव्य को पर्यय सहित यदि नहीं जाने जीव तो ।

फिर जान कैसे सकेगा इक साथ द्रव्यसमूह को ॥४९॥

जो अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्य (आत्मद्रव्य) को नहीं जानता; वह एक ही साथ सर्व अनन्त द्रव्यों को कैसे जान सकता है ?

इस गाथा का अर्थ प्रकारान्तर से इसप्रकार भी किया जाता है -

“यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्य को, आत्मद्रव्य को तथा अनन्त द्रव्यसमूह को जो पुरुष नहीं जानता है; वह सबको अर्थात् अनन्त द्रव्यसमूह को कैसे जान सकता है ?”

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“प्रथम तो यह आत्मा ज्ञानमय होने से ज्ञातृत्व के कारण वस्तुतः ज्ञान ही है और वह ज्ञान प्रत्येक आत्मा में रहता हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है।

वह प्रतिभासमय महासामान्य प्रतिभासमय अनन्त विशेषों में व्याप्त होनेवाला है और उन विशेषों के निमित्त सर्व द्रव्य-पर्याय हैं।

अब जो आत्मा; सर्व द्रव्य-पर्याय जिनके निमित्त हैं - ऐसे अनन्त विशेषों में व्याप्त होनेवाले प्रतिसमय महासामान्यरूप आत्मा का स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता; वह प्रतिभासमय महासामान्य के द्वारा व्याप्य प्रतिभासमय अनन्त विशेषों के निमित्तभूत सर्व द्रव्य-पर्यायों को प्रत्यक्ष कैसे कर सकेगा ?

इससे यही फलित होता है कि जो आत्मा को नहीं जानता; वह सबको भी नहीं जानता। इससे यह निश्चित होता है कि सबके ज्ञान से आत्मा का ज्ञान और आत्मा के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है।

ऐसा होने पर आत्मा ज्ञानमयता के कारण स्वसंचेतक होने से, ज्ञाता और ज्ञेय का वस्तुरूप से अन्यत्व होने पर भी प्रतिभास और प्रतिभासमान इन दोनों का स्व-अवस्था में अन्योन्य मिलन होने के कारण उनमें भेदभाव करना अत्यन्त अशक्य होने से सर्व पदार्थसमूह आत्मा में प्रविष्ट हो गये हों की भांति प्रतिभासित होता है, ज्ञात होता है।

यदि ऐसा न हो तो, यदि आत्मा सबको न जानता हो तो ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेतन का अभाव होने से परिपूर्ण एक आत्मा का भी ज्ञान सिद्ध नहीं होगा।”

यद्यपि आचार्य जयसेन इस गाथा का अर्थ तत्त्वप्रदीपिका के समान ही करते हैं; तथापि वे स्वयं शंका उपस्थित कर उसका समाधान इसप्रकार करते हैं -

“अब यहाँ शिष्य कहता है कि आत्मा का ज्ञान होने पर सबका ज्ञान होता है - ऐसा यहाँ कहा गया है; किन्तु विगत गाथा में कहा गया था कि सबका ज्ञान होने पर आत्मा का ज्ञान होता है।

यदि ऐसा है तो छद्मस्थों को तो सबका ज्ञान नहीं होता, उन्हें आत्मज्ञान कैसे होगा? आत्मज्ञान के अभाव में आत्मभावना भी कैसे हो सकती है ?

आत्मज्ञान और आत्मभावना के अभाव में केवलज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं है।

उक्त आशंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि परोक्ष-प्रमाणभूत श्रुतज्ञान के माध्यम से सभी पदार्थ जाने जाते हैं।

यदि कोई कहे कि परोक्षप्रमाणभूत श्रुतज्ञान द्वारा सभी पदार्थ कैसे जाने जाते हैं तो उससे कहते हैं कि छद्मस्थों के भी व्याप्तिज्ञान द्वारा, अनुमान द्वारा लोकालोक का ज्ञान होता देखा जाता है।

केवलज्ञान संबंधी विषय को ग्रहण करनेवाला वह व्याप्तिज्ञान परोक्षरूप से कथंचित् आत्मा ही कहा गया है अथवा स्वसंवेदनज्ञान से आत्मा जाना जाता है और उसी से आत्मभावना की जाती है और उस रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप आत्मभावना से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

इसप्रकार उक्त कथनों में कोई दोष नहीं है।”

उक्त गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी दो छन्दों के माध्यम से इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(मत्तगयन्द)

जो यह एक चिदात्म द्रव्य अनन्त धरै गुणपर्यय सारो ।
ताकहँ जो नहीं जानतु है परतच्छपने सरवंग सुधारो ॥
सो तब क्यों करिके सब द्रव्य, अनंत-अनंत दशाजुत न्यारो ।
एकहि काल में जानि सकै यह ज्ञान की रीति को क्यों न विचारो ॥२२१॥

अनंत गुण-पर्यायों को धारण करनेवाले इस एक चैतन्य आत्मा को जो प्रत्यक्ष सर्वांग नहीं जानता है; वह अनंतानंत पर्यायों से युक्त सभी द्रव्यों को भिन्न-भिन्न रूप से एक ही काल में कैसे जान सकता है ?

आप ज्ञान की इस रीति का विचार क्यों नहीं करते ?

(मनहरण)

घातिकर्म घात के प्रगट्यो ज्ञान छायाक सो,
दर्वदिष्टि देखते अभेद सरवंग है ।
ज्ञेयनि के जानिवे तैं सोई है अनंत रूप,
ऐसे एक औ अनेक ज्ञान की तरंग है ॥
तातैं एक आतमा के जाने ही तैं वृन्दावन,
सर्व दर्व जाने जात ऐसोई प्रसंग है ।
केवली के ज्ञान की अपेच्छा तैं कथन यह,
मंथन करी है कुन्दकुन्दजी अभंग है ॥२२२॥

घातिकर्मों के अभाव से जो क्षायिकज्ञान प्रगट होता है, द्रव्यदृष्टि से देखें तो वह ज्ञान आत्मा से सर्वांग अभिन्न ही है। अनंत ज्ञेयों के जानने के कारण वह स्वयं भी अनंत ही है। इसप्रकार अनंत ज्ञेयों को जानने के कारण उनके और स्वयं एक ऐसे ज्ञानमयी आत्मा के जानने पर सभी द्रव्य जान लिए जाते हैं; जानने में आ जाते हैं।

यह कथन केवली भगवान के ज्ञान की अपेक्षा किया गया है। यह अभंग गंभीर मंथन आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव ने प्रस्तुत किया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“स्वयं को जानने पर, पर को जानता है - एक ही साथ दोनों को जानता है। पर को जानना - अपना स्वरूप है। जैसे, दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है - वहाँ बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों को जानता है। वैसे ही, स्वयं को तथा पर को दोनों का जानना एक ही साथ है।

साधकदशा में भी स्व-पर को जानने का स्वभाव है। स्व को जाने और निमित्त और राग को नहीं जाने - ऐसा नहीं बनता और राग को जाने और स्व को नहीं जाने - ऐसा भी नहीं बनता। यहाँ, स्व-पर को जानने की बात है।^१

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३८८

वह ज्ञान स्वयं को जानते हुए पर को जानता है। दोनों को युगपद् जानता है। कोई कहे कि उसने आत्मा को जाना और पर को नहीं जाना तो यह बात झूठी है। दर्पण में जो आम दिखाई देता है, वह दर्पण की स्वच्छता दिखाई देती है, वह प्रतिबिम्ब है। जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब एक साथ हैं; वैसे ही स्व का ज्ञान और ज्ञेयों का ज्ञान एक साथ होता है। साधक ऐसे केवलज्ञान की प्रतीति करता है।^१

जो अपनी पूर्ण पर्याय को नहीं जानता तो वह सर्व को नहीं जानता और जो सर्व को नहीं जानता वह अपनी पूर्ण पर्याय को नहीं जानता। एक समय में केवलज्ञान पूर्णतः स्व-पर को जानता है।^२

भगवान, लोकालोक को जानते हैं - वह व्यवहार से है और व्यवहार अभूतार्थ है, इसीलिए केवलज्ञान का पर को जानना अभूतार्थ है - ऐसा अज्ञानी कहता है; किन्तु परसंबंधी ज्ञान, स्वयं का है। स्व-पर प्रकाशक ज्ञान, स्वयं का स्वभाव है। केवलज्ञान लोकालोक को तन्मय होकर नहीं जानता; इसलिए केवलज्ञान पर को व्यवहार से जानता है - ऐसा कहा जाता है। अपने में तन्मय होकर जानता है, इसलिए (स्व को) निश्चय से जानता है - ऐसा कहा है।^३

तथा कोई कहे कि ज्ञान सविकल्प है और विकल्प का अर्थ दोष है; इसलिए ज्ञान में दोष है, तो यह भी भूल है। यहाँ सविकल्प का अर्थ भेद से है। सिद्ध का केवलज्ञान भी सविकल्प है अर्थात् वहाँ सविकल्प का अर्थ दोष नहीं, अपितु वह भेद सहित जानता है - यह है। मैं आत्मा हूँ - ऐसा भेद दर्शन नहीं करता। भेद करना यह ज्ञान का कार्य है। ज्ञान सर्व पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय को भेद करके जानता है, इसलिए वह साकार है।^४

यदि आत्मा पूर्ण पर्याय को नहीं जाने तो वह अनन्तों को नहीं जानता। एक जानने में आये और दूसरा जानने में नहीं आये - ऐसा नहीं होता।^५

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३८९

२. वही, पृष्ठ-३९१

३. वही, पृष्ठ-३९२

४. वही, पृष्ठ-३९२-३९३

५. वही, पृष्ठ-३९४

आत्मा को तो जाने, किन्तु लोकालोक जानने में न आवे - ऐसा नहीं होता तथा लोकालोक के छह द्रव्य जानने में आवें; किन्तु तू तुझे नहीं जाने - ऐसा भी नहीं होता। दोनों युगपद् हैं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब और बिम्ब दोनों का ज्ञान होता है; वैसे ही भगवान आत्मा ज्ञान-दर्पण के समान है।^१

गाथा ४८ में बताया है कि जो सर्व को नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता। अब इस (४९वीं) गाथा में कहते हैं कि अपने चिदानन्द स्वभाव के अवलम्बन से ज्ञान परिपूर्णता को प्राप्त होता है - ऐसी परिपूर्णता को जो नहीं जानता, वह सर्व को नहीं जानता।

यह जैन शासन का महा रहस्यपूर्ण स्वरूप है। तेरा स्वभाव ज्ञान है। जो स्वभाव है, वह अपूर्ण (अधूरा) नहीं होता और वह पराधीन भी नहीं होता। ऐसे पूर्ण स्वभाव के सन्मुख होकर, ज्ञायक का निर्णय करना ही सम्यग्दर्शन है। क्रमबद्ध का निर्णय, साततत्त्व की श्रद्धा, स्व-पर भेदविज्ञान और सर्वज्ञ का निर्णय इसमें आ जाता है।^२

अनन्त गुण-पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जानने की सहज प्रक्रिया यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्यायों सहित केवलज्ञानी आत्मा के केवलज्ञान में एकसाथ झलकते हैं, प्रतिबिम्बित होते हैं, ज्ञात होते हैं, जाने जाते हैं। इससे यह सहज ही सिद्ध होता है कि जिस केवलज्ञानी व्यक्ति ने अपनी केवलज्ञानपर्याय को जाना, उसके ज्ञान में केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित पदार्थ भी सहजभाव से जाने ही गये हैं। अतः यह कहना उचित ही है कि जो व्यक्ति सम्पूर्ण गुण-पर्यायों सहित स्वयं को जानता है; वह सभी पदार्थों को गुण-पर्यायों सहित जानता ही है और जो व्यक्ति स्वयं को सम्पूर्ण गुण-पर्यायों सहित नहीं जानता, वह अन्य सभी पदार्थों को भी नहीं जान सकता।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-१, पृष्ठ-३९५

२. वही, पृष्ठ-३९९

प्रवचनसार गाथा-५०-५१

‘जो सबको नहीं जानता, वह सर्वपर्यायों सहित स्वयं को भी नहीं जान सकता और जो स्वयं को नहीं जानता, वह सर्वगुण-पर्यायों सहित पर को भी नहीं जान सकता ।’

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट करने के उपरान्त अब इन गाथाओं में यह बताते हैं कि क्रम-क्रम से जाननेवाला ज्ञान नित्य, क्षायिक और सर्वगत नहीं होता; किन्तु जिनदेव का नित्य रहनेवाला क्षायिक ज्ञान सभी को अक्रम (युगपद्) से जानता है; इसलिए सर्वगत है ।

उक्त तथ्य को स्पष्ट करनेवाली गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं -

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।

तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं ।

जुगवं जाणदि जोणहं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥५१॥

(हरिगीत)

पदार्थ का अवलम्ब ले जो ज्ञान क्रमशः जानता ।

वह सर्वगत अर नित्य क्षायिक कभी हो सकता नहीं ॥५०॥

सर्वज्ञ जिन के ज्ञान का माहात्म्य तीनों काल के ।

जाने सदा सब अर्थ युगपद् विषम विविध प्रकार के ॥५१॥

यदि ज्ञानी का ज्ञान पदार्थों का अवलम्बन लेकर क्रमशः उत्पन्न होता हो तो वह ज्ञान नित्य नहीं है; क्षायिक नहीं है और सर्वगत भी नहीं है ।

सब क्षेत्रों के अनेकप्रकार के सभी विषम पदार्थों को जिनदेव का ज्ञान सदा एकसाथ जानता है । अहो! क्षायिकज्ञान का माहात्म्य अपार है ।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो ज्ञान क्रमशः एक-एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है; वह ज्ञान एक पदार्थ के अवलम्बन से उत्पन्न होकर दूसरे पदार्थ के अवलम्बन से नष्ट हो जाने से नित्य नहीं होता हुआ; कर्मोदय के कारण एक व्यक्तता को प्राप्त करके फिर अन्य व्यक्तता को प्राप्त करता है, इसलिए क्षायिक नहीं होता हुआ अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त होने में असमर्थ होने से सर्वगत नहीं है ।

वस्तुतः सर्वोत्कृष्टता का स्थानभूत क्षायिकज्ञान उत्कृष्ट महिमावंत है ।

जो ज्ञान एक साथ ही समस्त पदार्थों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तता है; टंकोत्कीर्ण न्याय से अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार स्थित होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है और समस्त व्यक्तता को प्राप्त कर लेने से जिसने स्व-परप्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है; वह ज्ञान विषम रहनेवाले अर्थात् असमानजातिरूप से परिणमित होनेवाले और अनंत प्रकारों के कारण विचित्रता को प्राप्त सम्पूर्ण पदार्थों के समूह को त्रिकाल में सदा जानते हुए, अक्रम से अनंत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त होने से जिसने अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है - ऐसा सर्वगत है ।”

तात्पर्य यह है कि पदार्थों को क्रम-क्रम से जाननेवाले क्षयोपशम ज्ञानी सर्वज्ञ नहीं हैं; अपितु सम्पूर्ण गुण-पर्यायों सहित सभी पदार्थों को एकसाथ जाननेवाले क्षायिकज्ञानी ही सर्वज्ञ हैं । यह सर्वज्ञता ही ज्ञान का स्वभाव है, स्वभाव परिणमन है, सदा रहनेवाली है; क्षयोपशम ज्ञानरूप अल्पज्ञता न तो सदा एक सी रहनेवाली ही है और न एकसाथ सबको जान ही सकती है ।

इसप्रकार यहाँ क्षायिकज्ञानरूप सर्वज्ञता की महिमा बताई गई है और क्षयोपशमज्ञानरूप अल्पज्ञता की अनित्यता, असारता स्पष्ट की गई है ।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं का निष्कर्ष निकालते हुए स्वयं प्रश्न उठाकर उत्तर देते हुए इसप्रकार मार्गदर्शन देते हैं -

“एकसाथ सम्पूर्ण पदार्थों को जाननेवाले ज्ञान से सर्वज्ञ होते हैं -
ऐसा जानकर क्या करना चाहिए ?

अज्ञानी जीवों के चित्त को चमत्कृत करने के कारण परमात्मभावना को नष्ट करनेवाले जो ज्योतिष, मंत्रवाद, रससिद्धि आदि एकदेशज्ञानरूप क्षयोपशमज्ञान हैं; तत्संबंधी आग्रह छोड़कर तीनलोक तीनकालवर्ती सम्पूर्ण वस्तुओं को एकसाथ प्रकाशित करनेवाले अविनश्वर, अखण्ड, एक प्रतिभासमय सर्वज्ञता की उत्पत्ति का कारणभूत, सम्पूर्ण रागादि विकल्प-जालरहित सहज शुद्धात्मा से अभेदरूप ज्ञान की भावना करनी चाहिए। - यह तात्पर्य है।”

इन गाथाओं में क्षयोपशमज्ञान की कमजोरियों को उजागर करते हुए उसके आश्रय से होनेवाले अहंकार का परिहार कर क्षायिकज्ञान की महिमा बताई गई है; क्योंकि अनंत अतीन्द्रियसुख की पूर्णतः प्राप्ति एकमात्र क्षायिकज्ञानवालों को ही होती है।

यहाँ क्षयोपशमज्ञान संबंधी तीन कमजोरियों को उजागर किया गया है। कहा गया है कि केवलज्ञान के समान वह नित्य नहीं है, क्षायिक नहीं है और सर्वगत भी नहीं है; इसलिए वह सभी को नहीं जान सकता, सम्पूर्ण पर्यायों सहित अपने को भी नहीं जान सकता। अनित्य होने से आज जितना ज्ञान हमें है; कल भी उतना ही रहेगा; इसकी कोई गारंटी नहीं।

क्षायिकज्ञान की तुलना में यह क्षयोपशमज्ञान अत्यन्त अल्प है, अस्पष्ट है, परोक्ष और नाशवान है। क्षायिकज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को उनके गुण-पर्यायों सहित एक समय में एक साथ जाननेवाला है, अत्यन्त स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है, नित्य एकरूप ही रहनेवाला है; अतः प्राप्त करने की दृष्टि से परम उपादेय है।

इसप्रकार इन गाथाओं में क्षयोपशमज्ञान की लघुता और क्षायिकज्ञान की महानता बताई गई है।

प्रवचनसार गाथा-५२

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञान क्षायोपशमिक होने से अनित्य है और क्रमिक ज्ञानवाला पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता; किन्तु अक्रम से प्रवर्तमान ज्ञान क्षायिक होने से नित्य है और अक्रमिक ज्ञानवाला पुरुष ही सर्वज्ञ हो सकता है।

अब ज्ञानाधिकार की इस अन्तिम गाथा में उपसंहार करते हुए कहते हैं कि केवलज्ञानी के ज्ञप्तिक्रिया के सद्भाव होने पर भी उन्हें क्रिया से होनेवाला बंध नहीं होता।

गाथा मूलतः इसप्रकार है।

ण वि परिणमदि ण गेणहदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्टेसु ।

जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

(हरिगीत)

सवार्थ जाने जीव पर उनरूप न परिणमित हो ।

बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो ॥५२॥

केवलज्ञानी आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उनरूप परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उन पदार्थों के रूप में उत्पन्न भी नहीं होता; इसलिए उसे अबंधक कहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र ज्ञानाधिकार के उपसंहार की इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ -

उदयगदा कम्मंसा जिनवरवसहेहिं णियदिया भणिया ।

तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥

जिनवरवृषभों ने कहा है कि संसारी जीवों के उदयगत कर्मांश नियम से होते हैं। उन कर्मांशों के होने पर जीव मोही, रागी और द्वेषी होता हुआ बंध का अनुभव करता है।

इसी प्रवचनसार की उक्त ४३ वीं गाथा में कहा है कि उदयगत पुद्गलकर्म के अंशों के अस्तित्व में चेतित होने पर, जानने पर, अनुभव करने पर मोह-राग-द्वेषरूप में परिणत होने से ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया के साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफलभूत बंध का अनुभव करता है; किन्तु ज्ञान से बंध नहीं होता।

इसप्रकार प्रथम ही अर्थपरिणमन क्रिया के फलरूप से बंध का समर्थन किया गया है।

तथा -

‘गेणहृदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।

पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं निरवसेसं ॥

केवली भगवान पर-पदार्थों को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं और न पररूप परिणमित ही होते हैं; वे तो निरवशेषरूप से सबको सर्व ओर से देखते-जानते हैं।

इसी प्रवचनसार की उक्त ३२ वीं गाथा में शुद्धात्मा के अर्थपरिणमनादि क्रियाओं का अभाव बताया गया है; इसलिए जो आत्मा पर-पदार्थरूप से परिणमित नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और उनरूप उत्पन्न नहीं होता; उस आत्मा के ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होने पर भी क्रियाफलभूत बंध सिद्ध नहीं होता।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका के समान ही निरूपण करते हुए अन्त में स्वसंवेदनज्ञान की प्रेरणा देते हुए लिखते हैं कि रागादि रहित ज्ञान बंध का कारण नहीं है - ऐसा जानकर रागादि रहित निर्विकार स्व-संवेदनज्ञान की ही भावना करनी चाहिए।

वस्तुतः इस गाथा में सम्पूर्ण ज्ञानाधिकार में प्रतिपादित विषयवस्तु का ही उपसंहार है; नया प्रमेय कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष यह है कि केवली भगवान ज्ञान को ही ग्रहण करते हैं, ज्ञानरूप ही परिणमित

होते हैं और ज्ञानरूप में ही उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार केवली भगवान के प्राप्य, विकार्य और निवृत्त्य - तीनों कर्म ज्ञान ही हैं, ज्ञानरूप ही हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान ही उनका कर्म है और ज्ञप्ति ही उनकी क्रिया है।

ज्ञप्तिक्रिया बंध का कारण नहीं है, अपितु ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया अर्थात् ज्ञेयपदार्थों के सम्मुख वृत्ति होना ही बंध का कारण है। केवली भगवान के ज्ञप्तिक्रिया होने पर भी ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया नहीं है; इसकारण उन्हें बंध नहीं होता।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को चार छन्दों में इसप्रकार समझाते हैं -

(मनहरण)

शुद्ध ज्ञानरूप सरवंग जिनभूप आप,

सहज-सुभाव-सुखसिंधु में मगन है।

तिन्हें परवस्तु के न जानिवे की इच्छा होत,

जातैं तहाँ मोहादि विभाव की भगन है।

तातैं पररूप न प्रनवै न गहन करै,

पराधीन ज्ञान की न कबहूँ जगन है ॥

ताही तैं अबंध वह ज्ञानक्रिया सदाकाल,

आतमप्रकाश ही में जास की लगन है ॥२२६॥

हे जिनराज ! आप शुद्धज्ञानरूप हैं, सहजस्वाभाविक सुखसागर में मग्न हैं; आपको परवस्तुओं को जानने की भी इच्छा नहीं है; क्योंकि आपके मोहादि विकारीभाव नष्ट हो गये हैं। इसकारण आप न तो पररूप परिणमित होते हैं और न पर को ग्रहण ही करते हैं तथा आपको पराधीन इन्द्रियज्ञान भी नहीं है। इसीकारण ज्ञानक्रिया के सदाकाल होते हुए भी आपको बंध नहीं होता; क्योंकि आपकी लगन सदा आत्मप्रकाशन में ही

लगी हुई है।

(दोहा)

क्रिया दोड़ विधि वरनई, प्रथम प्रज्ञप्ती जानि ।
 ज्ञेयारथपरिवरतनी, दूजी क्रिया बखानि ॥२२७॥
 अमलज्ञानदरपन विषै, ज्ञेय सकल झलकंत ।
 प्रज्ञप्ती है नाम तसु, तहां न बंध लसंत ॥२२८॥
 ज्ञेयारथपरिवरतनी, रागादिक जुत होत ।
 जैसो भावविकार तहँ, तैसो बंध उदोत ॥२२९॥

क्रियायें दो प्रकार की कही गई हैं। पहली क्रिया ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप क्रिया है और दूसरी क्रिया ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया है।

निर्मल ज्ञानदर्पण में सभी पदार्थ झलकते हैं। यह ज्ञप्तिपरिवर्तनरूप क्रिया है; इसके कारण बंध नहीं होता।

ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया रागादि भावों से युक्त होती है; इसकारण जहाँ जैसा विकारीभाव होता है; वहाँ वैसा ही बंध होता है।

इसप्रकार इस गाथा, उसकी टीकाओं और वृन्दावनदासजी के छन्दों में सबकुछ मिलाकर मात्र इतना ही कहा गया है कि वीतरागभावपूर्वक सहजभाव से होनेवाला पर-पदार्थों का ज्ञान बंध का कारण नहीं है; क्योंकि स्वपर को जानना तो आत्मा का सहजस्वभाव है; अतः किसी को भी जानना बंध का कारण कैसे हो सकता है ?

वस्तुतः बंध का कारण तो रागभाव है; इसकारण ज्ञेयार्थपरिणमनरूप क्रिया के कर्ता रागी-द्वेषी-मोही जीव बंध को प्राप्त होते हैं; किन्तु जिन वीतरागी भगवन्तों के ज्ञान में वीतरागभाव से सहज जानना होता रहता है; उनका वह ज्ञान बंध का कारण नहीं है। यही कारण है कि केवली भगवान को बंध नहीं होता।

इस अधिकार के अन्त में तत्त्वप्रदीपिका टीका के कर्ता आचार्य

अमृतचन्द्रदेव एक महत्त्वपूर्ण काव्य लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(स्रग्धरा)

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं ।
 मोहाभावाद्यदात्मना परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ।
 तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपांत-
 ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥४॥

(मनहरण कवित्त)

जिसने किये हैं निर्मूल घातिकर्म सब ।

अनंत सुख वीर्य दर्श ज्ञान धारी आतमा ॥

भूत भावी वर्तमान पर्याय युक्त सब ।

द्रव्य जाने एक ही समय में शुद्धात्मा ॥

मोह का अभाव पररूप परिणममें नहीं ।

सभी ज्ञेय पीके बैठा ज्ञानमूर्ति आतमा ॥

पृथक्-पृथक् सब जानते हुए भी ये ।

सदा मुक्त रहें अरिहंत परमात्मा ॥४॥

जिसने कर्मों को छेद डाला है - ऐसा यह आत्मा विश्व के समस्त पदार्थों को उनकी भूत, भावी और वर्तमान पर्यायों के साथ एकसाथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता; इसलिए अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी डाला है ज्ञेयाकारों को जिसने - ऐसा यह ज्ञानमूर्ति आत्मा तीनों लोकों के सभी पदार्थों के ज्ञेयाकारों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ कर्मबंधन से मुक्त ही रहता है।

उक्त छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि लोकालोक को जाननेवाला यह ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण सबको सहजभाव से जानते हुए भी कर्मबंध को प्राप्त नहीं होता।

वैसे तो आचार्य जयसेन भी 'ज्ञानाधिकार यहीं समाप्त हो गया है' - यह स्वीकार कर लेते हैं। इसका उल्लेख भी वे तात्पर्यवृत्ति टीका में स्पष्टरूप से करते हैं; तथापि अन्त में एक गाथा और जोड़ देते हैं; जो आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है।

इस गाथा में कोई नया प्रमेय उपस्थित नहीं किया गया है; अपितु यह गाथा एकप्रकार से अधिकार के अन्त में होनेवाले मंगलाचरणरूप गाथा ही है; क्योंकि तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त इसकी उत्थानिका में स्पष्ट उल्लेख है कि ज्ञानप्रपंच के व्याख्यान के उपरान्त अब ज्ञान के आधारभूत सर्वज्ञदेव को नमस्कार करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

तस्स णमाइं लो गो देवासुरमणुअरायसंबंधो ।

भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं ॥

(हरिगीत)

नमन करते जिन्हें नरपति सुर-असुरपति भक्तगण ।

मैं भी उन्हीं सर्वज्ञजिन के चरण में करता नमन ॥

जिन सर्वज्ञदेव को देवेन्द्र, असुरेन्द्र और बड़े-बड़े नरेन्द्र आदि भक्तगण सदा नमस्कार करते हैं; मैं भी उपयोग लगाकर भक्तिभाव से उन्हें नमस्कार करता हूँ।

इसकी टीका में आचार्य जयसेन भी कुछ विशेष न लिखकर सामान्यार्थ ही कर देते हैं।

इसप्रकार यह ज्ञानाधिकार यहाँ समाप्त होता है। इस ज्ञानाधिकार में शुद्धोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान अर्थात् क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान का स्वरूप विस्तार से समझाया गया है।

इस अधिकार में न केवल अतीन्द्रिय अनंतसुख के साथ प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रिय-ज्ञान के गीत गाये गये हैं, इसकी महिमा का गुणगान किया

गया है; अपितु सर्वज्ञता के स्वरूप पर गहराई से चिन्तन किया गया है, विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें ज्ञान के स्व-परप्रकाशक स्वभाव पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अतः जिन्हें सर्वज्ञता पर भरोसा नहीं है; किसी आत्मा का पर को जानना इष्ट नहीं है; अतः सर्वज्ञता भी इष्ट नहीं है; उन्हें इस प्रकरण पर गहराई से मंथन करना चाहिए।

सर्वज्ञता के ज्ञान और उस होनेवाली दृढ़ आस्था से पदार्थों के सुनिश्चित परिणमन की श्रद्धा भी जागृत होती है; जिसके फलस्वरूप अनंत आकुलता एक क्षण में समाप्त हो जाती है।

पदार्थों के क्रमनियमित परिणमन को गहराई से समझने के लिए भी सर्वज्ञता एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है।

इसप्रकार सर्वज्ञता को समर्पित यह क्रान्तिकारी अधिकार अत्यधिक स्वाभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निस्तर तत्त्वमथन की प्रक्रिया उपयोग और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार है। है, किन्तु तत्त्वमथनरूप विकल्पों से भी आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होगी; क्योंकि कोई भी विकल्प ऐसा नहीं जो आत्मानुभूति को प्राप्त करा दे।

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए समस्त जगत पर से दृष्टि हटानी होगी। समस्त जगत से आशय है कि आत्मा से भिन्न शरीर, कर्म आदि जड़ (अचेतन) द्रव्य तो 'पर' हैं ही, अपने आत्मा को छोड़कर अन्य चेतन पदार्थ भी 'पर' हैं तथा आत्मा में प्रति समय उत्पन्न होनेवाली विकारी-अविकारी पर्यायें (दशा) भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकतीं। उनसे भी परे अखण्ड त्रिकाली चैतन्य ध्रुव आत्मा-तत्त्व है, वही एकमात्र दृष्टि का विषय है, जिसके आश्रय से आत्मानुभूति प्रगट होती है, जिसे कि धर्म कहा जाता है।

- तीर्थ. महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-१३५

सुखाधिकार

(गाथा ५३ से गाथा ६८ तक)

प्रवचनसार गाथा-५३

प्रवचनसार परमागम के प्रथम महाधिकार ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन के अन्तर्गत आनेवाले शुद्धोपयोगाधिकार एवं ज्ञानाधिकार की चर्चा के उपरान्त अब सुखाधिकार की चर्चा आरंभ करते हैं।

प्रवचनसार की ५३वीं गाथा एवं सुखाधिकार की प्रथम गाथा में ज्ञान से अभिन्न सुख का स्वरूप बताते हुए ज्ञान तथा सुख के भेद एवं उनकी हेयोपादेयता बताते हैं।

मूल गाथा इसप्रकार है -

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदिंयं च अत्थेसु।

णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं॥५३॥

(हरिगीत)

मूर्त और अमूर्त इन्द्रिय अर अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख।

इनमें अमूर्त अतीन्द्रिय ही ज्ञान-सुख उपादेय हैं॥५३॥

पदार्थों में प्रवृत्त ज्ञान अमूर्त व मूर्त तथा अतीन्द्रिय व ऐन्द्रिय होता है। इसीप्रकार सुख भी अमूर्त-मूर्त और अतीन्द्रिय-ऐन्द्रिय होता है। इनमें जो प्रधान हैं; वे उपादेय हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“एक प्रकार के ज्ञान व सुख मूर्त व इन्द्रियज होते हैं और दूसरे प्रकार के ज्ञान व सुख अमूर्त व अतीन्द्रिय होते हैं। इनमें अमूर्त व अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख प्रधान होने से उपादेय हैं।

इसमें पहले (इन्द्रियजन्य) ज्ञान व सुख क्षायोपशमिक उपयोग शक्तियों

से उस-उसप्रकार की मूर्त इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होते हुए पराधीन होने से कदाचित्क, क्रमशः प्रवृत्त होनेवाले, सप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धि सहित हैं; इसलिए गौण हैं और इसीकारण हेय हैं, छोड़नेयोग्य हैं।

दूसरे (अतीन्द्रिय) ज्ञान व सुख चैतन्यानुविधायी एकाकार आत्म-परिणाम शक्तियों से तथाविध अमूर्त अतीन्द्रिय स्वाभाविक चिदाकार परिणामों के द्वारा उत्पन्न होते हुए अत्यन्त आत्माधीन होने से नित्य, युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धि रहित हैं; इसलिए मुख्य हैं और इसीकारण उपादेय हैं, ग्रहण करनेयोग्य हैं।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव का विवरण इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

“अमूर्त, क्षायिकी, अतीन्द्रिय, चिदानन्देक लक्षणवाली शुद्धात्म शक्तियों से उत्पन्न होने के कारण स्वाधीन और अविनश्वर होने से अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख उपादेय हैं और पूर्वोक्त अमूर्त शुद्धात्मशक्तियों से विरुद्ध लक्षणवाली क्षायोपशमिक इन्द्रियशक्तियों से उत्पन्न होने के कारण पराधीन और विनश्वर होने से इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख हेय हैं।”

इस गाथा के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“पुण्य-पाप की तो रुचि छोड़ने योग्य है ही; किन्तु इन्द्रिय के अवलम्बन से सापेक्ष ज्ञान करे, वह भी छोड़ने योग्य है - ऐसा यहाँ कहते हैं। जिसे सुखी होना हो अथवा धर्म करके शान्ति चाहिए हो, उसे पुण्य-पाप के विकल्प का व इन्द्रियों का तो आश्रय करने लायक नहीं है; किन्तु इन्द्रियज्ञान जो प्रगट है, उस ज्ञान का भी आश्रय करने योग्य नहीं है, अपितु अतीन्द्रिय ज्ञान आदरणीय है।”

जो ज्ञान, स्वभाव की तरफ झुका है, वह आदरणीय है। कर्म के उदय की बात तो एक तरफ रही, यहाँ तो कहते हैं कि जो ज्ञानपर्याय जड़ तरफ

झुकती है, वह ज्ञान (पर्याय) भी मिथ्या है, हेय है। स्वभाव तरफ झुकनेवाले ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।^१

यहाँ पूर्णज्ञान और पूर्णसुख की बात है। सर्वज्ञ का अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख पूर्ण है - ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि स्वभावसन्मुख होती है; उसे अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख आंशिक प्रगट होता है, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। जैसे अतीन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रियज्ञान - ऐसे दो प्रकार हैं; वैसे ही अतीन्द्रिय सुख और इन्द्रियसुख - ये दो प्रकार हैं। उसमें अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख उत्कृष्ट है। इसप्रकार उसकी उपादेयता जानना।^२

जैसे इन्द्रियज्ञान क्रम से प्रवर्तता है, युगपद् नहीं होता; वैसे ही इन्द्रिय सुख भी क्रम से प्रवर्तता है; युगपद् नहीं होता अर्थात् जब रूप के सुख की कल्पना होती है, तब स्पर्श के सुख की कल्पना नहीं होती। पर्याय बुद्धिवाला अंश का अवलम्बन करता है; इसीलिए उसे रस खाते समय जब रस का हर्ष होता है, उस समय उसे रूप का हर्ष नहीं होता और रूप के समय कमाई का हर्ष नहीं होता। इसप्रकार वह दुःख का ही अनुभव करता है।

वह पर तरफ का झुकाव एकान्त दुःख है और स्व तरह का झुकाव एकान्त सुख है। पर तरफ में एकान्त पराधीनता है, किंचित् भी सुख अथवा स्वाधीनता नहीं है।^३

आत्मा की पूर्णदशा होनेपर जानने में कुछ भी शेष (बाकी) नहीं रहता। अपूर्णदशा में स्पर्श, रस आदि में क्या होगा? - ऐसी देखने की आकुलता होती है; किन्तु पूर्णज्ञान होनेपर आकुलता नहीं रहती। इसप्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख उपादेय है - ऐसा निर्णय होनेपर रुचि स्वभाव तरफ झुकती है। इस आत्मा का ज्ञानस्वभाव कायमी है। उसकी पूर्णदशा अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख अंगीकार करने लायक है - ऐसा निर्णय करने जाय तो इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियसुख और इन्द्रियों के निमित्त की रुचि छूटकर स्वभाव तरफ का झुकाव होता है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३

२. वही, पृष्ठ-४

३. वही, पृष्ठ-७

आत्मा वस्तु है; उसका ज्ञान और आनन्द जिनकी पर्याय में प्रगट हुआ है - ऐसे केवली भगवान परिपूर्ण हैं - ऐसा निर्णय करने पर ज्ञानस्वभाव की उपादेयबुद्धि होती है तथा इन्द्रियज्ञान और विकार में सहज ही हेयबुद्धि हो जाती है।^१

अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख नित्य प्रवर्तमान निःप्रतिपक्ष और हानिवृद्धि से रहित है; इसलिए उपादेय है। केवलज्ञानी भगवान का ज्ञान और आनन्द सदृश रहता है; इसलिए उसे नित्य कहते हैं। वह बदलता तो है; किन्तु सदृश की अपेक्षा से उसे नित्य कहा है। इन्द्रिय आनन्द में एक के बाद एक कल्पना होती है; क्योंकि प्रतिष्ठा (आबरू) की और खाने की इच्छा क्रम-क्रम से होती है।^२

गाथा और उसकी टीकाओं में इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख को हेय तथा अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख को उपादेय सिद्ध किया गया है। अपने इस सफल प्रयास में उन्होंने अनेक हेतु प्रस्तुत किए हैं।

इन्द्रियज्ञान व इन्द्रियसुख पराधीन हैं; क्योंकि इन्द्रियज्ञान को कर्मों के क्षयोपशम की व प्रकाशादि की अधीनता है और इन्द्रियसुख को भोगसामग्री की पराधीनता है। अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख पूर्णतः स्वाधीन हैं; क्योंकि अतीन्द्रियज्ञान में इन्द्रियों और प्रकाशादि की पराधीनता नहीं है और अतीन्द्रियसुख में भोगसामग्री संबंधी पराधीनता नहीं है।

इसीप्रकार इन्द्रियज्ञान व इन्द्रियसुख कभी-कभी होते हैं, क्रमशः होते हैं, प्रतिपक्ष सहित हैं और हानि-वृद्धि सहित भी हैं; किन्तु अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रियसुख सदा रहने से नित्य हैं, एकसाथ प्रवृत्त होते हैं, प्रतिपक्ष से रहित हैं और हानि-वृद्धि से भी रहित हैं। यही कारण है कि इन्द्रियज्ञान व इन्द्रियसुख हेय हैं और अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रियसुख उपादेय हैं। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१७

२. वही, पृष्ठ-१८

प्रवचनसार गाथा-५४

विगत ५३वीं गाथा में यह कहा गया है कि ज्ञान और सुख मूर्त भी होते हैं और अमूर्त भी होते हैं तथा वे ज्ञान व सुख ऐन्द्रिय भी होते हैं और अतीन्द्रिय भी होते हैं। इनमें मूर्त व ऐन्द्रिय ज्ञान और सुख हेय हैं और अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख उपादेय हैं।

अब इस ५४वीं गाथा में अतीन्द्रियसुख के साधनभूत अतीन्द्रियज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है।

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छणं।

सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥५४॥

(हरिगीत)

अमूर्त को अर मूर्त में भी अतीन्द्रिय प्रच्छन्न को।

स्व-पर को सर्वार्थ को जाने वही प्रत्यक्ष है ॥५४॥

देखनेवाले आत्मा का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय पदार्थों को और प्रच्छन्न पदार्थों को तथा स्व और पर - सभी को देखता है, जानता है; वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“स्व-पर में समाहित अमूर्त पदार्थ, मूर्त में अतीन्द्रिय पदार्थ और प्रच्छन्न (गुप्त) पदार्थों को अतीन्द्रियज्ञान अवश्य ही देखता-जानता है।

अमूर्त में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि; मूर्त पदार्थों में अतीन्द्रिय परमाणु आदि; प्रच्छन्न में - द्रव्य से प्रच्छन्न कालद्रव्यादि, क्षेत्र से प्रच्छन्न अलोकाकाश के प्रदेश आदि, काल से प्रच्छन्न भूतकाल व भविष्यकालीन पर्यायें तथा भाव से प्रच्छन्न में स्थूल पर्यायों में अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें - ये

सब जो कि स्व और पर में विभक्त हैं; इन सबको अतीन्द्रियज्ञान जानता है; क्योंकि वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान है।

जिसे अनंतशुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ - ऐसे चैतन्य सामान्य के साथ अनादिसिद्ध संबंधवाले एक ही अक्ष अर्थात् आत्मा के प्रति जो नियत है, अन्य इन्द्रियादि सामग्री को नहीं खोजता और अनंतशक्ति के सद्भाव के कारण अनन्तता को प्राप्त है; उस प्रत्यक्षज्ञान को उपर्युक्त समस्त पदार्थों को जानते हुए कौन रोक सकता है ?

जिसप्रकार दाह्याकार, दहन (अग्नि) का अतिक्रमण नहीं करते; उसीप्रकार ज्ञेयाकार, ज्ञान का अतिक्रमण नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि सभी ज्ञेय अतीन्द्रियज्ञान में प्रत्यक्ष हैं ही।”

यद्यपि आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि वे इस गाथा की टीका में एक ऐसा प्रश्न उपस्थित करते हैं; जो प्रायः सभी पाठकों के हृदय में सहजभाव से उत्पन्न होता है।

वह प्रश्न यह है कि जब ज्ञानाधिकार समाप्त हो गया और सुखाधिकार आरंभ हो गया तो फिर यहाँ ज्ञान की चर्चा क्यों की जा रही है, यहाँ तो सुख की चर्चा की जानी चाहिए।

मेरे चित्त में भी यह प्रश्न अनेकबार उपस्थित हुआ है और बहुत कुछ मंथन के उपरान्त मैं इसी निर्णय पर पहुँचा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने मूल ग्रंथ में तो अधिकारों का वर्गीकरण किया नहीं; अधिकारों का वर्गीकरण तो टीकाकारों ने किया है। आचार्य कुन्दकुन्द तो सहजभाव से एकधारा में ही प्रतिपादन करते गये हैं; अतः उनके चित्त में ऐसा प्रश्न उपस्थित ही नहीं हुआ कि सुखाधिकार में ज्ञान की चर्चा क्यों ?

आचार्य जयसेन को आचार्य अमृतचन्द्रकृत वर्गीकरण उपलब्ध था और उन्होंने भी थोड़े-बहुत फेरफार के साथ लगभग उसी वर्गीकरण को स्वीकार कर लिया।

इस गाथा की टीका में उक्त प्रश्न उठाकर उन्होंने जो समाधान प्रस्तुत किया है; वह इसप्रकार है -

“यहाँ शिष्य कहता है कि ज्ञानाधिकार तो पहले ही समाप्त हो गया, यह तो सुखाधिकार चल रहा है, इसमें तो सुख की ही चर्चा करना चाहिए; फिर भी यहाँ ज्ञान की चर्चा क्यों की जा रही है ?

शिष्य की शंका का समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जो अतीन्द्रियज्ञान पहले कहा गया है, वही अभेदनय से सुख है - ऐसा बताने के लिए यहाँ ज्ञान की बात की है। अथवा ज्ञानाधिकार में ज्ञान की मुख्यता होने से हेयोपादेय का विचार नहीं किया था; अतः ज्ञान व सुख में हेयोपादेय बताने के लिए यहाँ सुख के साथ ज्ञान की भी चर्चा कर रहे हैं।”

उक्त गाथा व टीकाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी ने एक ही छन्द में सुन्दरतरुमरूप में प्रस्तुत किया है; जो इसप्रकार है -

(मनहरण कवित्त)

जाकी ज्ञानप्रभा में अमूर्तिक सर्व दर्व,

तथा जे अतीन्द्रीगम्य अनु पुद्गल के ।

तथा जे प्रछन्न द्रव्य क्षेत्र काल भाव चार,

सहितविशेष वृन्द निज निज थल के ॥

और निज आतम के सकल विभेद भाव,

तथा परद्रव्यनि के जेते भेद ललके ।

ताही ज्ञानवंत को प्रतच्छस्वच्छ ज्ञान जानो,

जामें ये समस्त एक समै ही मैं झलके ॥५॥

उसी ज्ञानवंत का ज्ञान अत्यन्त स्वच्छ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष जानना; जिसकी ज्ञानज्योति में सम्पूर्ण अमूर्तिक पदार्थ तथा मूर्तिक पुद्गल के अतीन्द्रियज्ञानगम्य परमाणु अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव सहित झलकते हैं, जानने में आते हैं तथा अपने आत्मा के भी विभेद अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव झलकते हैं, एकसमय में एकसाथ जानने में आते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“पूर्ण आनन्द का कारण केवलज्ञान है, दूसरी वस्तु नहीं; क्योंकि यहाँ ज्ञान के साथ आनन्द सिद्ध करना है। केवलज्ञान अमूर्त पदार्थ तथा अतीन्द्रिय मूर्त पदार्थ को देखता है। धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त वस्तु को केवलज्ञानी जानते हैं और जो अप्रगट पदार्थ हैं, उन्हें भी जानते हैं।

यहाँ कोई कहता है कि केवलज्ञानी भगवान पर को जानते हैं, वह अभूतार्थ है तो यह बात असत्य है। पर संबंधी अपना ज्ञान भूतार्थ है। ज्ञान पर में प्रवेश किए बिना जानता है; इसलिए व्यवहारनय से लोकालोक को जानते हैं - ऐसा शास्त्र में कहा है।

अज्ञानी कहता है कि लोकालोक का जानपना अभूतार्थ है; किन्तु यह बात असत्य है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति है।^१

केवलज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सहित सूक्ष्मता से जानता है। अमूर्त - ऐसे जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि और मूर्त पदार्थों में एक, दो, तीन, चार पृथक् सूक्ष्म परमाणु को भगवान जानते हैं। जीव की पर्याय कहाँ होगी और कौन होगी, उसे जानते हैं तथा किस पुद्गल की कौन-सी पर्याय कैसी होगी, उसे भी भगवान जानते हैं।^२

जैसे जलनेयोग्य पदार्थ अग्नि का उल्लंघन नहीं करते, वैसे ही जगत के जाननेयोग्य पदार्थ पूर्ण ज्ञानदशा में ज्ञात हो जाते हैं। केवलज्ञान सभी को जान लेता है। जो ज्ञान पर्याय आत्मा के साथ जुड़कर पूर्ण दशारूप हुई है, उसके प्रभाव को कौन रोक सकता है? इसप्रकार केवलज्ञान अतीन्द्रिय आनन्द का कारण है, इसलिए वह उपादेय है।^३”

उक्त सम्पूर्ण मंथन का सार यह है कि अतीन्द्रियज्ञान (क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान) में सभी स्व-पर और मूर्त-अमूर्त पदार्थ अपनी सभी स्थूल-सूक्ष्म पर्यायों के साथ एक समय में ही जानने में आते हैं। ●

प्रवचनसार गाथा-५५-५६

विगत गाथा में यह बताया गया था कि अतीन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रियसुख का साधन है; अतः उपादेय है और अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियसुख का साधन है और अपने विषयों में भी एकसाथ प्रवृत्ति नहीं करता है; इसलिए हेय है।

गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं -

जीवो सयं अमुक्तो मुक्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।

आगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि ॥५५॥

फासो रसो य गंधो वण्णो सहो य पोग्गला होंति ।

अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

(हरिगीत)

यह मूर्ततनगत जीव मूर्तपदार्थ जाने मूर्त से।

अवग्रहादिकपूर्वक अर कभी जाने भी नहीं ॥५५॥

पौद्गलिक स्पर्श रस गंध वर्ण अर शब्दादि को।

भी इन्द्रियाँ इक साथ देखो ग्रहण कर सकती नहीं ॥५६॥

स्वयं अमूर्त होकर भी यह जीव मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ, उस मूर्त शरीर के द्वारा जाननेयोग्य मूर्त पदार्थों को अवग्रहादि पूर्वक जानता है अथवा नहीं जानता है। तात्पर्य यह है कि शरीरधारी जीव मूर्त पदार्थों को अवग्रहादि पूर्वक कभी जानता है और कभी जानता भी नहीं है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द पुद्गल हैं। वे इन्द्रियों के विषय हैं; परन्तु वे इन्द्रियाँ उन्हें भी एकसाथ ग्रहण नहीं करतीं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के विषय भी इन्द्रियों द्वारा एकसाथ जानने में नहीं आते।

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“इन्द्रियज्ञान में उपलम्भक (जानने में सहयोगी इन्द्रियाँ) भी मूर्त हैं और उपलभ्य (जानने में आनेवाले पदार्थ) भी मूर्त हैं।

स्वयं अमूर्त होने पर भी यह इन्द्रियज्ञानवाला जीव पंचेन्द्रियात्मक मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ, जानने में निमित्तभूत उपलम्भक मूर्त शरीर के द्वारा जाननेयोग्य स्पर्शादिवान मूर्त वस्तुओं को अवग्रहरूप जानता है, उससे आगे शुद्धि के सद्भावानुसार कदाचित् ईहादिरूप जानता भी है और कदाचित् शुद्धि के अभाव में नहीं जानता; क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्ष है।

परोक्षज्ञान परमार्थतः अज्ञान में गिने जानेयोग्य है; क्योंकि आत्मा का चैतन्यसामान्य के साथ अनादिसिद्धसंबंध होने पर भी अतिदृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रंथि द्वारा आवृत्त आत्मा पदार्थों को स्वयं जानने में असमर्थ होने से प्राप्त और अप्राप्त परपदार्थरूप सामग्री को खोजने की व्यग्रता से अत्यन्त चंचल व अस्थिर होता हुआ और अनंतशक्ति से च्युत होने से घबराया हुआ, महामोहमल्ल के जीवित होने से पर को परिणमित करने के अभिप्राय से पद-पद पर ठगाया जाता है। अतः परोक्षज्ञान हेय है।

यद्यपि स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले पुद्गल इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करनेयोग्य हैं; तथापि वे इन्द्रियों द्वारा एकसाथ ग्रहण नहीं किये जा सकते; क्योंकि क्षयोपशम की उसप्रकार की शक्ति नहीं है।

इन्द्रियों की क्षायोपशमिक अंतरंग ज्ञातृशक्ति कौवे की पुतली के समान क्रमिक प्रवृत्तिवाली होने से एक ही साथ अनेक विषयों को जानने में असमर्थ है; इसलिए द्रव्येन्द्रियों के विद्यमान होने पर भी इन्द्रियों के विषयों का समस्त ज्ञान एकसाथ नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“हे प्रभु ! तेरी अन्तर निधि ज्ञान और आनंद से भरपूर है; इसे न

देखकर वह मानता है कि यदि मैं इन्द्रियाँ, मन और प्रकाश आदि को अनुकूल रखूँ तो ज्ञान का विकास होता है, जिससे वह पर को देखने में निरन्तर सावधानी रखता है, जिसमें स्वाधीनता लुट जाती है। मैं चैतन्य-स्वभावी आत्मा हूँ, उसे भूलकर क्षेत्र अनुकूल हो तो ज्ञान का विकास होता है, इन्द्रियाँ बराबर (ठीक) रहें तो अच्छा हो - ऐसा मूढ़ मिथ्यादृष्टि मानता है।^१

स्वभाव का माहात्म्य करे और इन्द्रियाँ, मन, प्रकाशादि के साथ संबंध रखनेवाले मूर्त ज्ञान का माहात्म्य छोड़े तो शांति होती है। पर्यायवान की पर्याय है, वह ज्ञान की पर्याय ज्ञानवान आत्मा में से आती है, प्रगट होती है। उसके बदले निमित्त में से ज्ञान पर्याय प्रगट करना चाहे तो वह मिथ्यात्व है, अज्ञान है।^२

इन्द्रियज्ञान इन्द्रियप्रकाश आदि बाह्यसामग्री को ढूँढ़ने की व्यग्रता (अस्थिरता) के कारण अतिशय चंचल-क्षुब्ध है तथा अल्पशक्तिवान होने से खेदखिन्न है। पर-पदार्थों को परिणामित कराने का अभिप्राय होने से वह पद-पद पर ठगाया जाता है।^३

इन्द्रियज्ञान एक ही पदार्थ के इन्द्रियगम्य अनेक विषयों को एक ही साथ नहीं जान सकता अर्थात् जब वह रंग को जानता है, तब गंध को नहीं जानता तथा जब काले रंग को जानता है, तब वह सफेद रंग को नहीं जानता - ऐसी ही इस क्षयोपशम की इसप्रकार की शक्ति है। इसीलिए वह खण्ड-खण्ड ज्ञान पराधीन है, हेय है।^४

इन्द्रियज्ञान स्पर्श आदि पदार्थ को क्रम से जानता है। मुख्य ऐसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द और उनके अन्तर्गर्भित अनेक भेद हैं; जैसे ठंडा-गर्म लगता है, वह स्पर्श है; खट्टा-मीठा लगता है, वह रस है; सुगन्ध-

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३६

३. वही, पृष्ठ-३७

२. वही, पृष्ठ-३७

४. वही, पृष्ठ-४०

दुर्गन्ध गंध है, लाल-पीला वर्ण है तथा जो शब्द हैं, उन्हें जड़-इन्द्रियों द्वारा जान सकता है; किन्तु इन्द्रियों द्वारा उन पदार्थों को एकसाथ नहीं जान सकता; क्योंकि जब स्वाद के ऊपर लक्ष्य होता है, तब रूप के ऊपर लक्ष्य नहीं होता; इसप्रकार इन्द्रियज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञान है।

ज्ञान का विकास होने पर भी वह एक ही साथ पाँचों इन्द्रियों के विषयों को नहीं जान सकता। जब रूप की तरफ ख्याल (लक्ष्य) जाता है, तब शब्द के ऊपर लक्ष्य नहीं होता और शब्द का ख्याल करने जाय, वहाँ रूप को भूल जाता है। इसप्रकार इन्द्रियज्ञान खण्ड-खण्ड ज्ञान है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।^१

द्रव्य-इन्द्रियरूपी द्वार तो पाँच हैं; किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान से एकसमय में एक इन्द्रियद्वार से ही जाना जा सकता है। एकसाथ पाँचों इन्द्रियों द्वारा ज्ञान कार्य नहीं करता। यदि उपयोग रस के स्वाद में हो तो पास से सर्प भी चला जाय तो खबर नहीं होती। रायबहादुर का खिताब मिला हो, उससमय बिच्छू भी काट जाय तो ख्याल नहीं आता।^२

रूप, शब्द, प्रशंसा का शौकीन होने पर भी एकसाथ में एक ही विषय का ज्ञान काम करता है, इसलिए अज्ञानी उनमें झपट्टा मारता है। स्थूलदृष्टि से देखने पर एक ही साथ जानता है - ऐसा लगता है; किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर क्षायोपशमिक ज्ञान एकसमय में एक ही इन्द्रिय द्वारा प्रवर्तित होता हुआ स्पष्टरूप से भासित होता है; इसलिए निमित्त की अपेक्षा रखकर होनेवाला ज्ञान आदरणीय नहीं है।

इन्द्रियज्ञान पराधीन है, इसलिए वह आदरणीय नहीं है। इन्द्रियाँ दुश्मन हैं, वे जड़ हैं; आत्मा चेतन है। शरीर पुद्गल होने से रूपी है और आत्मा अरूपी है, शरीर अपवित्र है और आत्मा पवित्र है; इसप्रकार समझकर

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-४१

२. वही, पृष्ठ-४२

३. वही, पृष्ठ-४४

उनके साथ नाता तोड़कर आत्मा के साथ नाता करना चाहिए। इन्द्रियज्ञान परोक्ष है; इसलिए हेय है।^१”

वस्तुतः बात यह है कि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान है; उसके जानने में बहुत-सी मर्यादायें हैं। एक तो वह अपने क्षयोपशम के अनुसार ही जान सकता है; दूसरे वह एकसमय एक इन्द्रिय के विषय में ही प्रवृत्त होता है।

यद्यपि हमें ऐसा लगता है कि हम सभी इन्द्रियों के विषयों को एकसाथ जान रहे हैं; तथापि ऐसा होता नहीं है। इस बात को समझाने के लिए यहाँ कौए की आँख की पुतली का उदाहरण दिया है।

कौए की आँखें तो दो होती हैं; किन्तु पुतली उन दोनों आँखों में मिलाकर एक ही होती है। वह एक पुतली दोनों आँखों में आती-जाती रहती है, उसका आना-जाना इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें पता ही नहीं चलता कि पुतली एक है या दो।

इसीप्रकार इन्द्रियों के विषयों में हमारा उपयोग इतनी शीघ्रता से घूमता रहता है कि हमें ऐसा लगता है कि हम एकसाथ जान रहे हैं। वस्तुतः होता यह है कि हम एक-एक इन्द्रियों के विषयों में क्रमशः ही प्रवृत्त होते हैं।

परोक्षभूत इन्द्रियज्ञान एकप्रकार से पराधीन ज्ञान है; क्योंकि इसे प्रकाश आदि बाह्यसामग्री के सहयोग की आवश्यकता होती है; इसकारण परोक्ष ज्ञानियों को व्यग्रता बनी रहती है, उनका उपयोग चंचल और अस्थिर बना रहता है; अल्पशक्तिवान होने से वे खेदखिन्न होते रहते हैं तथा पर-पदार्थ को अपनी इच्छानुसार परिणमाने के अभिप्राय पद-पद पर ठगाये जाते हैं। इसलिए इन्द्रियज्ञान एकप्रकार से अज्ञान ही है; इसीकारण हेय भी है।

इन गाथाओं का भाव आचार्य जयसेन भी लगभग इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं तथा इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करने के लिए कविवर वृन्दावनदासजी ने १४ छन्द लिखे हैं, जो मूलतः पठनीय हैं। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-४५

प्रवचनसार गाथा-५७-५८

विगत गाथाओं में यह कहा था कि इन्द्रियसुख का साधन होने से और अपने विषयों में भी एकसाथ प्रवृत्त न होने से इन्द्रियज्ञान हेय है और अब इन गाथाओं में इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्षज्ञान नहीं है, परोक्षज्ञान है - यह बताते हुए परोक्षज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान का स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं -

गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं -

परदब्बं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।

उवलब्धं तेहि कथं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥५७॥

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु ।

जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

(हरिगीत)

इन्द्रियाँ परद्रव्य उनको आत्मस्वभाव नहीं कहा ।

अर जो उन्हीं से ज्ञात वह प्रत्यक्ष कैसे हो सके ? ॥५७॥

जो दूसरों से ज्ञात हो बस वह परोक्ष कहा गया ।

केवल स्वयं से ज्ञात जो वह ज्ञान ही प्रत्यक्ष है ॥५८॥

वे इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं। उन्हें आत्मस्वभावरूप नहीं कहा है। उनके द्वारा ज्ञात ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

पर के द्वारा होनेवाला जो पदार्थों का ज्ञान है, वह परोक्ष कहा गया है। जो मात्र जीव के द्वारा ही जाना जाय, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“वस्तुतः वह ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है, जो केवल आत्मा के प्रति नियत हो। यह इन्द्रियज्ञान तो आत्मस्वभाव का किञ्चित् भी स्पर्श नहीं करनेवाली आत्मा से भिन्न अस्तित्ववाली परद्रव्यरूप इन्द्रियों द्वारा होता है; इसलिए यह इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

निमित्तभूत परद्रव्यरूप इन्द्रियाँ, मन, परोपदेश, उपलब्धि (ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम), संस्कार या प्रकाश आदि के द्वारा होनेवाला स्व-विषयभूत पदार्थों का ज्ञान पर के द्वारा होने से परोक्ष कहा जाता है और अंतःकरण, इन्द्रियाँ, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार या प्रकाश आदि सभी परद्रव्यों की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके सभी द्रव्य और उनकी सभी पर्यायों में एकसमय में ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष कहा जाता है। यहाँ इस गाथा में यही अभिप्रेत है कि सहजसुख का साधनभूत यह महाप्रत्यक्षज्ञान (केवलज्ञान) ही उपादेय है।”

यहाँ महाप्रत्यक्ष शब्द प्रयोग सकल प्रत्यक्ष अर्थात् सर्वदेश प्रत्यक्ष के अर्थ में ही किया गया है।

शास्त्रों में अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना गया है; पर ये दोनों ज्ञान मात्र रूपी पदार्थ को ही जानते हैं, पुद्गल को ही जानते हैं, आत्मा को नहीं। अतः ये प्रत्यक्षज्ञान सहजसुख के साधन नहीं।

पर के सहयोग बिना आत्मा सहित लोकालोक को जाननेवाला केवलज्ञान ही सहजसुख का साधन है। यह बताने के लिए ही यहाँ महाप्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है।

इन गाथाओं का भाव आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में तत्त्वप्रदीपिका टीका के अनुसार ही स्पष्ट करते हैं।

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनलालजी प्रवचनसार परमागम में तीन छन्दों में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

(सवैया)

जे परदरबमई हैं इन्द्री, ते पुद्गल के बने बनाव ।
चिदानंद चिद्रूप भूप को, यामें नाहीं कहूँ सुभाव ।।
तिन करि जो जानत है आतम, सो किमि होय प्रतच्छ लखाव ।

पराधीन तातैं परोच्छ यह, इन्द्रीजनित ज्ञान ठहराव ।।२०।।
जो परद्रव्यरूपी इन्द्रियाँ हैं, वे सब पुद्गल की रचना हैं। उनमें चैतन्य राजा का कुछ भी स्वभाव नहीं है। उनके निमित्त से आत्मा को जो जानकारी होती है; वह प्रत्यक्ष किसप्रकार हो सकती है? क्योंकि वह इन्द्रियजनित ज्ञान पराधीन होने से परोक्ष ही ठहरता है।

(मत्तगयन्द)

पुद्गलदर्वमई सब इन्द्रिय, तासु सुभाव सदा जड़ जानो ।
आतम को तिहुँकाल विषैं, निते चेतनवंत सुभाव प्रमानो ।।
तौ यह इन्द्रियज्ञान कहो, किहि भाँति प्रतच्छ कहाँ ठहरानो ।
तातैं परोच्छ तथा परतंत्र, सु इन्द्रियज्ञान भनौ भगवानो ।।२१।।
सभी इन्द्रियाँ पुद्गलद्रव्यमय ही हैं; इसकारण उनका स्वभाव जड़ ही जानना चाहिए और आत्मा तो त्रिकाल चेतनस्वभावी ही है। ऐसी स्थिति में यह इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष किस रूप में कहा जा सकता है? यही कारण है कि भगवान ने इन्द्रियज्ञान को पराधीन और परोक्ष कहा है।

(मनहरण कवित्त)

पर के सहायतैं जो वस्तु में उपजै ज्ञान,
सोई है परोच्छ तासु भेद सुनो कानतैं ।
जथा उपदेश वा छयोपशम लाभ तथा,
पूर्व के अभ्यास वा प्रकाशादिक भानतैं ।।
और जो अकेले निज ज्ञान ही तैं जानैं जीव,
सोइ है प्रतच्छ ज्ञान साधित प्रमानतैं ।
जातैं यह पर की सहाय विन होत वृन्द,
अतिन्द्रिय आनंद को कंद अमलानतैं ।।२२।।
पर की सहायता से जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है और वह उपदेश, क्षयोपशम, प्रकाश एवं पूर्वाभ्यास से होता है। जो जीव अकेले अपने

ज्ञान से जानता है, वह ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जाता है – यह बात प्रमाणसिद्ध है। पर की सहायता के बिना होनेवाला यह निर्मल प्रत्यक्षज्ञान अतीन्द्रिय आनंद के कंदरूप है, अतीन्द्रिय आनन्दमयी है।

इन गाथाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“पाँचों इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं। वे इन्द्रियाँ आत्मा के स्वभाव को स्पर्श नहीं करतीं। भगवान आत्मा अपने स्वभाव से भरा है। इन्द्रियों में आत्म-स्वभाव बिल्कुल भी नहीं है।^१

जो ज्ञान की पर्याय इन्द्रिय का अवलम्बन लेकर काम करे; वह ज्ञान किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; इसलिए वह सुखरूप भी नहीं हो सकता।^२

पाँच इन्द्रियों का उघाड़ होने पर भी, एक इन्द्रिय का उघाड़ ही काम करता है; इसलिए निर्णय कर कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव है – ऐसी अंतर श्रद्धा, ज्ञान और लीनता से केवलज्ञानी होता है।^३

जो सीधा आत्मा के द्वारा ही जानता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रियज्ञान तो परद्रव्यरूप इन्द्रियों के द्वारा जानता है; इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है।^४

इन्द्रिय के अवलम्बन से जो कार्य होता है, वह दुःखरूप और पराधीन है। इन्द्रिय के निमित्त से जो ज्ञान का कार्य होता है, वह परोक्ष है और जो आत्मसापेक्ष ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है – यह बात यहाँ चलती है।^५”

इन गाथाओं में सबकुछ मिलाकर मात्र इतना ही कहा गया है कि इन्द्रियाँ, प्रकाश, क्षयोपशमरूप लब्धि, संस्कार आदि परद्रव्यों के सहयोग से होनेवाला ज्ञान परोक्षज्ञान है और पर के सहयोग बिना सीधा आत्मा से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है। पराधीनता का सूचक परोक्षज्ञान अतीन्द्रिय सुख का कारण नहीं हो सकता; अतीन्द्रियसुख का कारण तो अतीन्द्रिय

१. प्रत्यक्षज्ञान ही है।

२. वही, पृष्ठ-४७

३. वही, पृष्ठ-४९

४. वही, पृष्ठ-४९

५. वही, पृष्ठ-४९

प्रवचनसार गाथा-५९

विगत गाथा में परोक्षज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान का स्वरूप बताया गया है और इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि परमार्थ सुख की प्राप्ति तो प्रत्यक्षज्ञान वाले को ही होती है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।

रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एंगंतियं भणिदं ॥५९॥

(हरिगीत)

स्वयं से सर्वांग से सर्वार्थग्राही मलरहित।

अवग्रहादि विरहित ज्ञान ही सुख कहा जिनवरदेव ने ॥५९॥

सर्वात्मप्रदेशों से अपने आप ही उत्पन्न, अनंत पदार्थों में विस्तृत, विमल और अवग्रहादि से रहित ज्ञान एकान्ततः सुख है – ऐसा कहा गया है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“चारों ओर से, स्वयं उत्पन्न होने से, अनंत पदार्थों में विस्तृत होने से, विमल होने से, अवग्रहादि से रहित होने से प्रत्यक्षज्ञान एकान्तिक सुख है – यह निश्चित होता है; क्योंकि एकमात्र अनाकुलता ही सुख का लक्षण है।

पर से उत्पन्न होने से पराधीनता के कारण, असमंत होने से अन्य द्वारों से आवरित होने के कारण, मात्र कुछ पदार्थों को जानने से अन्य पदार्थों को जानने की इच्छा के कारण, समल होने से असम्यक् अवबोध के कारण और अवग्रहादि सहित होने से क्रमशः होनेवाले पदार्थ ग्रहण के खेद के कारण परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुल है, इसलिए वह परमार्थ सुख

नहीं है।

यह प्रत्यक्षज्ञान पूर्णतः अनाकुल है; क्योंकि यह प्रत्यक्षज्ञान अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर महाविकास से व्याप्त होकर स्वतः स्वयं से उत्पन्न होने से स्वाधीन है; समस्त आत्मप्रदेशों से प्रत्यक्ष ज्ञानोपयोगरूप होकर व्याप्त होने से इसके सभी द्वार खुले रहते हैं; समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से परम विविधता में व्याप्त रहने से अनंत पदार्थों में विस्तृत है; इसलिए सर्व पदार्थों को जानने की इच्छा का अभाव है; सकलशक्ति को रोकनेवाले कर्मसामान्य के निकल जाने से अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश से प्रकाशमान स्वभाव में व्याप्त होने से विमल है; इसकारण सबको सम्यक् रूप से जानता है तथा जिन्होंने अपने त्रैकालिक स्वरूप को युगपद समर्पित किया है - ऐसे लोकालोक में व्याप्त होकर रहने से अवग्रहादि से रहित है, इसलिए होनेवाले पदार्थग्रहण के खेद से रहित है।

इसप्रकार उपर्युक्त पाँच कारणों से प्रत्यक्षज्ञान अनाकुल है और इसीकारण प्रत्यक्षज्ञान पारमार्थिक सुखस्वरूप है।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के अनुसार ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इस गाथा के भाव को इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

(मनहरण कवित्त)

ऐसो ज्ञान ही को सुख नाम जिनराज कह्यो,

जौन ज्ञान आपने सुभाव ही सों जगा है।

निरावर्नताई सरवंग जामें आई औ जु,

अनंते पदारथ में फैलि जगमगा है ॥

विमल सरूप है अभंग सरवंग जाको,

जामें अवग्रहादि क्रिया को क्रम भगा है।

सोई है प्रतच्छ ज्ञान अतिंद्री अनाकुलित,

याही तैं अतिंद्रियसुख याको नाम पगा है ॥२३॥

जो ज्ञान अपने स्वभाव से ही जागृत हुआ है, सर्वांग निरावरण होने से जो ज्ञान अनंत पदार्थों में फैल कर जगमगा रहा है, सर्वांग अभंग निर्मल स्वरूप है जिसका और जिसमें अवग्रहादि का क्रम समाप्त हो गया है; वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान अनाकुल होने से स्वयं ही सुखस्वरूप है और उसी का नाम अतीन्द्रिय सुख है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“परोक्ष और प्रत्यक्षज्ञान दोनों ही प्रमाणज्ञान हैं। इसमें प्रत्यक्षज्ञान आदरणीय है और परोक्षज्ञान आदर करने लायक नहीं है।^१

परोक्षज्ञान है, वह सच्चाज्ञान है; किन्तु आदरणीय नहीं; क्योंकि इसमें इन्द्रिय की अपेक्षा आती है और उसमें आकुलता होती है।^२

सही ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, उसमें दो भाग क्यों हैं? - ऐसा कोई प्रश्न पूछे तो उसका समाधान - दोनों ज्ञान सही हैं; किन्तु आत्मा ज्ञान-स्वभावी है - ऐसा स्वतरफ झुका हुआ ज्ञान आदरणीय है और जो ज्ञान इन्द्रिय द्वारा अर्थात् दुश्मन द्वारा होता है, वह परोक्ष है और छोड़ने लायक है।

यहाँ तो इन्द्रियज्ञान को मोहवाला-आकुलतावाला-संशयवाला कहा है। परतरफ के लक्ष्यवाला ज्ञान भेदवाला है; इसलिए वह आदरणीय नहीं है - ऐसा कहा है। इन्द्रियज्ञान पराधीन, क्रमिक और मलिन होने से दुःखदायक है; इसलिए वह हेय है।^३

प्रत्यक्षज्ञान परमार्थतः सुखरूप है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है, उसकी पर्याय इन्द्रिय की सापेक्षता करके ज्ञान करे, वह परोक्षज्ञान प्रमाण

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-५७

२. वही, पृष्ठ-५७

३. वही, पृष्ठ-५८

४. वही, पृष्ठ-६३

होने पर भी आदर करने लायक नहीं है। ज्ञानसामान्यस्वभाव के ऊपर तैरनेवाला केवलज्ञान अंगीकार करनेयोग्य है; यह बात यहाँ चलती है।^४”

उक्त गाथा और उसकी टीकाओं में पाँच कारणों से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान को अनाकुल और पारमार्थिक सुखस्वरूप कहा है।

जिनके कारण अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान को पूर्णतः अनाकुल और पारमार्थिक सुखस्वरूप कहा है; वे पाँच कारण इसप्रकार हैं -

प्रथम तो वह अतीन्द्रियज्ञान स्वाधीन है; इसकारण निराकुल है; दूसरे उसके जानने के सम्पूर्ण द्वार खुले हुए हैं, इसकारण निराकुल है; तीसरे सभी पदार्थों को जान लेने से किसी को भी जानने की इच्छा न रहने से निराकुल है; चौथे सभी को संशयादि रहित जानने के कारण विमल होने से निराकुल है और पाँचवें सभी को एकसाथ जान लेने के कारण क्रमशः होनेवाले पदार्थों के ग्रहण से होनेवाले खेद से रहित होने के कारण निराकुल है।

इसप्रकार उक्त पाँच कारणों से अनाकुल होने के कारण प्रत्यक्षज्ञान परमार्थतः सुखस्वरूप ही है।

इसके विरुद्ध परोक्षज्ञान पराधीन होने से आकुलतामय है, अन्य द्वारों के अवरुद्ध होने के कारण आकुलतामय है, पूर्णज्ञान न होने से शेष पदार्थों को जानने की इच्छा के कारण आकुलित है, समल होने से संशयादि के कारण आकुलित है और अवग्रहादि पूर्वक जानने के कारण क्रमशः जानने के खेद से आकुलित है।

इसप्रकार उक्त पाँच कारणों से परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुलित होने से सुखस्वरूप नहीं है।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान अर्थात् केवलज्ञान अतीन्द्रिय सुखस्वरूप होने से उपादेय है और इन्द्रियज्ञानरूप परोक्षज्ञान सुखस्वरूप नहीं होने से हेय है।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख हेय है और अतीन्द्रिय

प्रवचनसार गाथा-६०

विगत गाथा में जोर देकर यह कहा था कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान अर्थात् केवलज्ञान पारमार्थिक सुखस्वरूप है और अब इस गाथा में उक्त कथन में आशंका व्यक्त करनेवालों का समाधान कर रहे हैं।

इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्रदेव स्वयं लिखते हैं कि ‘केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा खेद हो सकता है; इसकारण केवलज्ञान एकान्तिकसुख नहीं है’ - अब इस मान्यता का खण्डन करते हैं-

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।

खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥

(हरिगीत)

अरे केवलज्ञान सुख परिणाममय जिनवर कहा ।

क्षय हो गये हैं घातिया रे खेद भी उसके नहीं ॥६०॥

जो केवल नाम का ज्ञान है अर्थात् केवलज्ञान है, वह सुख है, परिणाम भी वही है और उसे खेद नहीं कहा है; क्योंकि घातिकर्म क्षय को प्राप्त हो गये हैं।

तत्त्वप्रदीपिका टीका में उक्त गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं -

“यहाँ केवलज्ञान के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि खेद क्या है, परिणाम क्या है तथा केवलज्ञान और सुख में व्यतिरेक (भेद) क्या है कि जिसके कारण केवलज्ञान को एकान्तिक सुखत्व न हो?

प्रथम तो खेद के आयतन घातिकर्म हैं, केवल परिणाम नहीं। घातिकर्म महामोह के उत्पादक होने से धतूरे की भाँति अतत् में तत्बुद्धि धारण कराके आत्मा को ज्ञेयपदार्थों के प्रति परिणमन कराते हैं, ज्ञेयार्थपरिणमन

कराते हैं; इसकारण वे घातिकर्म प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो-
होकर थकनेवाले आत्मा के लिए खेद के कारण होते हैं। घातिकर्मों का
अभाव होने से केवलज्ञान में खेद कहाँ से होगा ?

दूसरे चित्रित दीवार की भाँति त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों के ज्ञेयाकार
रूप अनन्तस्वरूप स्वयमेव परिणमित होने से केवलज्ञान स्वयं ही परिणाम
है; इसकारण अन्य परिणाम कहाँ है कि जिससे खेद की उत्पत्ति हो ?

तीसरे वह केवलज्ञान समस्त स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण
निरंकुश अनंतशक्ति के उल्लिसित होने से समस्त त्रैकालिक लोकालोक
के आकार में व्याप्त होकर कूटस्थतया अत्यंत निष्कंप है; इसकारण आत्मा
से अभिन्न सुखलक्षणभूत अनाकुलता को धारण करता हुआ केवलज्ञान
स्वयं ही सुख है; इसलिए केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक कहाँ है ?

इसलिए यह सर्वथा अनुमोदन करनेयोग्य है कि केवलज्ञान एकान्तिक
सुख है।”

इस गाथा के भाव को भी आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य
अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका के अनुसरण पर ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इस गाथा के भाव
को दो छन्दों में व्यक्त करते हैं; जिसमें पहला छन्द इसप्रकार है -

(मत्तगयन्द)

केवल नाम जो ज्ञान कहावत है सुखरूप निराकुल सोई ।
ज्ञायकरूप वही परिणाम न खेद कहूँ तिन्हि के मधि होई ॥
खेद को कारण घातिय कर्म सो मूलतैं नाश भयो मल धोई ।
यातैं अतिन्द्रिय ज्ञान सोई सुख है निहचै नहिं संशय कोई ॥२४॥

जो केवल नाम का ज्ञान है, वह निराकुल सुखरूप है। वह परिणाम
ज्ञायकरूप है और उसमें रंचमात्र भी खेद नहीं है; क्योंकि खेद का कारण
तो घातिया कर्म हैं, जो केवली भगवान के जड़मूल से नष्ट हो गये हैं;

इसलिए निश्चय से वह अतीन्द्रियज्ञान सुखस्वरूप ही है, सुख ही है।
इसमें रंचमात्र भी संशय नहीं है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार
स्पष्ट करते हैं-

“केवलज्ञान का काल एकसमय का है। दूसरे समय वह नाश को
प्राप्त हो जाता है और नया उत्पन्न होता है।”

केवलज्ञान को बारम्बार बदलना पड़ता है; इसलिए खेद होता होगा
- ऐसा कोई पूछता है तो उसका समाधान करने के लिए कहते हैं कि
केवलज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, भेद करके जानना है, इसलिए
विकल्प है। विशेषरूप स्व-परप्रकाशक आकाररूप है; किन्तु राग के
विकल्पपरहित है।”

केवली भगवान को स्व-परप्रकाशक ज्ञान है। वहाँ भी ज्ञान का
परिणामन होता है; किन्तु वह खेददायक नहीं है। निचलीदशा में क्रम से
पलटना होता है; इसलिए वह खेददायक है। केवली भगवान को अतीन्द्रिय
आनन्दवाला ज्ञान है, उसमें खेद नहीं होता।”

जिसने धतूरा पिया हो उसे सफेद पदार्थ पीला लगता है; वैसे ही
घातिकर्म के निमित्त से जीव अतत् में तत् बुद्धि करता है। वस्तु, जिस
स्वरूप नहीं होती, वैसी मान्यता करता है और पुण्य-पाप के भाव जो
दुःखरूप हैं, उसमें सुखबुद्धि करता है, जो मिथ्यात्व का कारण है।”

जैसे दीवार चित्रित होती है, वैसे ही केवलज्ञान में सभी चित्रित हो
गया है। इसप्रकार अनन्तस्वरूप स्वयमेव परिणमित होने से केवलज्ञान ही
परिणाम है।”

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-६८

२. वही, पृष्ठ-६८

४. वही, पृष्ठ-७१

३. वही, पृष्ठ-६८

५. वही, पृष्ठ-७५

केवलज्ञान सर्वथा अपरिणामी नहीं; परन्तु वह एक ज्ञेय से अन्य की तरफ पलटता नहीं। सर्वज्ञ तीनोंकाल के ज्ञेयाकारों को जानते हैं तथा ऐसे के ऐसे परिणामन किया करते हैं।

यह केवलज्ञान आत्मा से अभिन्न है, इसलिए सुख के लक्षणभूत अनाकुलता को धारण करने से केवलज्ञान को ही सुख कहा है। ज्ञान और सुख दोनों ही जुदा-जुदा गुण हैं। ज्ञान सुखरूप नहीं होता; किन्तु केवलज्ञान प्रगट होने पर अविनाभावरूप से सुख प्रगट होता है; इसलिए केवलज्ञान में ही सुख कहा है। इसप्रकार केवलज्ञान और सुख को व्यतिरेक कहाँ है?²

यहाँ कहते हैं कि केवलज्ञान एकान्तिक सुख है - यह सर्वथा अनुमोदन करनेयोग्य है; किन्तु चार ज्ञान - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान अनुमोदन करनेयोग्य नहीं है; क्योंकि ये चारों ज्ञान अपूर्ण पर्यायें हैं।³

परिणाम केवलज्ञान का स्वरूप है; इसलिए केवलज्ञान को परिणाम द्वारा खेद नहीं होता तथा आत्मा की ज्ञानदशा अंतरस्वभाव के अवलम्बन से पूर्णरूप हुई है। उस केवलज्ञान का परिणामन स्वभाव है।⁴

इसप्रकार केवलज्ञान और अनाकुलता का अविनाभाव संबंध है; इसलिए केवलज्ञान और सुख भिन्न नहीं है तथा केवलज्ञान समय-समय बदलता है; फिर भी उसमें उपाधि नहीं है। केवलज्ञान निष्कम्प, स्थिर, अनाकुल है; इसलिए केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है।⁵”

केवलज्ञानी सुखी कैसे हो सकते हैं; क्योंकि उन्हें तो अनंत पदार्थों को जानने का काम करना है? केवलज्ञान भी परिणाम है; अतः वह एक समय बाद स्वयं नाश को प्राप्त होगा। अगले समय होनेवाले केवलज्ञान को फिर सभी पदार्थों को जानना होगा। इसप्रकार प्रतिसमय निरंतर सबको

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-७५-७६

२. वही, पृष्ठ-७६

३. वही, पृष्ठ-७८

४. वही, पृष्ठ-७९

जानने का काम करनेवाला केवलज्ञानी निराकुल कैसे हो सकता है? इतना काम करनेवाले को थकान भी तो हो सकती है।

केवलज्ञान का स्वरूप न समझनेवाले और मतिश्रुतज्ञान के समान ही केवलज्ञान माननेवालों के चित्त में उक्तप्रकार की आशंकार्यें सहज ही उत्पन्न हो सकती हैं।

उक्त आशंकाओं का निराकरण करते हुए इस गाथा और उसकी टीकाओं में यह कहा गया है कि -

मात्र परिणामन, थकावट या दुख का कारण नहीं है; किन्तु घातिकर्मों के निमित्त से होनेवाला परोन्मुखपरिणामन - ज्ञेयार्थपरिणामन थकावट या दुख का कारण है। घातिकर्मों का अभाव होने से केवलज्ञानी को थकावट या दुख नहीं है। अनंतशक्ति के धारक केवलज्ञानी को थकावट का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता।

परिणामन केवलज्ञान का स्वभाव है, स्वरूप है; विकार नहीं, उपाधि नहीं। परिणामनस्वभाव का अभाव होने पर तो केवलज्ञान की सत्ता ही संभव नहीं है। इसप्रकार परिणाम (परिणामन) केवलज्ञान का सहजस्वरूप होने से उसे परिणाम के द्वारा खेद नहीं हो सकता।

त्रैकालिक लोकालोक को, समस्त ज्ञेयसमूह को सदा अडोलरूप से जानता हुआ अत्यन्त निष्कंप केवलज्ञान पूर्णतः अनाकुल होने से अनंतसुख स्वरूप है।

इसप्रकार केवलज्ञान और अनाकुलता भिन्न-भिन्न न होने से केवलज्ञान और सुख अभिन्न ही हैं।

इसप्रकार घातिकर्मों के अभाव के कारण, परिणाम उपाधि न होने के कारण और अनन्तशक्ति सम्पन्न निष्कंप होने के कारण केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है।

प्रवचनसार गाथा-६१-६२

विगत गाथाओं में यह कहते आ रहे हैं कि अतीन्द्रियज्ञान अर्थात् केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है, अतीन्द्रियसुखस्वरूप ही है; अब उसी बात का उपसंहार करते हुए उसकी श्रद्धा करने की प्रेरणा देते हैं।

गाथार्ये मूलतः इसप्रकार हैं -

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्टमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥६१॥
णो सद्वहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥६२॥

(हरिगीत)

अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है।

हैं नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं ॥६१॥

घातियों से रहित सुख ही परमसुख यह श्रवण कर।

भी न करें श्रद्धा अभवि भवि भाव से श्रद्धा करें ॥६२॥

केवलज्ञानी का ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त है, दर्शन लोकालोक में विस्तृत है, सर्व अनिष्ट नष्ट हो चुके हैं और जो इष्ट हैं, वे सब प्राप्त हो गये हैं; इसकारण केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है।

जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं; उनका सुख परमोत्कृष्ट है - ऐसा वचन सुनकर भी अभव्य श्रद्धा नहीं करते और भव्य उक्त बात को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हैं।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सुख का कारण स्वभाव प्रतिघात का अभाव है। आत्मा का स्वभाव दर्शन-ज्ञान है। केवलज्ञानी के उनके प्रतिघात का अभाव है; क्योंकि दर्शन

लोकालोक में विस्तृत होने से और ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त होने से दर्शन-ज्ञान स्वच्छन्दतापूर्वक विकसित हैं। इसप्रकार स्वभाव के प्रतिघात के अभाव के कारण सुख अभेद विवक्षा से केवलज्ञान का स्वरूप है।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान सुख ही है; क्योंकि सर्व अनिष्टों का नाश हो गया है और सम्पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो चुकी है।

केवलज्ञान की अवस्था में सुखप्राप्ति के विरोधी दुखों के साधनभूत अज्ञान का सम्पूर्णतया नाश और सुख के साधनभूत पूर्णज्ञान का उत्पाद इस बात की गारंटी है कि केवलज्ञान सुख ही है। अधिक विस्तार से क्या लाभ है ?

इस लोक में मोहनीय आदि कर्मजालवालों के स्वभाव प्रतिघात के कारण और आकुलता के कारण सुखाभास होने पर भी उस सुखाभास को सुख कहने की अपारमार्थिक रूढ़ि है और जिनके घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं; उन केवली भगवान के स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण और अनाकुलता के कारण सुख के वास्तविक कारण और लक्षण का सद्भाव होने से पारमार्थिक सुख है - ऐसी श्रद्धा करनेयोग्य है।

जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है; वे मोक्षसुख से दूर रहनेवाले अभव्य मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते हैं; अनुभव करते हैं और जो उक्त वचनों को तत्काल स्वीकार करते हैं; वे मोक्षलक्ष्मी के पात्र आसन्नभव्य हैं और जो आगे जाकर दूर भविष्य में स्वीकार करेंगे, वे दूरभव्य हैं।”

आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रवचनसार की सरोज भास्कर टीका में ६१वीं गाथा की टीका करते हुए लिखा है कि अन्तराय और मोहनीय अनिष्ट हैं और अनंतवीर्य और अनंतसुख इष्ट हैं।

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में ६१वीं गाथा का अर्थ तो तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही करते हैं; किन्तु उन्हें ६२वीं गाथा की टीका के अर्थ में कुछ विशेष स्पष्टीकरण अभीष्ट है; क्योंकि यह कैसे

संभव है कि जो लोग अभी उक्त कथन पर श्रद्धा नहीं करते, वे भविष्य में भी श्रद्धा नहीं करेंगे। अतः अभी श्रद्धा न करनेवालों को मिथ्यादृष्टि तो कहा जा सकता है, पर अभव्य कहना संभव नहीं है ?

वस्तुतः स्थिति यह है कि जो अभी श्रद्धा नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि हैं और जो न तो अभी श्रद्धा करते हैं और न कभी भी श्रद्धा करेंगे, वे अभव्य हैं।

गाथा और तत्त्वप्रदीपिका टीका का भी यही भाव है और उसी का विशेष स्पष्टीकरण आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इसप्रकार करते हैं -

“वे जीव वर्तमान समय में सम्यक्त्वरूपी भव्यत्व की प्रगटता का अभाव होने से अभव्य कहे जाते हैं; वे सर्वथा अभव्य नहीं हैं।

जो जीव वर्तमान काल में सम्यक्त्वरूप भव्यत्व की प्रगटतारूप से परिणमित हैं; वे भव्य उस अनन्तसुख की अभी श्रद्धा करते हैं और जो जीव सम्यक्त्वरूप भव्यत्व की प्रकटतारूप से भविष्य में परिणमित होंगे; वे दूरभव्य आगे श्रद्धान करेंगे।

जिसप्रकार कोतवाल द्वारा मारने के लिए पकड़े गये चोर को मरण अच्छा नहीं लगता; उसीप्रकार सराग सम्यग्दृष्टि को इन्द्रियसुख इष्ट नहीं है, तथापि कोतवाल के समान चारित्र मोहनीय के उदय से मोहित होता हुआ आत्मनिन्दा आदिरूप से परिणत वह सराग सम्यग्दृष्टि राग रहित अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न सुख को प्राप्त नहीं करता हुआ हेयरूप से उसका अनुभव करता है और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि शुद्धोपयोगी हैं, उनको मछलियों को भूमि पर आने के समान अथवा अग्निप्रवेश के समान निर्विकार शुद्धात्मसुख से च्युत होना भी दुख प्रतीत होता है।

कहा भी है कि जिसप्रकार मछलियों को जब भूमि ही जलाती है, तो फिर अंगारों की बात ही क्या करना; वे तो जलावेंगे ही; उसीप्रकार समतासुख का अनुभव करनेवाले मनुष्य को समता से च्युत होना ही

अच्छा नहीं लगता है तो फिर पंचेन्द्रिय विषय-भोगों की तो बात ही क्या है; वे उनमें कैसे रम सकते हैं ?”

इसीप्रकार कविवर वृन्दावनदासजी ६१वीं गाथा के भाव को तो गाथा और टीकाओं के अनुसार ही चार छन्दों में बाँधते हैं; पर ६२वीं गाथा के भाव को दो छन्दों में अपने ही तरीके से प्रस्तुत करते हैं; जिसमें पहला छन्द इसप्रकार है -

(माधवी)

जिनको यह घातियकर्म विघाति कै, केवल जोति अनन्त फुरी है।
सुख में उतकिष्ट अतीन्द्रिय सौख्य, तिन्हें सरवंग अभंग पुरी है।।
तिसको न अभव्य प्रतीति करैं, पुनि दूर हु भव्य की बुद्धि दुरी है।
यह बात वही शरधा धरि हैं, जिनके भव की थिति आनि जुरी है।।३०।।

जिन केवली भगवान के घातिकर्मों के अभाव से केवलज्ञान की अनन्त ज्योति स्फुरायमान हुई है; उनको उत्कृष्ट अखण्ड अतीन्द्रियसुख सर्वांग प्रगट हुआ है। अभव्यों को तो इस बात का विश्वास ही नहीं होता और दूरभव्यों की बुद्धि में भी यह बात जल्दी आनेवाली नहीं है; उन्हें इस बात का विश्वास करने में अभी बहुत समय बाकी है। इस बात की श्रद्धा तो वे ही जीव करते हैं कि जिनके संसार सागर का किनारा निकट आ गया है।

‘जिनको इस बात का विश्वास नहीं है, वे अभव्य हैं और अभव्यों को इस बात का विश्वास नहीं होता’ - उक्त दोनों वाक्यों के भाव में बहुत अन्तर है। प्रथम वाक्य से तो ऐसा लगता है कि जिन्हें उक्त बात में अभी विश्वास नहीं है, वे अभव्य हैं - यह कहा जा रहा है। जबकि दूसरे वाक्य में साफ-साफ कहा है कि अभव्यों को उक्त बात पर श्रद्धा नहीं होती।

कविवर वृन्दावनदासजी ने बड़ी ही समझदारी से दूसरे प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया है; जो ध्यान देनेयोग्य है; क्योंकि अभव्यों को तो उक्त बात कभी स्वीकार होगी ही नहीं - यह बात तो निरापद सत्य है; परन्तु

जिनको इस बात का विश्वास नहीं है, वे अभव्य हैं - इसमें प्रश्नचिह्न लग सकता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“केवलज्ञान इष्ट है और अज्ञान, राग-द्वेष अनिष्ट हैं, जिनका उन्हें नाश हुआ है। कोई भी पर-पदार्थ अथवा कर्म अनिष्ट नहीं है। कर्म तो जड़ हैं। पूर्ण ज्ञानपर्याय इष्ट है, इसके सिवाय कोई दूसरा इष्ट है ही नहीं।^१”

केवलज्ञान ने सर्व पदार्थों के पार को पा लिया है और केवलदर्शन लोकालोक में विस्तृत है। केवली भगवान को सर्व अनिष्ट अर्थात् अज्ञान और राग-द्वेष का नाश हुआ है और इष्ट अर्थात् पूर्णज्ञान प्राप्त हुआ है; इसलिए केवलज्ञान सुखस्वरूप है।^२

केवलज्ञान में स्वभाव के प्रतिघात का अभाव है, इसलिए केवलज्ञान सुखस्वरूप है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन है। केवलदर्शा में दर्शन-ज्ञान के प्रतिघात का अभाव है; क्योंकि दर्शन लोकालोक में विस्तृत है और ज्ञान ने पदार्थों के पार को प्राप्त किया है।^३

पूर्णज्ञान होने पर अनाकुलता जिसका लक्षण है, वह सुख प्रगट होता है। यद्यपि ज्ञान और सुख पृथक् गुण हैं, पर अभेद विवक्षा से ज्ञान ही सुख है।^४”

६१वीं गाथा में मात्र यह कहा गया है कि केवलज्ञानी के सर्व अनिष्ट नष्ट हो गये हैं और लोकालोक को देखने-जानने की सामर्थ्य प्रगट हो चुकी है; इसकारण वे पूर्णसुखी, अनन्तसुखी हैं और ६२वीं गाथा का भाव यह है कि उक्त अनन्तसुखी केवलज्ञानी की श्रद्धा अभव्यों को नहीं होती, नहीं हो सकती तथा दूरभव्यों को भी इसकी श्रद्धा कम से कम अभी होना तो संभव नहीं है; किन्तु जो निकटभव्य हैं; उन्हें सर्वज्ञ भगवान की श्रद्धा अल्पकाल में ही होगी। तात्पर्य यह है कि जिन्हें सर्वज्ञ भगवान की श्रद्धा है; वे तो निकटभव्य हैं ही।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-९१

२. वही, पृष्ठ-८२

३. वही, पृष्ठ-८४

४. वही, पृष्ठ-८५

प्रवचनसार गाथा-६३-६४

अबतक यह बताते आ रहे थे कि केवलज्ञानी के स्वाभाविक सुख है, अतीन्द्रिय आनन्द है; वे अनन्तसुखी हैं और अब आगामी गाथाओं में यह बता रहे हैं कि मति-श्रुतज्ञानवालों के इन्द्रियज्ञानवालों के जो इन्द्रियसुख देखने में आता है; वह सुख है ही नहीं; वह तो नाम का सुख है। परोक्षज्ञानी वस्तुतः तो दुखी ही हैं।

गाथार्ये मूलतः इसप्रकार हैं -

मणुआसुरामरिंदा अहिद्हुदा इन्दिएहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥
जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सबभावं ।
जइ तं ण हि सबभावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

(हरिगीत)

नरपती सुरपति असुरपति इन्द्रियविषयदवदाह से ।
पीड़ित रहें सह सके ना रमणीक विषयों में रमें ॥६३॥
पंचेन्द्रियविषयों में रती वे हैं स्वभाविक दुःखीजन ।
दुःख के बिना विषयविषय में व्यापार हो सकता नहीं ॥६४॥

चक्रवर्ती, असुरेन्द्र और सुरेन्द्र सहज इन्द्रियों से पीड़ित रहते हुए उन दुखों को सहन न कर पाने से रम्य विषयों में रमण करते हैं।

जिन्हें विषयों में रति है; उन्हें दुख स्वाभाविक जानो; क्योंकि यदि वे दुखी न हों तो विषयों में व्यापार न हो।

इन गाथाओं के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“प्रत्यक्षज्ञान के अभाव में परोक्षज्ञान का आश्रय लेनेवाले इन प्राणियों को परोक्षज्ञान की सामग्रीरूप इन्द्रियों के प्रति निजरस से ही मैत्री देखी जाती है।

इन्द्रियों के प्रति मैत्री को प्राप्त उन प्राणियों को उदयप्राप्त महामोहरूपी कालाग्नि ने ग्रास बना लिया है; इसलिए उन्हें तप्त लोहे के गोले की भाँति अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हुई है; उस दुख के वेग को सहन न कर सकने के कारण उन्हें व्याधि के प्रतिकार के समान रम्य विषयों में रति उत्पन्न होती है; इसलिए इन्द्रियाँ व्याधि के समान और विषय व्याधि के प्रतिकार के समान होने से छद्मस्थों के पारमार्थिक सुख नहीं है।

जिनकी हत (निकृष्ट) इन्द्रियाँ जीवित हैं, उन्हें उपाधि के कारण दुख नहीं है, संयोगों के कारण दुख नहीं है; अपितु उनका दुख स्वाभाविक ही है; क्योंकि उनकी विषयों में रति देखी जाती है।

जिसप्रकार हाथी हथिनीरूपी कुट्टनी के शरीर के स्पर्श की ओर, मछली बंसी में फंसे हुए मांस के स्वाद की ओर, भ्रमर बन्द जो जानेवाले कमल की गंध की ओर, पतंगे दीपक की ज्योति के रूप की ओर तथा हिरण शिकारी के संगीत के स्वर की ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं; उसीप्रकार दुर्निवार इन्द्रियवेदना के वशीभूत होते हुए वे यद्यपि विषयों का नाश अति निकट है; तथापि विषयों की ओर दौड़ते दिखाई देते हैं।

यदि 'उनका दुख स्वाभाविक है' - ऐसा स्वीकार न किया जाय तो जिसप्रकार जिसका शीतज्वर उपशान्त हो गया है, वह पसीना लाने के लिए उपचार करता; जिसका दाहज्वर उतर गया है, वह कांजी से शरीर के ताप को उतारता, जिसकी आँख का दुख दूर हो गया है, वह वटाचूर्ण आँजता, जिसका कर्ण शूल नष्ट हो गया है, वह कान में बकरे का मूत्र डालता दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार इन्द्रियसुखवालों के दुख नहीं हो तो उनके इन्द्रिय विषयों में व्यापार देखने में नहीं आना चाहिए; किन्तु उनके विषय प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं; ऐसे परोक्षज्ञानियों के दुख स्वाभाविक ही है।”

उक्त गाथाओं और उसकी टीका में यह बात सिद्ध की गई है कि पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले विषय-भोगों में रंचमात्र भी सुख नहीं है; अपितु

वे दुखरूप ही हैं। गाथा में तो यहाँ तक लिखा है कि अपार भोग-सामग्री से सम्पन्न चक्रवर्ती, असुरेन्द्र और सुरेन्द्र भी दुखी हैं; क्योंकि वे अपने दुखों को दूर करने के लिए रमणीक विषयों में रमण करते हैं।

यदि वे दुखी नहीं होते तो उनकी विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती। यहाँ पाँच इन्द्रियों संबंधी पाँच उदाहरण देकर यह बताया गया है कि जब एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर प्राणी इतने दुख उठाते हैं तो फिर जो पाँचों इन्द्रियों के आधीन हैं; उनके दुखों की तो बात ही क्या करना ?

हाथी स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर कुट्टनी हथिनी के पीछे भागता हुआ गड्ढे में गिरकर जीवनभर को गुलाम बन जाता है, मछली रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर अपना कंठ छिदाकर मरण को प्राप्त होती है, गंध का लोभी भौरा कमल में बंद होकर जान गंवा देता है, रूप के लोभी पतंगे दीपक की ज्योति पर जल मरते हैं और संगीत के लोभी हिरण शिकारी द्वारा मार दिये जाते हैं। इसप्रकार एक-एक इन्द्रियों के आधीन प्राणियों की दुर्दशा देखकर यह विचार करना चाहिए कि पाँचों इन्द्रियों के गुलामों को सुखी कैसे कहा जा सकता है ?

दूसरे उदाहरणों से भी यह सिद्ध किया गया है कि वे दुखी ही हैं।

कहा जाता है कि बकरे की पेशाब कान में डालने से कान का दर्द ठीक हो जाता है। यह तो आप जानते ही हैं कि जो वस्तु कान में डाली जाती है, वह गले के माध्यम से मुँह में भी आ जाती है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा कि जो महानिंद मल-मूत्र को अपने कान में डालेगा; किन्तु जब कान में भयंकर दर्द होता है तो अशुद्धता का विचार किये बिना लोग ऐसा भी करते देखे जाते हैं।

जिसप्रकार बकरे की पेशाब को कान में डलवाना इस बात का प्रतीक है कि उसे भयंकर पीड़ा हो रही है; उसीप्रकार पंचेन्द्रिय विषयों की गंदी से गंदी क्रियायें इस बात की प्रमाण हैं कि पंचेन्द्रिय विषयों को भोगनेवाले

महादुखी हैं। ये पंचेन्द्रियों के भोग दुखी होने की निशानी हैं, सुखी होने की नहीं।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का भाव अतिसंक्षेप में इसीप्रकार व्यक्त किया है।

कविवर वृन्दावनदासजी ने बड़े ही मार्मिक ढंग से चार छन्दों में इन दोनों गाथाओं के भाव को समेट लिया है। उनमें से महत्त्वपूर्ण दो छन्द इसप्रकार हैं -

(माधवी)

नर इन्द्र सुरासुर इन्द्रनि को सहजै जब इन्द्रियरोग सतावैं ।
तब पीड़ित होकर गोगन को नित भोग मनोगन मांहि रमावैं ॥
तहाँ चाह की दाह नवीन बढै घृतआहुति में जिमि आगि जगावैं ।
सहजानंद बोध विलास विना नहिं ओस के बूँद सों प्यास बुझावैं ॥३२॥

चक्रवर्ती, असुरेन्द्र और सुरेन्द्रों को जब सहजभाव से इन्द्रियरोग सताते हैं; तब वे पीड़ित होकर स्वयं को पाँच इन्द्रियों के मनोरम भोगों में रमा देते हैं। ऐसा करने पर जिसप्रकार अग्नि में घी डालने से वह और अधिक उग्रता से जलने लगती है; उसीप्रकार इन भोगों से विषय चाह की दाह और अधिक उग्र हो जाती है। अरे भाई! सहजानंद और ज्ञान के विलास के बिना भोगों से यह उसीप्रकार शान्त नहीं होती, जिसप्रकार ओस की बूँद से प्यास नहीं बुझती।

(षट्पद)

जिन जीवनि को विषयमाहिं रतिरूप भाव है ।
तिनके उर में सहज दुःख दीखत जनाव है ॥
जो सुभावतैं दुःखरूप इन्द्री नहिं होई ।
तो विषयनि के हेत करत व्यापार न कोई ॥
करि मच्छ द्विरेफ शलभ हरिन विषयनि-वश तन परहरहिं ।
यातैं इन्द्रीसुख दुखमई कही सुगुरु भवि उर धरहिं ॥३५॥

जिन जीवों को पंचेन्द्रिय विषयों में रागभाव है; उनके हृदय में सहजभाव से दुख दिखाई देता है। यदि संसारी प्राणियों को स्वाभाविक दुख नहीं होता तो उनकी प्रवृत्ति गंदे इन्द्रिय विषयों की ओर नहीं होती। हाथी, मछली, भौरा, पतंगा और हिरण पंचेन्द्रियों के विषयवश ही प्राण छोड़ते हैं; इसलिए इन्द्रियसुख दुखरूप ही है। यह बात सुगुरु ने कही है; इसलिए हे भव्यजीवो ! इसे हृदय में धारण करो।

देखो, उक्त छन्द की एक पंक्ति में पाँचों इन्द्रियों संबंधी पाँच उदाहरणों को समेट लिया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं पर प्रवचन करते हुए कहते हैं-

“परोक्षज्ञानवाले का इन्द्रियसुख वास्तव में सुख नहीं है। वह थोड़े समय का, एकपल का, जरा-सा भी सुख नहीं है; अपितु दुःख ही है। परोक्षज्ञानवाला सामग्री को ढूँढता है; इसलिए उसे थोड़ा भी सुख नहीं है।

मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती) असुरेन्द्र और सुरेन्द्र स्वाभाविक इन्द्रियों से पीड़ित होने से उन्हें स्वाभाविक आकुलता है; आकुलता होने से वे रम्य विषयों में रमते हैं; इसलिए वे थोड़े भी सुखी नहीं हैं।^१”

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार मात्र इतना ही है कि बड़े-बड़े पुण्यवान मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में देवेन्द्र और असुरों में असुरेन्द्र सभी दुखी हैं, सुखी कोई भी नहीं।

वस्तुतः बात यह है कि संसार में सुख है ही नहीं। जिसे संसार में सुख कहा जाता है, वह सुख नहीं, दुख ही है और जिसे हम सुखसामग्री कहते हैं, वह सुखसामग्री नहीं, भोगसामग्री ही है, दुखसामग्री ही है।

यदि चक्रवर्ती आदि दुखी नहीं होते तो विषय भोगों में क्यों उलझते, क्यों रमते? अतः यह सुनिश्चित ही है कि परोक्षज्ञानी सुखी नहीं हैं; सुखी तो प्रत्यक्षज्ञानी केवलज्ञानी ही हैं।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-९७

प्रवचनसार गाथा-६५-६६

विगत गाथाओं में यह समझाया है कि परोक्षज्ञानियों को सच्चा सुख प्राप्त नहीं है; वस्तुतः वे दुखी ही हैं; यही कारण है कि वे रम्य इन्द्रिय विषयों में रमते हैं।

अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि पंचेन्द्रियों के समुदायरूप शरीर संसारियों को भी सुख का कारण नहीं है; क्योंकि यह जीव अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण सुख-दुखरूप स्वयं ही परिणमित होता है।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

पप्पा इट्टे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५॥
एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥
(हरिगीत)

इन्द्रिय विषय को प्राप्त कर यह जीव स्वयं स्वभाव से।
सुखरूप हो पर देह तो सुखरूप होती ही नहीं ॥६५॥
स्वर्ग में भी नियम से यह देह देही जीव को।
सुख नहीं दे यह जीव ही बस स्वयं सुख-दुखरूप हो ॥६६॥

स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ जिनका आश्रय लेती हैं, ऐसे इष्ट विषयों को पाकर अपने स्वभाव से ही परिणमन करता हुआ आत्मा स्वयं ही इन्द्रियसुख रूप होता है, देह सुखरूप नहीं होती।

यह बात सुनिश्चित ही है कि स्वर्ग में भी शरीर शरीरी को सुख नहीं देता; परन्तु आत्मा विषयों के वश में सुख अथवा दुखरूप स्वयं होता है।

उक्त गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“वस्तुतः इस आत्मा को सशरीर अवस्था में भी शरीर सुख का

साधन हो - ऐसा हमें दिखाई नहीं देता; क्योंकि तब भी, मानो उन्मादजनक मदिरा का पान किया हो ऐसी, प्रबल मोह के वश वर्तनेवाली, ‘यह विषय हमें इष्ट है’ - इसप्रकार विषयों की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों के द्वारा असमीचीन परिणति का अनुभव करने से, जिसकी शक्ति की उत्कृष्टता (परमशुद्धता) रुक गई है - ऐसे निश्चयकारणरूप अपने ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक स्वभाव में परिणमन करता हुआ यह आत्मा स्वयमेव सुखी होता है। शरीर तो अचेतन होने से सुख का निश्चयकारण नहीं है; इसलिए वह सुखरूप नहीं होता।

यहाँ यह सिद्धान्त है कि शरीर दिव्य वैक्रियक ही क्यों न हो; तथापि वह सुख नहीं दे सकता; अतः यह आत्मा इष्ट अथवा अनिष्ट विषयों के वश होकर स्वयं ही सुख अथवा दुखरूप होता है।”

यदि शरीर सुख का कारण होता तो सिद्ध भगवान सुखी नहीं होते; क्योंकि उनके शरीर नहीं है। शरीर न होने पर भी सिद्ध भगवान सुखी हैं; इससे सिद्ध होता है कि शरीर सुख का कारण नहीं है।

आचार्य जयसेन तो तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में ६५वीं गाथा की टीका की उत्थानिका में ही लिखते हैं कि सिद्धों के शरीर के अभाव में भी सुख है - यह बताने के लिए ही शरीर सुख का कारण नहीं है - यह व्यक्त करते हैं।

टीका के अन्त में गाथा के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि संसारी जीवों को जो इन्द्रियसुख है; उसका भी उपादान कारण जीव ही है, शरीर नहीं और सिद्धों के अतीन्द्रियसुख का उपादान तो आत्मा है ही।

इस पर यदि कोई कहे कि मनुष्य-तिर्यचों का शरीर अनेक व्याधियों से भरा है; अतः वह सुख का कारण नहीं होगा; किन्तु देवों का शरीर तो वैक्रियक होता है, दिव्य होता है, व्याधियों से रहित होता है; वह तो सुख का कारण होगा ही ?

उसको समझाते हुए कहते हैं कि वह दिव्य शरीर भी सुख का कारण नहीं है। अतीन्द्रिय सुख का कारण तो शरीर है ही नहीं, इन्द्रियसुख-दुख का कारण भी शरीर नहीं, आत्मा का अशुद्ध उपादान ही है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अतीन्द्रिय सुख का कारण आत्मा का शुद्धोपादान है और इन्द्रियसुख-दुख का कारण आत्मा का अशुद्धोपादान है।

कविवर वृन्दावनदासजी दोनों ही गाथाओं के भाव को एक-एक छन्द में प्रस्तुत करते हैं। ६६वीं गाथा के भाव को प्रस्तुत करनेवाला छन्द इसप्रकार है -

(मनहरण)

सर्वथा प्रकार देवलोक हू में देखिए तो,
 देह ही चिदात्मा को सुख नाहिं करै है।
 जहपि सुरग उतकिष्ट भोग उत्तम औ,
 वैक्रियक काय सर्व पुण्य जोग भरै है ॥
 तहाँ विषयनि के विवश भयो जीव आप,
 आप ही सुखासुखादि भावनि आदरै है।
 ज्ञायक सुभाव चिदानंदकंद ही में वृन्द,
 तातैं चिदानंद दोऊ दशा आप धरै है ॥

यद्यपि स्वर्गों में पुण्य के योग से सभी अनुकूल संयोग प्राप्त हैं; वैक्रियक शरीर है, उत्तम भोगों की उपलब्धि है; तथापि स्वर्गों में भी देह आत्मा को सुख देनेवाली नहीं है। वहाँ भी यह आत्मा स्वयं ही विषयों के वश होकर सुख-दुखरूप परिणमित होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानानन्दस्वभावी चिदानन्द ही स्वयं अपनी उपादानगत योग्यता के कारण सुख-दुखरूप दोनों अवस्थाओं को धारण करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“कोई पूछता है कि सिद्धों को इन्द्रियाँ नहीं होती तो उन्हें क्या सुख होगा ? ऐसा कहनेवाले को यहाँ कहते हैं कि तुझे इन्द्रिय का सुख नहीं, किन्तु कल्पना का सुख है।^१

शरीर सुखी तो सर्व सुखी - ऐसा लोग कहते हैं; किन्तु यह बात सही नहीं है; क्योंकि शरीर सुख का साधन हो - ऐसा तो हमें दिखाई नहीं देता।^२

अशुद्ध स्वभावरूप परिणमित होता हुआ आत्मा ही स्वयमेव इन्द्रिय-सुखरूप होता है, उसमें शरीर कारण नहीं है; क्योंकि सुखरूप परिणति और शरीर एकदम पृथक् होने के कारण सुख को और शरीर को निश्चय से कार्य-कारणता बिल्कुल नहीं है, अपितु शरीर को सुख का व्यवहार से कारण कहा, वह मात्र कहने के लिए है अर्थात् वास्तव में शरीर सुख का कारण नहीं है।^३

देखो ! यहाँ यह नहीं कहा कि ‘शरीर कथंचित् सुख का साधन है और कथंचित् सुख का साधन नहीं है, किन्तु एकान्त अर्थात् नियम कहा है कि शरीर सुख का साधन नहीं है, नहीं है।^४

यहाँ सिद्धान्त यह है कि बाह्य साधन सुख-दुःख का कारण नहीं है, अपितु आत्मा स्वयं ‘यह पदार्थ मुझे इष्ट है’ - इसप्रकार उनके वश होकर उनमें सुख की कल्पना करता है, जबकि अनिष्ट विषय, रोग अथवा निर्धनता दुःख का साधन नहीं है, अपितु ‘यह मुझे ठीक नहीं है’ - ऐसी कल्पना दुःख का कारण है। शरीर स्वस्थ हो, प्रतिष्ठा (इज्जत) हो, पैसा हो, वैमानिक देवों की सामग्री हो तो वह भी सुख का कारण नहीं है।^५

निर्धनता, दरिद्रता, रोग दुःख का कारण नहीं है; अपितु ज्ञानस्वरूप आत्मा को भूलकर ‘मुझे रोग अनिष्ट है’ - ऐसी कल्पना ही दुःख का कारण है। यदि रोग दुःख का कारण हो तो जितने प्रमाण में रोग, उतने प्रमाण में वह दुःख का कारण बनना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१०९

२. वही, पृष्ठ-१०९

३. वही, पृष्ठ-११३

४. वही, पृष्ठ-११४

५. वही, पृष्ठ-११५

तथा शरीर धर्म का साधन नहीं, अपितु अपना ज्ञानानन्दस्वभाव धर्म का साधन है। आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं सुख-दुःखरूप होता है। स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसे भूलकर जो संयोगों को हितकर तथा अहितकर मानता है, वह दुख का कारण है। शरीर सुन्दर मिले, पुत्र-पुत्री अच्छे मिले तो वहाँ ठीकपने की कल्पना करता है और मुझे सुख मिला है - ऐसा मानता है; किन्तु यह माना हुआ सुख भी पर के कारण नहीं हुआ है; क्योंकि यदि पैसे के कारण सुख हो तो पैसा जब हो, तब-तब हर समय सुख होना चाहिए।

पच्चीस हजार की अंगूठी पहन कर निकला हो और रास्ते में किसी बदमाश ने पीट कर अंगूठी छीन ली हो; तब विचार करता है कि यदि अंगूठी पहनकर नहीं आया होता तो सुख होता। पहले मानता था कि अंगूठी पहनने से शोभा है और अब नहीं पहनने में सुख मानता है; इसप्रकार कल्पना करता है, किन्तु अंगूठी सुख-दुःख का कारण नहीं है।^१

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि शरीरादि संयोग न तो सुख के कारण हैं और न दुःख के कारण हैं; क्योंकि वे तो अपने आत्मा के लिए परद्रव्य हैं। परद्रव्य न तो हमें सुख ही देता है और न दुख देता है। हमारे सुख-दुख के कारण हममें ही विद्यमान हैं। हम अपनी पर्यायस्वभाव-गत योग्यता के कारण ही जब पर-पदार्थों में अपनापन करते हैं, उनके लक्ष्य से राग-द्वेष करते हैं, उन्हें सुख-दुख का कारण मानते हैं तो स्वयं सुखी-दुखी होते हैं।

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रियसुख तो शरीरादि संयोगों के कारण होता ही नहीं है; किन्तु लौकिक सुख-दुख - इन्द्रियजन्य सुख-दुख भी देहादि संयोगों के कारण नहीं होते।

तात्पर्य यह है कि देह का क्रिया से न धर्म होता है, न पुण्य और न पाप। ये सभी भाव आत्मा से ही होते हैं।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-११५-११६

प्रवचनसार गाथा-६७-६८

विगत गाथाओं में जोर देकर यह कहते आ रहे हैं कि शरीरधारी प्राणियों को सुख-दुःख का कारण शरीर नहीं है; अपितु उनका आत्मा ही स्वयं अपनी उपादानगत योग्यता से अथवा अपने अशुद्ध-उपादान से स्वयं सांसारिक सुख-दुःखरूप परिणमित होता है।

अब आगामी गाथाओं में यह कह रहे हैं कि न केवल देह ही, अपितु पाँच इन्द्रियों के विषय भी संसारी जीवों को सुख-दुख में कारण नहीं है। वस्तुतः बात यह है कि संसारी जीव अपनी अशुद्धोपादानगत योग्यता के कारण सुखी-दुःखी हैं और सिद्ध भगवान अपनी शुद्धोपादानगत योग्यता के कारण अनंतसुखी हैं।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

तिमिरहरा जड़ दिट्टी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥
सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोके तहा देवो ॥६८॥

(हरिगीत)

तिमिरहर हो दृष्टि जिसकी उसे दीपक क्या करे ।
जब जिय स्वयं सुखरूप हो इन्द्रिय विषय तब क्या करें ॥६७॥
जिसतरह आकाश में रवि उष्ण तेजरु देव है ।
बस उसतरह ही सिद्धगण सब ज्ञान सुख अर देव हैं ॥६८॥

यदि किसी की दृष्टि अन्धकारनाशक हो तो उसे दीपक की आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार जब आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित होता है, तब विषय क्या कर सकते हैं, विषयों का क्या काम है ?

जिसप्रकार आकाश में सूर्य स्वयं से ही तेज, उष्ण और देव है; उसीप्रकार लोक में सिद्ध भगवान भी स्वयं से ही ज्ञान, सुख और देव हैं।

ये सुखाधिकार के उपसंहार की गाथाएँ हैं। इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार उल्लू-बिल्ली आदि नक्तंचरों के नेत्र स्वयमेव ही तिमिरनाशक होते हैं; इसकारण उन्हें अन्धकार को नष्ट करनेवाले दीपकादि की कोई आवश्यकता नहीं होती; उसीप्रकार संसार में या मुक्ति में स्वयमेव सुखरूप परिणामित इस आत्मा को विषयों की क्या आवश्यकता है ? फिर भी अज्ञानी जीव ‘विषय सुख के साधन हैं’ - ऐसी मान्यता से व्यर्थ ही विषयों का अध्यास करते हैं, आश्रय करते हैं, सेवन करते हैं; तथापि संसार में या मुक्ति में स्वयमेव सुखरूप परिणामित इस आत्मा का विषय क्या कर सकते हैं ?

तात्पर्य यह है कि सुख की प्राप्ति में इन्द्रियविषय अकिंचित्कर हैं।

जिसप्रकार आकाश में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य स्वयमेव अत्यधिक प्रभासमूह से चमकते हुए स्वरूप के द्वारा विलसित प्रकाशयुक्त होने से तेज है, उष्णतारूप परिणामित गोले के भांति सदा उष्णता परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है और देवगति नामक नामकर्म के उदय से स्वभाव से ही देव है; उसीप्रकार लोक में अन्यकारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान् आत्मा (सिद्ध भगवान्) स्वयमेव ही स्व-पर को प्रकाशित करने में समर्थ अनंतशक्ति युक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है, आत्मतृप्ति से उत्पन्न होनेवाली उत्कृष्ट अनाकुलता में स्थित होने के कारण सुख है और आत्मतत्त्व की उपलब्धि सम्पन्न बुधजनों के मनरूपी शिलास्तम्भ में जिनकी अतिशय दिव्यता और स्तुति उत्कीर्ण है, ऐसे दिव्य आत्मस्वरूपवान् होने से देव है।

इसलिए इस आत्मा को सुखसाधनाभासरूप विषयों से बस हो। तात्पर्य यह है कि इस आत्मा को विषयों में सुखबुद्धि तत्काल छोड़ देनी चाहिए।”

यहाँ ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि गाथा में तो स्पष्टरूप से यह लिखा

है कि जिसप्रकार सूर्य स्वभाव से तेज, उष्ण और देव है; उसीप्रकार सिद्ध भगवान् भी स्वभाव से ज्ञान, सुख व देव हैं; जबकि तत्त्वप्रदीपिका टीका में सिद्ध भगवान् के स्थान पर भगवान् आत्मा शब्द का उपयोग किया गया है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि यहाँ सिद्धपर्याय अपेक्षित है या त्रिकाली ध्रुव भगवान् आत्मा अपेक्षित है ?

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में सिद्ध भगवान् ही अर्थ करते हैं। कविवर वृन्दावनदासजी परमात्म शब्द का प्रयोग करते हैं; जो सिद्ध भगवान् की ओर ही इंगित करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी भी इस प्रकरण पर व्याख्यान करते हुए सिद्ध भगवान् का ही स्मरण करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा भी ज्ञान, सुख व देव के लिए जिन विशेषणों का उपयोग किया गया है; उनमें सिद्ध भगवान् ही प्रतिबिम्बित होते हैं। अतः यही लगता है कि आचार्य अमृतचन्द्र को भी यहाँ सिद्ध भगवान् ही अभीष्ट हैं; तथापि उन्होंने अध्यात्म के जोर में भगवान् आत्मा शब्द का प्रयोग किया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यदि प्राणी की दृष्टि स्वयं ही अंधकार का नाश करनेवाली हो तो उसे दीपक से कोई प्रयोजन नहीं होता। जैसे उल्लू आदि निशाचरों को दीपक की जरूरत नहीं होती; वैसे ही जब आत्मा स्वयं रागरूप परिणामित होता है, तब विषय का क्या करें ?

यहाँ देह और विषय दोनों को ही निकाल दिया है; क्योंकि वे सुख के कारण नहीं हैं। अज्ञानी स्वयं उनमें सुख की कल्पना करता है।

जैसे सुख-दुःख की कल्पना संयोग में नहीं है, वैसे ही वह स्वभाव में भी नहीं है; मात्र वर्तमान पर्याय में ही यह कल्पना करता है।^१

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-११९

संसारदशा में अमुक विषय और सिद्धदशा में लोकालोक के विषय दुख-सुख के कारण नहीं हैं; अपितु जीव स्वयमेव सुखरूप परिणमित होता है। आत्मा के ज्ञान में से केवलज्ञान प्रगट हुआ, उसमें लोकालोक जानने में आता है, किन्तु लोकालोक सुख का कारण नहीं है; इसीतरह निचली दशा में भी विषय क्या करे ? विषय कहो अथवा निमित्त कहो एक ही बात है। बाहर की वस्तुएँ क्या करें ?

संयोग दुख नहीं है, इसलिए संयोग को दूर करने जाए तो दुःख नहीं मिटेगा। इसके विपरीत संयोग रहित आत्मा ज्ञानस्वभावी है - ऐसा समझे तो दुःख मिटे।^१

जीव विकारीदशा करे तो दुःखस्वरूप और अविकारी दशा करे तो अपने से ही सुखरूप परिणमित होता है। उसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के विषय अकिंचित्कर हैं अर्थात् कुछ नहीं करते।^२

जिसप्रकार आकाश में सूर्य अपने आप ही तेज और उष्ण है, उसे किसी दूसरी अग्नि की जरूरत नहीं है; उसीप्रकार लोक में पूर्ण परमात्मा जिनको पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ है, वे स्वयं ज्ञान, सुख और देव हैं। आत्मा में ज्ञान और आनन्दस्वभाव विद्यमान है, वे स्वयं ही देव है।^३

पर-पदार्थ को परपने प्रकाशित करने की पूर्ण ताकत है, किन्तु पर को करने की आत्मा की ताकत नहीं है। आत्मा जगत को जाने; किन्तु आत्मा के कारण शरीर चलता है अथवा वाणी निकलती है - ऐसी ताकत आत्मा में नहीं है। अज्ञानी इसके विपरीत मानता है; क्योंकि उसे ज्ञानतत्त्व की खबर नहीं है।^४”

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि जिसप्रकार बिल्ली को तिमिरनाशक दृष्टि प्राप्त होने से अंधकार में देखने के लिए दीपक की

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१२१

२. वही, पृष्ठ-१२२

३. वही, पृष्ठ-१२४

४. वही, पृष्ठ-१३०

आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार सुखस्वभावी भगवान आत्मा को सुख प्राप्त करने के लिए पंचेन्द्रियों के विषयों की आवश्यकता नहीं।

जिसका स्वभाव ही ज्ञान और आनन्द हो, उसे ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने के लिए पर के सहयोग की क्या आवश्यकता है ?

जिसप्रकार स्वभाव से उष्ण तेजवंत सूर्य को उष्ण व तेजवंत होने के लिए अग्नि की आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार स्वभाव से ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को या सिद्ध भगवान को ज्ञानी और सुखी होने के लिए पर की रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है।

यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका में सुखाधिकार यहीं समाप्त हो गया है; तथापि आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं के उपरान्त भी दो गाथायें प्राप्त होती हैं; जो तत्त्वप्रदीपिका में नहीं हैं। उक्त दोनों गाथाओं में क्रमशः अरिहंत और सिद्ध भगवान की स्तुति की गई है। इसप्रकार वे अधिकार के अन्त में होनेवाले मंगलाचरणरूप गाथायें ही हैं।

इसप्रकार की एक गाथा ज्ञानाधिकार के अन्त में भी प्राप्त होती है; जिसकी चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। उक्त गाथा को ज्ञानाधिकार के अन्त में आनेवाला मंगलाचरण या फिर सुखाधिकार के आरंभ में आनेवाला मंगलाचरण भी कह सकते हैं।

इसीप्रकार इन गाथाओं को भी सुखाधिकार के अन्त में आनेवाला मंगलाचरण या शुभपरिणामाधिकार के आरंभ में आनेवाला मंगलाचरण कह सकते हैं। इन गाथाओं की संगति दोनों ओर से मिलती है; क्योंकि इनके पहले आनेवाली गाथा में भी सिद्धों की चर्चा है और शुभपरिणाम अधिकार की आरंभिक गाथाओं में भी देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति की चर्चा की गई है।

एक गाथा शुद्धोपयोगाधिकार के मध्य में भी आई है। भाग्य से उसमें

भी सिद्धों का ही स्मरण किया गया है। उसे हम मध्य में होनेवाले मंगलाचरण के रूप में देख सकते हैं।

इसप्रकार अबतक कुल चार गाथायें ऐसी प्राप्त हुई हैं; जो तत्त्वप्रदीपिका में नहीं हैं, पर तात्पर्यवृत्ति में पायी जाती हैं। वे सभी गाथाएँ मंगलाचरणरूप गाथाएँ ही हैं; इसकारण उनके न होने पर भी विषय प्रतिपादन में कोई व्यवधान नहीं आता।

६८वीं गाथा के उपरान्त प्राप्त होनेवाली वे दो गाथाएँ इसप्रकार हैं -

तेजो दिट्टी गाणं इट्टी सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो ॥
तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं ।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं ॥

(हरिगीत)

प्राधान्य है त्रैलोक्य में ऐश्वर्य ऋद्धि सहित हैं ।
तेज दर्शन ज्ञान सुख युत पूज्य श्री अरिहंत हैं ॥
हो नमन बारम्बार सुरनरनाथ पद से रहित जो ।
अपुनर्भावी सिद्धगुण गुण से अधिक भव रहित जो ॥

जिनका तेज, केवलदर्शन, केवलज्ञान, अतीन्द्रियसुख, देवत्व और जिनकी ईश्वरता, ऋद्धियाँ, तीनलोक में प्रधानपना और विशेष महिमा है; वे भगवान अरहंत हैं।

जो अरहंतों की अपेक्षा भी गुणों से अधिक हैं, मनुष्यों और देवों के स्वामित्व से रहित हैं, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव परिवर्तनों से रहित जो मोक्षपद, उससे सहित हैं; ऐसे सिद्धों को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

इन गाथाओं की व्याख्या करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं कि तेज अर्थात् प्रभामण्डल, तीनलोक और तीनकालवर्ती सम्पूर्ण वस्तुओं के सामान्य अस्तित्व को एकसाथ ग्रहण करनेवाला केवलदर्शन, सभी

पदार्थों के विशेष अस्तित्व को ग्रहण करनेवाला केवलज्ञान, ऋद्धि शब्द से समवशरणादि विभूति, अव्याबाध अनंतसुख, अरहंतपद के अभिलाषी इन्द्रादि की भृत्यता - इसप्रकार की ईश्वरता और तीनलोक के राजाओं की वल्लभता-भक्ति जिनको प्राप्त है, इसप्रकार की महिमा जिनकी है; वे अरिहंत भगवान हैं।

जो गुण अरहंतों में भी नहीं हैं, ऐसे अव्याबाध आदि गुणों के धारक, समवशरणादि विभूति से रहित होने से इन्द्रादि की सेवा से रहित, पंचपरावर्तनों से रहित मोक्ष को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों को बारम्बार नमस्कार हो।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देनेयोग्य है कि सिद्ध भगवान की महिमा सूचक जो विशेषण यहाँ दिये गये हैं; उनमें एक मणुवदेवपदिभावं भी है, जिसका अर्थ होता है कि मनुष्य और देवों के स्वामित्व से रहित हैं।

इस विशेषण के माध्यम से आचार्य यह कहना चाहते हैं कि अरहंत अवस्था में समवशरण के मध्य विराजमान होकर जो दिव्यध्वनि खिरती है; उसमें इन्द्रादि उपस्थित रहते हैं और सभी प्रकार की व्यवस्था करते हैं; किन्तु सिद्धों के इसप्रकार प्रसंग नहीं होने से वे इन्द्रादि की सेवा से रहित हैं।

इसप्रकार इन दो गाथाओं में अरिहंत और सिद्ध भगवन्तों को उनके गुणानुवादपूर्वक स्मरण किया गया है।

इसप्रकार यह सुखाधिकार समाप्त होता है। ●

चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है।

दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम समताभाव है ॥६९॥

- कुन्दकुन्दशतक, पृष्ठ-२४, छन्द-६९

शुभपरिणामाधिकार

(गाथा ६९ से गाथा ९२ तक)

प्रवचनसार गाथा ६९-७०

प्रवचनसार परमागम के प्रथम महाधिकार ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन के अन्तर्गत आनेवाले शुद्धोपयोगाधिकार, ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार की चर्चा के उपरान्त अब अन्त में शुभपरिणामाधिकार की चर्चा आरंभ करते हैं।

प्रवचनसार की इन ६९-७०वीं और शुभपरिणामाधिकार की पहली-दूसरी गाथाओं में इन्द्रियसुख के साधनरूप शुभपरिणाम का स्वरूप और फल दिखाते हैं।

गाथार्ये मूलतः इसप्रकार हैं -

देवदजदिगुरुपूजासु चेष दाणम्मि वा सुसीलेसु।

उपवासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६९॥

जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा।

भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥७०॥

(हरिगीत)

देव-गुरु-यति अर्चना अर दान उपवासादि में।

अर शील में जो लीन शुभ उपयोगमय वह आत्मा ॥६९॥

अरे शुभ उपयोग से जो युक्त वह तिर्यग्गति।

अर देव मानुष गति में रह प्राप्त करता विषयसुख ॥७०॥

देव, गुरु और यतियों की पूजा में, दान में, सुशीलों और उपवासादिक में लीन आत्मा शुभोपयोगी है।

शुभोपयोग से युक्त आत्मा तिर्यच, मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक अनेक प्रकार के इन्द्रियसुख प्राप्त करता है।

यहाँ नरक गति को छोड़कर शेष तीन गतियाँ ली हैं; क्योंकि नरक गति शुभपरिणाम का फल नहीं है; किन्तु तिर्यच आयु को शुभ माना गया है।

मनुष्य गति के समान तिर्यच गति के जीव भी मरना नहीं चाहते। यदि उन्हें मारने की कोशिश करें तो वे जान बचाने के लिए भागते हैं। इससे आशय यह है कि वे उसे अच्छा मानते हैं; अतः तिर्यच होना शुभ है, शुभ का फल है; इसप्रकार शुभ के फल में तीन गतियाँ ली हैं; नरकगति नहीं ली।

तिर्यच गति के जीव भी शुभोपयोग के फल में सुख प्राप्त करते हैं। तिर्यच भोग-भूमियाँ भी होते हैं; पर नारकी भोगभूमियाँ नहीं होते।

अमेरिका के कुत्ते और बिल्लियों को रहने के लिए एयर कंडीशन घर एवं घूमने के लिए कारें मिलती हैं। उनके भी ऐसे पुण्य का उदय है; परन्तु ऐसे पुण्य का उदय नारकी के नहीं है; इसलिए यहाँ तिर्यच को तो शुभोपयोग के फल में शामिल किया, पर नारकी को शामिल नहीं किया।

इन गाथाओं का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“जब यह आत्मा दुख की साधनभूत द्वेषरूप और इन्द्रियविषय की अनुरागरूप अशुभोपयोग भूमिका का उल्लंघन करके देव-गुरु-यति की पूजा, दान, शील और उपवासादि के प्रीतिस्वरूप धर्मानुराग को अंगीकार करता है, तब वह इन्द्रियसुख की साधनभूत शुभोपयोग भूमिका में आरूढ़ कहलाता है।

यह आत्मा इन्द्रियसुख के साधनभूत शुभोपयोग की सामर्थ्य से उसके अधिष्ठानभूत (इन्द्रियसुख के आधारभूत) तिर्यच, मनुष्य और देवत्व की भूमिकाओं में से किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक उस गति में रहता है; उतने समय तक अनेक प्रकार के इन्द्रियसुख प्राप्त करता है।”

यद्यपि तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन इन गाथाओं का भाव तत्त्व-प्रदीपिका के अनुसार ही करते हैं; तथापि वे एकार्थवाची से लगनेवाले गुरु और यति शब्दों का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इन्द्रियजय से शुद्धात्मस्वरूपलीनता में प्रयत्नशील साधु यति हैं और स्वयं भेदाभेदरत्नत्रय के आराधक तथा उस रत्नत्रय के अभिलाषी भव्यों को जिनदीक्षा देनेवाले साधु गुरु हैं ।

इन गाथाओं का पद्यानुवाद कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार करते हैं-

(मत्तगयन्द)

जो जन श्रीजिनदेव-जती-गुरु, पूजनमाहिं रहै अनुरागी ।

चार प्रकार के दान करे नित, शील विषैँ दिढ़ता मन पागी ॥

आदरसों उपवास करै, समता धरि कै ममता मद त्यागी ।

सो शुभरूपपयोग धनी, वर पुण्य को बीज बवै बड़भागी ॥१॥

जो मनुष्य देव-गुरु-यति की पूजा का अनुरागी है, चार प्रकार के दान सदा करता है और जिसका मन शीलव्रतों के पालने में दृढ़ है तथा जो बड़े ही आदरभाव से उपवास करता है, समता को धारण करता है और ममता तथा मद का त्यागी है; शुभोपयोग का धनी वह भाग्यवान् उत्कृष्ट पुण्य के बीज को बोता है ।

(कवित्त)

शुभपरिनामसहित आतम की, दशा सुनो भवि वृन्द सयान ।

उत्तम पशु अथवा उत्तम नर, तथा देवपद लहै सुजान ॥

थिति परिमान पंच इन्द्रिनि के, सुख विलसै तित विविध विधान ।

फेरि भ्रमे भवसागर ही में, तातैं शुद्धपयोग प्रधान ॥२॥

कविवर वृन्दावनदासजी कहते हैं कि हे भव्यजीवों ! तुम ध्यान से सुनो कि आत्मा की शुभपरिणामरूप दशा के फल में जीव उत्तम पशु

अथवा उत्तम मनुष्य अथवा देवपद प्राप्त करते हैं और वहाँ पर वे जीव आयु के अनुसार सीमित समय तक विविधप्रकार के पंचेन्द्रियों के विषयों के सुख भोगते हैं । अन्ततोगत्वा संसार में ही भटकते रहते हैं; इसलिए शुद्धोपयोग ही प्रधान है, महान है ।

उक्त गाथा और उनकी टीकाओं का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“शुभोपयोग इन्द्रिय सुख का साधन है; वह अतीन्द्रिय आनन्द का साधन नहीं । यहाँ धर्मानुराग का अर्थ पुण्य समझना । देव-गुरु-यति की पूजा, दान, शील, उपवास सभी शुभभाव हैं । महाव्रत और प्रतिमा शील में आ जाते हैं ।^१

ज्ञानी को शुभराग आता है - यह बात सही है; किन्तु वह ज्ञानतत्त्व का साधन नहीं है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसकी एकाग्रता ही साधन है । यहाँ चार प्रकार के दान से शुभभाव कहा; किन्तु उससे संसार परित (नष्ट) हो जाये - ऐसा नहीं कहा; देव-गुरु व यति की पूजा से संवर होता है - ऐसा नहीं कहा । कितने ही लोग कहते हैं कि पूजा से आस्रव दूर होता है और संवर बढ़ता है; किन्तु यह बात सही नहीं है ।^२

शुभ के फल में देव गति, मनुष्य गति और तिर्यच गति का अनित्य और काल्पनिक सुख मिलता है ।

यह आत्मा इन्द्रिय सुख के साधनभूत व्रत, पूजा, दानादि के शुभोपयोग की सामर्थ्य से इन्द्रिय सुख की आधारभूत ऐसी तिर्यचपने की मनुष्यपने की और देवपने की भूमिका में से कोई एक भूमिका को प्राप्त करता है । शुभभाव से पैसेवाला होता है, राजा होता है तथा भोगभूमि में जाता है ।^३

आत्मा का कभी नाश नहीं होता, इसलिए उसके आधार से जो शाश्वत आनन्द और सुख मिलता है, वह सादि अनन्त काल तक रहता है, १. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१३३ २. वही, पृष्ठ-१३५ ३. वही, पृष्ठ-१३७

इन्द्रियसुख तो थोड़े ही समय रहता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप त्रिकाल है, उसके आधार से जो आनन्द प्रगट होता है, उसका अन्त नहीं होता। इन्द्रियसुख का आधार गति है और गति क्षणिक है; इसलिए इन्द्रियसुख थोड़े समय रहता है।^१”

इसप्रकार इन गाथाओं में यही कहा गया है कि देव-गुरु-यति की पूजा, आहार दानादि चार दान, आचार शास्त्रों में कहे गये शीलव्रत और उपवासादि में प्रीति होना धर्मानुराग है। जो व्यक्ति द्वेष और विषयानुरागरूप अशुभभाव को पार करके उक्त धर्मानुराग अंगीकार करता है, वह शुभोपयोगी है।

उक्त शुभोपयोग या शुभभाव के फल में जीव को अनुकूलता से युक्त तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति की प्राप्ति होती है और इन गतियों में आयुर्कर्म की स्थिति के अनुसार रहना होता है। इसप्रकार यह जीव सुनिश्चित अल्पकाल तक अनेकप्रकार के इन्द्रियसुखों को प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग या शुभभाव के फल में इन्द्रियसुख अर्थात् भोगों की प्राप्ति होती है। भोग भोगने का भाव तो पापबंध का ही कारण है। यदि उपलब्ध भोगों को भोगते हैं, भोगने का भाव करते हैं तो पाप का बंध होता है। इसप्रकार सुख-सा दिखनेवाला इन्द्रिय सुख वस्तुतः दुःख ही है, दुख का ही कारण है।

उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण आचार्यदेव स्वयं आगामी गाथाओं में विस्तार से करेंगे। अतः यहाँ विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इन गाथा और उनकी टीकाओं में यह साफ-साफ लिखा है कि शुभोपयोग से इन्द्रियसुखों की प्राप्ति होती है; किन्तु इसी शुभोपयोग से धर्मानुकूल सामग्री भी तो प्राप्त होती है; उसकी चर्चा क्यों नहीं की ?

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१३८

पहली बात तो यही कि बंध का कारणभूत शुभोपयोग धर्म नहीं है; वास्तविक धर्म तो कर्मबंधन से मुक्ति का कारणरूप शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति ही है। अतः शुभ और अशुभरूप अशुद्धोपयोग से विरक्त करने के लिए उसी बात पर बल देना आवश्यक था।

दूसरी बात यह भी तो है कि इन्द्रियसुखों की प्राप्ति की तुलना में धर्मानुकूलता की प्राप्ति नगण्य-सी ही है। अनंत जीवों को तो भोग सामग्री ही उपलब्ध होती है; यदि उन्हें कदाचित् धर्मसामग्री भी उपलब्ध हो जावे तो उसका भी भोग के रूप में ही उपयोग करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की तो मूल गाथा में यह बात आई है कि अज्ञानी का धर्म भी भोग के लिए (निमित्त) होता है।^१

भगवान की देशना के अतिरिक्त कोई धर्मसामग्री नहीं है; क्योंकि एक देशनालब्धि को ही सम्यग्दर्शन का निमित्तरूप कारण माना गया है।

अतः ६ माह और ८ समय में अनंत जीवों में ६०८ जीव ही ऐसे रहे कि जिन्हें शुभोपयोग के फल में देशनालब्धि प्राप्त होती है; शेष को तो मिली न मिली बराबर ही है।

आखिर उसे ही तो धर्मसामग्री कहा जायेगा कि जिससे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की प्राप्ति हो। जिससे धर्म की प्राप्ति ही न हो और जो हमारे मानादिक के पोषण का निमित्त बने; उसे धर्मसामग्री भी तो कैसे कहा जा सकता है ?

तीसरी बात यह है कि वास्तविक धर्म की प्राप्ति के लिए पुण्योदय से प्राप्त होनेवाली सामग्री की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति में पर के सहयोग की आवश्यकता नहीं; अपितु पर का त्याग ही अभीष्ट है। यह तो सुनिश्चित ही है कि निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति आत्मा के आश्रय से ही होती है, पर के आश्रय से भी नहीं, तो पर के सहयोग की बात ही कहाँ है ?

१. समयसार, गाथा-७५

प्रवचनसार गाथा-७१

६९ और ७०वीं गाथा में शुभभाव से इन्द्रियसुखों की प्राप्ति होती है - यह कहने के उपरान्त इस ७१वीं गाथा में यह बताते हैं कि शुभोपयोग के फल में प्राप्त होनेवाली देवगति में भी स्वाभाविक सुख नहीं है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।

ते देहवेदणट्ठा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७१॥

(हरिगीत)

उपदेश से है सिद्ध देवों के नहीं है स्वभावसुख ।

तनवेदना से दुखी वे रमणीक विषयों में रमे ॥७१॥

जिनेन्द्रदेव के उपदेश से यह सिद्ध है कि देवों के भी स्वभावसिद्ध सुख नहीं है; क्योंकि वे पंचेन्द्रियमय देह की वेदना से पीड़ित होने से रमणीक विषयों में रमते हैं।

तात्पर्य यह है कि यदि वे स्वाभाविक सुखी होते, दुखी नहीं होते; तो रमणीक विषयों में रमण संभव नहीं था। रमणीक विषयों में रमण इस बात का प्रमाण है कि देव भी दुःखी ही हैं।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इन्द्रियसुखभाजनों में देवगति के देव प्रधान हैं; वस्तुतः उनके भी स्वाभाविक सुख नहीं है; अपितु उनके स्वाभाविक दुख ही देखा जाता है; क्योंकि पंचेन्द्रियात्मक शरीररूपी पिशाच की पीड़ा से परवश होने से वे भृगुप्रपात के समान मनोज्ञ विषयों की ओर दौड़ते हैं।”

भृगु माने पर्वत का निराधार उच्च शिखर और प्रपात माने गिरना। इसप्रकार भृगुप्रपात का अर्थ होता दुखों से घबड़ा कर आत्महत्या करने

के लिए पर्वत के निराधार उच्च शिखर से गिरना। इसप्रकार देव भी पंचेन्द्रिय विषयों की अभिलाषा की पीड़ा सहन न कर पाने से भृगुप्रपात के समान इन्द्रिय विषयों की ओर दौड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि सुखी से दिखनेवाले देव भी वस्तुतः दुखी ही हैं।

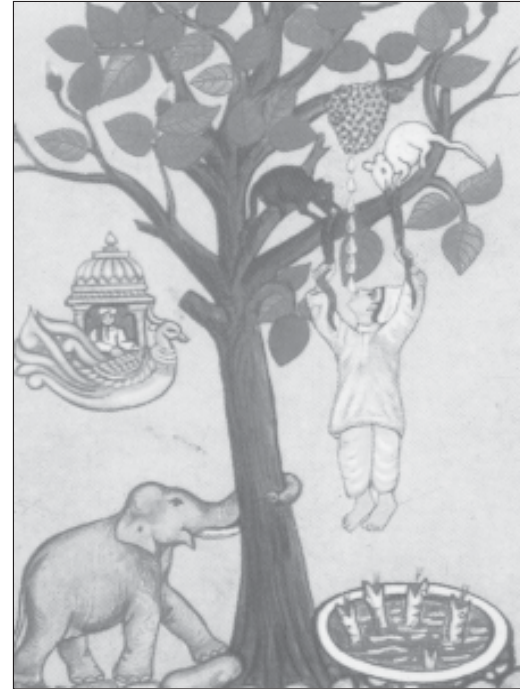
आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में उक्त गाथा के भाव को निम्नांकित प्रसिद्ध उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करते हैं -

एक व्यक्ति अतिविस्तीर्ण भयंकर वन में भ्रमित होकर अर्द्धविक्षिप्त हाथी के पीछे पड़ जाने से अंधे कुएँ में गिरते समय उसके किनारे पर स्थित वृक्ष की एक शाखा को पकड़ कर लटक जाता है।

उक्त वृक्ष की जड़ों को दो चूहे काट रहे हैं। उस वृक्ष पर एक मधुमक्खियों का छत्ता लगा है और उस वृक्ष को वह विक्षिप्त हाथी क्रोधित होकर झकझोर

रहा है; जिसके कारण मधुमक्खियाँ उड़कर उक्त पुरुष को काटने लगी हैं; पर छत्ते के हिलने से उसमें से मधु (शहद) की एक-एक बूँद टपक रही है; जो भाग्य से शाखा से लटके उक्त पुरुष के मुख में गिर रही है; जिसे वह बड़े चाव से चाट रहा है।

नीचे कुएँ में विशाल अजगर पड़ा है;



जो उक्त व्यक्ति का निगल जाने को आतुर है और अनेक अन्य सर्प भी उसे डसने को तैयार हैं।

मृत्यु के मुख में पड़े हुए उक्त पुरुष को उक्त अनेक दुःखों के बीच मात्र मधुविन्दु को चाटने के समान ही सुख है।

उक्त परिस्थितियों में फंसे हुए मरणोन्मुख उक्त पुरुष पर करुणा करके कोई देवता उसे बचाने के लिए हाथ बढ़ाता है और आग्रह करता है कि तुम मेरा हाथ कसकर पकड़ लो, मैं तुम्हें अभी इस महासंकट से बचा लेता हूँ; परन्तु वह अभागा पुरुष कहता है कि इस मधुर मधु की एक बूँद और चाट लूँ।

इसप्रकार वह एक-एक बूँद मधु के लोभ में तबतक वहीं लटका रहता है कि जबतक वह वृक्ष उखड़ नहीं जाता, उसकी डालियाँ टूट नहीं जातीं, वह पुरुष गिरकर विकराल अजगर के मुख में समा नहीं जाता, साँपों द्वारा डसा नहीं जाता; यहाँ तक कि महामृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाता।

मधुबिन्दु के समान सांसारिक सुखों के लोभ में यह मनुष्य संसाररूपी भयंकर वन में मिथ्यात्वरूपी कुमार्ग में भटकता हुआ मृत्युरूपी हाथी के भय से शरीररूपी अंधे कुएँ में गिर गया है। जिस आयुर्करुमरूप वृक्ष की जड़ शुक्ल और कृष्ण पक्षरूपी चूहे काट रहे हैं - ऐसी आयुर्करुमरूपी वृक्ष की शाखा पर लटक गया है।

शरीररूपी अंधे कुएँ के नीचे भाग में सशरीर निगल जाने को तैयार नरकरुमरूपी अजगर और डस जाने को तैयार कषायरूपी सर्प हैं। मृत्युरूपी हाथी वृक्ष और उसकी शाखाओं को नष्ट करने के लिए जोर से झकझोर रहा है; जिससे जीवनांत होने का खतरा बढ़ गया है।

फिर भी वह मनुष्य विषय-सुखरूपी मधुबिन्दु के स्वाद में सुख मानता हुआ उसे चाट रहा है, विषयों को भोग रहा है। सद्गुरुरूपी देवता उसे

बचाने के लिए हाथ बढ़ाते हैं, पर वह विषयसुखरूपी मधु के लोभ में फंसकर वहाँ से निकलना ही नहीं चाहता।

सांसारिक सुख की यही स्थिति है; मोक्षसुख इससे विलक्षण है, विपरीत है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को एक छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(मत्तगयन्द)

देवनि के अनिमादिक रिद्धि की वृद्धि अनेक प्रकार कही है।

तौ भी अतिन्द्रियरूप अनाकुल ताहि सुभाविक सौख्य नहीं है ॥

यों परमागममाहिं कही गुरु और सुनो जो तहाँ नित ही है।

देहविथाकरि भोग मनोगनि माहिं रमै समता न लही है ॥३॥

यद्यपि देवों के आणिमादि अनेक ऋद्धियाँ होती हैं; तथापि उनके अतीन्द्रिय अनाकुल स्वाभाविक सुख नहीं होता। यद्यपि गुरुओं ने परमागम में यह सब कहा है; तथापि एक बात और सुनो कि वहाँ देवगति में नित्य ही देहजन्य पीड़ा के कारण मनोग्य भोगों में रमना होता है, पर समताभाव की प्राप्ति नहीं होती।

स्वामीजी उक्त गाथा और उनकी टीकाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इन्द्रियसुख का आधार तीन गतियाँ कही गई हैं। उनमें प्रधान देवगति है। तिर्यच और मनुष्य को गौण सुख है। इकतीस सागर की स्थितिवाले देवों को भी आत्मा का सुख नहीं है, अपितु उनको स्वाभाविक अर्थात् प्रत्यक्ष दुःख है, वहाँ आत्मा का सुख नहीं; क्योंकि ज्ञानतत्त्व के साधन से ही सुख मिलता है, शुभराग से सुख नहीं मिलता।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वार्थसिद्धि में जाए; वहाँ भी पूर्ण आनन्द नहीं है,

वहाँ से मनुष्य होकर आत्मा की साधना करके पूर्णदशा प्रगट करेगा, तब उसे पूर्ण आनन्द प्रगट होगा।^१

इन्द्रिय विषय का अधिष्ठान तीन गति हैं। उनमें देव सबसे ऊँचे हैं। जब वे भी दुःखी हैं, तब मनुष्य और तिर्यचों को तो उतना पुण्य संयोग भी नहीं होता तो उनकी क्या बात करना?^२

जैसे अत्यधिक दुःख से पीड़ित हुआ मनुष्य अपघात करता है, संयोगों में प्रतिकूलता मानकर अपघात करता है; क्योंकि वहाँ दुःख है; वैसे ही अज्ञानी विषयों की ओर झपट्टा मारता (दौड़ता) है, किन्तु आत्मा की ओर नहीं झुकता। आत्मा जो कि आनन्दकंद है, उसे छोड़कर इसे लाऊँ और उसे लाऊँ - इसप्रकार तृष्णा को बढ़ाता है। इन्द्रियसुख को लोग सुख मानते हैं, लेकिन वह सुख नहीं, अपितु दुःख है।^३

यह ज्ञानतत्त्व अधिकार है। जानना आत्मा का मूल स्वभाव है। उसका अवलम्बन ले तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य होता है। ज्ञान के सिवाय (अतिरिक्त) पुण्य-पाप का अवलम्बन ले तो धर्म नहीं होता। जानना आत्मा का स्वरूप है; उसकी एकाग्रता को छोड़कर दया-दान, व्रत-तप के भाव करता है, उससे इन्द्रियसुख मिलता है, किन्तु आत्मा का सुख नहीं मिलता। दया-दानादि भाव राग है, पुण्य है। उन शुभपरिणामों का ध्येय इन्द्रियसुख है और उनका अधिष्ठान मनुष्य तिर्यच और देवगति में उत्पन्न होना है, किन्तु उससे आत्मा में शान्ति उत्पन्न नहीं होती।^४

विगत गाथाओं में यह बताया गया था कि शुभभाव के फल में पुण्यबंध होता है और उससे तिर्यच, मनुष्य और देवगति में प्राप्त होनेवाला विषयसुख

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१४०

२. वही, पृष्ठ-१४१

३. वही, पृष्ठ-१४१

४. वही, पृष्ठ-१४२

प्राप्त होता है; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि शुभभाव के फल में प्राप्त होनेवाला सुख वास्तव में सुख ही नहीं है, वह तो दुख ही है।

इस बात को सिद्ध करते हुए यह कह रहे हैं कि तिर्यच, मनुष्य और देवों में सबसे अधिक सुखी देव माने जाते हैं; जब वे भी सुखी नहीं हैं, दुखी ही हैं तो फिर तिर्यच और मनुष्यों की बात ही क्या करना? वे तो हमें भी दुखी दिखाई देते हैं।

देवों को दुखी सिद्ध करने में सबसे बड़ी युक्ति यह है कि वे पंचेन्द्रियों की ओर दौड़ते देखे जाते हैं, उनमें रमते देखे जाते हैं। यदि वे दुखी नहीं हैं तो फिर विषयों में रमण क्यों करते हैं? क्योंकि विषयों की रमणता तो दुख दूर करने के लिए ही होती है।

इसप्रकार यह सहज ही सिद्ध है कि नित्य विषयों में रमनेवाले तिर्यच, मनुष्य और देव दुखी ही हैं। ●

श्रद्धा और ज्ञान तो क्षणभर में परिवर्तित हो जाते हैं, पर जीवन में संयम आने में समय लग सकता है। संयम धारण करने की जल्दी तो प्रत्येक ज्ञानी धर्मात्मा को रहती ही है, पर अधीरता नहीं होती; क्योंकि जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान और संयम की रुचि (अंश) जग गई है तो इसी भव में, इस भव में नहीं तो अगले भव में, उसमें नहीं तो उससे अगले भव में संयम भी आयेगा ही; अनन्तकाल यों ही जानेवाला नहीं है।

अतः हम सभी का यह परम पावन कर्तव्य है कि हम सब स्वयं को सही रूप में जानें, सही रूप में पहिचानें, इस बात का गहराई से अनुभव करें कि स्वभाव से तो हम सभी सदा से ही भगवान ही हैं, इसमें शंका-आशंका के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। रही बात पर्याय की पामरता की, सो जब हम अपने परमात्मस्वरूप का सम्यग्ज्ञान कर उसी में अपनापन स्थापित करेंगे, अपने ज्ञानोपयोग (प्रगटज्ञान) को भी सम्पूर्णतः उसी में लगा देंगे, स्थापित कर देंगे और उसी में लीन हो जावेंगे, जम जावेंगे, रम जावेंगे, समा जावेंगे, समाधिस्थ हो जावेंगे तो पर्याय में भी परमात्मा (अरहंत-सिद्ध) बनते देर न लगेगी।

- मैं स्वयं भगवान हूँ, पृष्ठ-२३-२४

प्रवचनसार गाथा-७२

विषयों में रमनेवाले देव भी दुखी ही हैं - विगत गाथा में यह स्पष्ट हो जाने पर अब इस गाथा में यह कहते हैं कि जब पुण्योदयवाले देव भी दुखी ही हैं तो फिर पुण्य और पाप में क्या अन्तर रहा ? इसीप्रकार पुण्य और पाप के कारणरूप शुभ और अशुभभावों में भी क्या अन्तर रहा ?

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दुःखं ।

किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७२॥

(हरिगीत)

नर नारकी तिर्यच सुर यदि देहसंभव दुःख को ।

अनुभव करें तो फिर कहो उपयोग कैसे शुभ-अशुभ ? ॥७२॥

मनुष्य, नारकी, तिर्यच और देव - यदि ये सब ही देहजन्य दुख को अनुभव करते हैं तो फिर जीवों का वह उपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार का कैसे है ?

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्तिवाले देवादिक और अशुभोपयोग- जन्य उदयगत पाप की विपत्तिवाले नारकादिक - दोनों ही स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेषरूप से पंचेन्द्रियात्मक शरीर संबंधी दुःख का अनुभव करते हैं, तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती ।”

आचार्य जयसेन भी इस गाथा का भाव नयविभाग से इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं । वे कहते हैं कि व्यवहारनय से शुभ और अशुभ में भेद होने पर भी दोनों के शुद्धोपयोग से विलक्षण अशुद्धोपयोगरूप होने से निश्चयनय से उनमें भिन्नत्व कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य यह है कि निश्चयनय से दोनों समान ही हैं ।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को चार छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जिनमें अन्तिम तीन दोहे इसप्रकार हैं -

(दोहा)

शुभपयोग देवादि फल, अशुभ दुखदफल नर्क ।

शुद्धातम सुख को नहीं, दोनों में संपर्क ॥५॥

तब शुभ अशुभपयोग को, फल समान पहिचान ।

कारज को सम देखिकै, कारन हू सम मान ॥६॥

तातैं इन्द्रीजनित सुख, साधक शुभउपयोग ।

अशुभोपयोग समान गुरु, वरनी शुद्ध नियोग ॥७॥

शुभोपयोग का फल देवादि गति और अशुभोपयोग का दुखद फल नरकादि गति में जाना है; किन्तु आत्मानन्द का सम्पर्क दोनों में ही नहीं है ।

इसलिए शुभ और अशुभोपयोग का फल समान ही जानना चाहिए । कार्य के समान कारण होता है - इस सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही उपयोगों के अशुद्धोपयोगरूप होने से उनका फल चतुर्गति भ्रमण ही है ।

शुभोपयोग और अशुभोपयोग - दोनों ही समानरूप से इन्द्रियजनित सुख के ही साधन हैं । यह बात गुरुदेव ने शुद्धनय से कही है ।

उक्त गाथा का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“बड़े राजाओं को पूर्व पुण्य के कारण सामग्री मिलती है, वे सभी दुखी हैं; क्योंकि उनकी आकुलता का पार (अन्त) नहीं । धाम-धूम (धमाल) में तो आकुलता ही है । वे सब तो विषय के गड्डे में पड़े हैं । पाप के फलवाले भी आपत्ति में गड्डे में पड़े हैं, दोनों ही दुखी हैं ।”

सम्पत्ति होने पर अज्ञानी सुख मानता है और गरीबी व आपदा होने पर दुःख मानता है; जबकि दोनों ही दुःखी हैं । अज्ञानी पैसे में सुख मानता

है; किन्तु पैसेवाले सभी आकुलित हैं। चाहे वे रंक हो अथवा राजा हो, सोलह हजार देव जिनकी सेवा करते हों - ऐसा कोई चक्रवर्ती हो और दूसरा ऐसा कोई मनुष्य हो कि जिसके शरीर में कीड़े पड़े हों - ये सभी दुःखी हैं। जिन्हें ज्ञानानन्दस्वभाव का आश्रय नहीं है, वे दुःखी हैं।^१

शुभ और अशुभ के फल में देहगत दुःख ही है; इसलिए निश्चय से दोनों समान हैं। इसलिए ये दया-दानादि के परिणाम अच्छे हैं और झूठ चोरी के भाव खराब हैं - ऐसी पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती। दोनों संसार के कारण हैं।^२

पैसेवाले, राजा अथवा देवादिक देह के दुःख को अनुभवते हैं; इसलिए वास्तव में शुभ अशुभ की भिन्नता करके एक में लाभ मानना और दूसरे में नुकसान मानना सही नहीं है।^३ इसतरह दोनों का फल समान है, क्योंकि शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग दोनों आस्रव हैं, मलिन भाव हैं। इसलिए अशुद्धोपयोग में शुभ और अशुभ - ऐसे भेद सच्ची दृष्टि में घटित नहीं होते; क्योंकि दोनों ही सामग्री देते हैं, स्वभाव नहीं।^४

इस गाथा में यह कहा गया है कि पुण्योदयवाले देवादिक और पापोदयवाले नारकी आदि समानरूप से दुःख का ही अनुभव करते हैं; अतः दोनों समान हैं, इनमें कोई अन्तर नहीं है।

यह बात जगत के गले आसानी से नहीं उतरती; क्योंकि जगत में पुण्योदयवाले अनुकूल संयोगों को और पापोदयवाले प्रतिकूल संयोगों को भोगते दिखाई देते हैं।

यदि ऊपर-ऊपर से देखेंगे तो ऐसा ही दिखेगा; किन्तु गहराई में जाकर देखते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि पुण्योदयवाले सुखी होते, आकुलित नहीं होते तो अत्यन्त गंदे, ग्लानि उत्पन्न करनेवाले विषयों को बड़ी वेशर्मताई से भोगते दिखाई नहीं देते।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१४६

३. वही, पृष्ठ-१४६

२. वही, पृष्ठ-१४६

४. वही, पृष्ठ-१४७

पंचेन्द्रियों के विषय मलिन हैं; आदि, मध्य और अन्त में ताप उत्पन्न करनेवाले हैं; पापबंध के कारण हैं - ऐसा जानते हुए भी उन्हीं में रत रहना दुःखी होने की ही निशानी है, सुखी होने की नहीं।

यह बात तो अत्यन्त स्पष्ट है ही कि जब पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन पापरूप है, सेवन करने का भाव पापभाव है और पापबंध का कारण है।

इसप्रकार आद्योपान्त पापरूप होने से विषयों का सेवन करनेवाले पापी दुःखी हैं।

हाँ, यह बात अवश्य है कि पंचेन्द्रिय विषयों की उपलब्धि में पुण्य का उदय निमित्त है। मात्र इतने से पापभावों का सेवन करनेवाले सुखी नहीं हो जाते। वे सुखी जैसे दिखाई देते हैं; पर सुखी नहीं हैं; परमार्थ से वे दुःखी ही हैं। इस गाथा में यही बात समझाई गई है। ●

बदलना भी हमारे हित में

पर्यायों की परिवर्तनशीलता वस्तु का पर्यायगत स्वभाव होने से आत्मार्थी के लिए हितकर ही है; क्योंकि यदि पर्यायें परिवर्तनशील नहीं होतीं तो फिर संसारपर्याय का अभाव होकर मोक्षपर्याय प्रकट होने के लिए अवकाश भी नहीं रहता।

अनन्तसुखरूप मोक्ष-अवस्था सर्वसंयोगों के अभावरूप ही होती है। यदि संयोग अस्थायी न होकर स्थायी होते तो फिर मोक्ष कैसे होता ?

अतः संयोगों की विनाशीकता भी आत्मा के हित में ही है।

- बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-२८

प्रवचनसार गाथा-७३-७४

७३वीं गाथा में शुभ और अशुभ उपयोग समान ही हैं - यह सिद्ध करने के उपरान्त अब इन ७३-७४वीं गाथाओं में यह समझाते हैं कि इन्द्र और नरेन्द्रों के वैभव को देखकर यह तो मानना ही पड़ता है कि शुभभावजन्य पुण्य की भी सत्ता है; तथापि वे पुण्य पुण्यवालों को विषय तृष्णा ही उत्पन्न करते हैं।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
 देहादीणं विद्धिं करंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७३॥
 जदिसंतिहिपुण्णाणियपरिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
 जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥७४॥
 (हरिगीत)

वज्रधर अर चक्रधर सब पुण्यफल को भोगते ।
 देहादि की वृद्धि करें पर सुखी हों ऐसे लगे ॥७३॥
 शुभभाव से उत्पन्न विध-विध पुण्य यदि विद्यमान हैं ।
 तो वे सभी सुरलोक में विषयेषणा पैदा करें ॥७४॥

वज्रधारी इन्द्र और चक्रधारी नरेन्द्र शुभोपयोगमूलक पुण्यों के फलरूप भोगों के द्वारा देहादिक की पुष्टि करते हैं। इसप्रकार भोगों में वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं; इसलिए पुण्य विद्यमान अवश्य है।

यदि शुभोपयोगरूप परिणाम से उत्पन्न होनेवाले विविध पुण्य विद्यमान हैं तो वे देवों तक के जीवों को विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं।

आप ही सोचें कि आपको पुण्योदय से सरस स्वादिष्ट भोजन की प्राप्ति हुई तो उसे देखकर, उसे खाने की ही इच्छा होगी न। इसीप्रकार पुण्योदय से अनुकूल सेवाभावी सुन्दरतम पत्नी प्राप्त हो गई तो उसे देखकर

आपको विषयेषणा के अलावा और क्या होनेवाला है। ये इच्छा और विषयेषणा आकुलता ही तो है, दुख ही तो है।

पुराने जमाने में जो बहुत-कुछ विषय-सामग्री परोक्ष रहती थी, सदा अपने सामने उपस्थित नहीं रहती थी; किन्तु आज तो हम उसे निरन्तर अपने सामने ही रखना चाहते हैं। पुराने जमाने में खाने की सामग्री रसोईघर में ही रहती थी; पर आज तो वह डायनिंग टेबल पर ही सजी रहती है, पारदर्शी बर्तनों में रखी रहती है। महिलायें भी पर्दे में रहती थीं, पर आज तो...।

निरन्तर सामने रहनेवाली भोगसामग्री विषयेषणा तो पैदा करती ही है; साथ में उसे निरन्तर सामने रखने की भावना रखना और उसके लिए व्यवस्था जुटाना भी तो यही सिद्ध करता है कि हम उसे निरन्तर भोगना चाहते हैं। इसप्रकार वह न केवल भोगने के भाव का निमित्तकारण है, अपितु भोगने की तीव्र आकांक्षा का परिणाम भी है, प्रतीक भी है; अन्तर की कामना को उजागर भी करती है।

यही बात यहाँ कही गई है कि यदि इन्द्रादि दुखी नहीं होते तो वे अतिगृह्यतापूर्वक विषयों में निरन्तर क्यों रमते ?

इन गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को पुष्ट करते हुए - जिसप्रकार जोंक दूषित रक्त में अत्यन्त आशक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है; उसीप्रकार - उन भोगों में अत्यन्त आशक्त वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं; इसलिए शुभोपयोगजन्य पुण्य दिखाई देते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रादि को देखकर यह तो प्रतीत होता ही है कि पुण्य का अस्तित्व है।

इसप्रकार शुभोपयोगपरिणामजन्य अनेकप्रकार के पुण्य विद्यमान हैं;

यदि यह स्वीकार किया है तो वे पुण्य देवों तक के समस्त संसारियों को विषय तृष्णा अवश्य उत्पन्न करते हैं - यह भी स्वीकार करना होगा; क्योंकि तृष्णा के बिना जिसप्रकार जोंक को दूषित रक्त में; उसीप्रकार समस्त संसारियों को विषयों में प्रवृत्ति दिखाई नहीं देना चाहिए; किन्तु संसारियों की विषयों में प्रवृत्ति तो दिखाई देती है। इसलिए पुण्यों की तृष्णायतनता अबाधित ही है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य तृष्णा के घर हैं - यह बात सहज ही सिद्ध होती है।”

आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही आचार्य जयसेन भी इन गाथाओं का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में जोंक के उदाहरण से ही स्पष्ट करते हैं। लिखते हैं कि यदि जोंक को अति आसक्ति नहीं होती, अति तृष्णा नहीं होती तो वह मौत की कीमत पर भी रोगी का गंदा खून क्यों पीती? उसीप्रकार देवों को भी यदि अति आसक्ति नहीं होती, अति तृष्णा नहीं होती तो वे मृत्युपर्यन्त मलिन भोगों को क्यों भोगते रहते?

जिसप्रकार जोंक गंदे खून को पीने के लिए चिपट जाती है, यदि उसे छुड़ाने की कोशिश करो तो भी वह मरने तक छूटती नहीं है। संसी (संडासी) से पकड़कर उसे खींचना चाहो तो भी हम उसे जिन्दा नहीं निकाल सकते। जब वह पूरा खून पी लेगी और उसका पेट भर जाएगा; तभी वह उसे छोड़ेगी, हम उसे बीच में से नहीं हटा सकते।

मरणपर्यन्त से आशय मरते दमतक नहीं है; अपितु मौत की कीमत पर - ऐसा है। स्वयं का मरण न भी हो तो भोग के भाव का तो मरण होता ही है।

जैसे खाना खा रहे हो और पेट भर जाये, फिर भी लड्डू खाना नहीं छोड़ते। मरणपर्यन्त से तात्पर्य यह है। जीवन के अन्तिम समय तक पंचेन्द्रिय के विषयों को भोगना चाहते हैं; लेकिन रोजाना मरणपर्यन्त अर्थात् जबतक

वह भाव जीवित है, पेट नहीं भर गया है, अब और अंदर जाता नहीं; तबतक यह खाता रहता है।

एक ऐसे व्यक्ति को मैंने देखा है जो बाजार में चाट वगैरह खाता था। जब उसका पेट भर जाता तो वह मुँह में ऊँगलियाँ डालकर वोमेटिंग (उल्टी) करता था और फिर चाट, कचौड़ी, पकौड़ी खा लेता था।

पचास बीमारियाँ हैं, डायबिटीज है; फिर भी इसे मिश्री-मावा चाहिए। यह कहता है कि - ‘देख लूँगा, ज्यादा होगा तो दो इन्जेक्शन और लगवा लूँगा।’ इसप्रकार प्राणी मरणपर्यन्त अर्थात् मृत्यु की कीमत पर भी इन विषयों को भोगते हैं। वास्तव में यह दुःख ही है, सुख नहीं है।

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथाओं के भाव को एक-एक छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(अशोक पुष्पमंजरी)

वज्रपानि चक्रपानि जे प्रधान जक्तमानि,

ते शुभोपयोगतैं भये जु सार भोग है।

तासुतैं शरीर और पंच अच्छपच्छ को,

सुपोषते बढ़ावते रमावते मनोग है ॥

लोक में विलोकते सुखी समान भासते,

जथैव जोंक रोग के विकारि रक्त को गहै।

चाह दाहसों दहै न सामभाव को लहै,

निजातमीक धर्म का तहाँ नहीं संजोग है ॥८॥

जगतमान्य और जगत में प्रधान वज्रधारी इन्द्रों और चक्रधारी चक्रवर्तियों को शुभोपयोग के फल में अनेकप्रकार के भोग और संयोग प्राप्त हुए हैं। वे उन भोगों से शरीर और मनोग्य पंचेन्द्रियों के पक्ष को पुष्ट करते हैं, बढ़ाते हैं, रमाते हैं।

जिसप्रकार जोंक रोगी के विकारी रक्त को ग्रहण करती हुई सुखी-सी

दिखाई देती है; उसीप्रकार इन्द्रादि भी लोक भोगों को भोगते हुए सुखी से दिखाई देते हैं; किन्तु वे चाह की दाह से दग्ध हैं, साम्यभाव को प्राप्त नहीं होते; क्योंकि यहाँ जगत में उन्हें अपने आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले धर्म का संयोग नहीं है।

(कवित्त)

जो निहचै करि शुभपयोगतैं उपजत विविध पुण्य की रास ।
स्वर्गवर्ग में देवनि के वा भवनत्रिक में प्रगट प्रकास ॥
तहाँ तिन्हें तृष्णानल बाढ़त, पाय भोग-घृति आहुति ग्रास ।
जातैं वृन्द सुधा-समरस विन, कबहुँ न मितत जीव की प्यास ॥१॥

निश्चय से तो शुभोपयोग के फल में अनेक पुण्य उत्पन्न होते हैं। स्वर्गों में; भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में उक्त पुण्य का प्रकाश प्रगट दिखाई देता है। जिसप्रकार घृत की आहुति पाकर अग्नि प्रज्वलित हो जाती है; उसीप्रकार भोगोंरूपी घी की आहुति प्राप्त कर उन देवों के तृष्णारूपी अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। इसलिए कविवर वृन्दावनदासजी कहते हैं कि समतारसरूपी अमृत के बिना जीवों की प्यास कभी भी शान्त नहीं हो सकती।

उक्त गाथाओं में समागत भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो अभी पाप में ही रचे-पचे हैं, वे तो प्रत्यक्ष दुखी ही हैं। काला बाजार करें, उनकी क्या बात करें, उनके तो पुण्य का भी ठिकाना नहीं; किन्तु यहाँ तो उत्तम पुण्यवाले की बात लेते हैं। चक्रवर्ती को कुदरती ऋद्धि चली आती है; फिर भी वे दुःखी हैं। विषयों में झपट्टा मारनेवाले तो दुःखी ही हैं।

अधिक पुण्यवाले सुखी जैसे भासित होते हैं; किन्तु वे दुःखी ही हैं। पुण्य तथा उसके फल की विद्यमानता है, उसको अस्वीकार नहीं करते,

किन्तु वह दुःखरूप है - यह बताते हैं। अतः आत्मा की सच्ची श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ही सुखरूप है - ऐसा निर्णय करना चाहिए। शुभ के कारण मिलनेवाले संयोग से जीव सुखी जैसा भासित होता है; किन्तु वह सुखी नहीं है।^१

इसप्रकार इस गाथा में पुण्य की विद्यमानता स्वीकार करके आगे की गाथा में पुण्य को तृष्णा का बीज बतायेंगे। ज्ञानतत्त्व में पुण्य नहीं है। इसलिए पुण्य के आधार से सुख लेना चाहे, वह भ्रान्ति है। पुण्य तो तृष्णा का कारण है; पुण्य के कारण मिलनेवाले संयोगों की ओर लक्ष्य करे तो तृष्णा होती है।^२

शुभ के कारण संयोग मिले और उनकी ओर लक्ष्य जाने पर तृष्णा होती है; किन्तु शान्ति उत्पन्न नहीं होती। दुनिया जिसे धर्म कहती है - ऐसे शुभभाव को यहाँ पुण्य कहा है। पुण्य से बाहर की सामग्री मिलती है। देवगति के जीवों को भी विषयों की तृष्णा होती है; किन्तु उन्हें आत्मा की शान्ति नहीं मिलती।

पुण्य की दृष्टिवाला पुण्य के फल के प्रति तृष्णा उत्पन्न करता है। पूर्व में शुभभाव किया हो तो उसके कारण सेठ, राजा, देव आदि होता है और वे सभी तृष्णा से दुःखी होते हैं।^३

पुण्य के कारण सामग्री मिलती है और सामग्री तृष्णा उत्पन्न करती है - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध बताते हैं। उनका लक्ष्य सामग्री के ऊपर जाता है, यदि स्वभाव के ऊपर लक्ष्य जाये तो तृष्णा उत्पन्न न हो। उनकी दृष्टि पुण्य के फल पर है; इसलिए वे एकमात्र विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं। अतः पुण्य का फल तृष्णा का घर है।^४

यदि सामग्री में तृष्णा न करे तो उनकी विषयों में प्रवृत्ति दिखाई न दे। जिसके पास हजार रुपये होते हैं, वह दस हजार की इच्छा करता है, दस

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१५०-१५१

२. वही, पृष्ठ-१५१

३. वही, पृष्ठ-१५३

४. वही, पृष्ठ-१५३

हजार मिले तो लाख की इच्छा करता है, इसप्रकार विषयतृष्णा करता जाता है।^१

यदि जोंक को तृष्णा न हो तो वह दूषित रक्त को क्यों चूसे ? वैसे ही अज्ञानी को यदि तृष्णा न हो तो उसकी विषयों में प्रवृत्ति दिखाई न दे, परन्तु वह तो दिखाई देती है; इसलिए पुण्य तृष्णा की उत्पत्ति का घर है और आत्मा आनन्दकन्द है, वह शान्ति का घर है। पुण्य तृष्णा के रहने का स्थान है; इसप्रकार अविरोधपने सिद्ध होता है।^२

पुण्य परिणाम धर्म का साधन नहीं; किन्तु दुःख के बीजरूप तृष्णा का ही साधन है। पुण्य के कारण वैभव मिले, वह क्लेश का कारण है, आत्मा के सुख का कारण नहीं।^३”

इन गाथाओं और उनकी टीका में गंदे खून पीनेवाली जोंक का उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि पंचेन्द्रियों को निरन्तर भोगनेवाले इन्द्र और चक्रवर्ती भी दुखी ही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि इस जगत में पुण्य की सत्ता है; किन्तु पुण्यवाले भी सुखी नहीं हैं। वस्तुतः बात यह है कि सच्चा सुख तो आत्मा में ही है और आत्मा के आश्रय से ही प्राप्त होता है। आत्मा का आश्रयरूप धर्म शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोगरूप है; शुभभावरूप नहीं।

शुभभाव पुण्यबंध का कारण है और पुण्योदय से पंचेन्द्रियों के विषयों की उपलब्धि होती है। विषयों का भोग, दुखरूप होने से सुखी से दिखनेवाले भोगीजन वस्तुतः दुखी ही हैं। यह बात ही इन गाथाओं में स्पष्ट की गई है।

जिनके पाप का उदय है; वे दुखी हैं - यह तो सारा जगत कहता है; किन्तु यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि जिनके पुण्य का उदय विद्यमान है; वे भी सुखी नहीं हैं, दुखी ही हैं; क्योंकि वे भी विषयों में रमे हैं। दुख के बिना विषयों में रमणता संभव नहीं है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१५३ २. वही, पृष्ठ-१५४ ३. वही, पृष्ठ-१५५

प्रवचनसार गाथा-७५

विगत गाथाओं में यह बताया गया है कि यद्यपि पुण्यभाव विद्यमान हैं; तथापि वे तृष्णा के ही उत्पादक हैं।

हम स्पष्ट अनुभव करते हैं कि कभी-कभी तो हमें बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती और कभी-कभी अत्यल्प प्रयत्न से या बिना प्रयत्न के ही सफलता प्राप्त हो जाती है; इसकारण यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि जगत में पुण्यतत्त्व की भी सत्ता है; क्योंकि अनायास सफलता मिलने का कारण पुण्योदय ही है।

इसीप्रकार यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट है कि पुण्योदय से प्राप्त होनेवाली भोगसामग्री को देखकर या प्राप्त कर विषय-वासना ही उत्पन्न होती है; भोग के भाव ही भड़कते हैं।

अतः अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि पुण्य में दुःखों के बीज की विजय है। तात्पर्य यह है कि पुण्य में तृष्णारूपी बीज दुःखरूप वृक्ष की वृद्धि को प्राप्त होता है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।

इच्छंति अणुभवन्ति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७५॥

(हरिगीत)

अरे जिनकी उदित तृष्णा दुःख से संतप्त वे।

हैं दुखी फिर भी आमरण वे विषयसुख ही चाहते ॥७५॥

जिनकी तृष्णा उदित है; वे जीव तृष्णाओं के द्वारा दुःखी होते हुए मरणपर्यन्त विषयसुखों को चाहते हैं और दुःखों से संतप्त होते हुए, दुखदाह को सहन न कर पाने से उन्हें भोगते हैं।

इन गाथाओं के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“उदित तृष्णावाले देवों सहित समस्त संसारी जीव तृष्णा दुख का बीज होने से पुण्यजनित तृष्णाओं द्वारा भी अत्यन्त दुखी होते हुए मृगतृष्णा में से जल की भांति विषयों में से सुख चाहते हैं और उस दुख संताप के वेग को सहन न कर पाने से विषयों को तबतक भोगते हैं; जबतक कि विनाश (मरण) को प्राप्त नहीं होते।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा का भाव सामान्यतः आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं। निष्कर्ष के रूप में अन्त में लिखते हैं कि इससे यह निश्चित हुआ कि तृष्णारूपी रोग को उत्पन्न करनेवाला होने से पुण्य वास्तव में दुख का ही कारण है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को एक छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(मनहरण)

देवनि को आदि लै जितेक जीवराशि ते ते,
विषैसुख आयुपरजंत सब चाहैं हैं।
बहुरि सो भोगनि को बार बार भोगत हैं,
तिशना तरंग तिन्हें उठत अथाहैं हैं॥
आगामीक भोगनि की चाह दुख दाह बढ़ी।
तासु की सदैव पीर भरी उर माहैं हैं।
जथा जोंक रक्त विकार को तब लों गहै,
जौ लों शठ प्राणांतदशा को आय गाहैं हैं॥१०॥

देवों को लेकर जितनी भी जीवराशि संसार में है; वे सभी जीव जीवनपर्यन्त विषयसुख को चाहते हैं। न केवल चाहते हैं; अपितु उन्हें बार-बार भोगते हैं; क्योंकि उनके हृदय में तृष्णा की अथाह तरंगें उठती रहती हैं। न केवल वर्तमान में ही भोगते हैं, अपितु आगामी काल के भोगों की चाह की दाह में जलते रहते हैं; उनके हृदय में इसकी भयंकर पीड़ा निरंतर विद्यमान रहती है।

जिसप्रकार जोंक जबतक प्राणान्तदशा को प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक विकारी रक्त को पीना नहीं छोड़ती; उसीप्रकार अज्ञानी जीव जबतक प्राणान्तदशा को प्राप्त नहीं हो जाते; तबतक भोगों को भोगते रहते हैं, पंचेन्द्रिय विषयों में रचे-पचे रहते हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“आत्मा का स्वभाव जानना-देखना और आनन्दमय है; उसे भूलकर जो दया-दानादि के परिणाम होते हैं, वे पुण्य हैं; उनके फल में तृष्णा बढ़ेगी और भोगों की भोगने की वृत्ति होगी। मैं ज्ञान हूँ, जो होनेवाला था, वह हुआ है; किन्तु पर का कोई भी काम मेरे से हो सके - ऐसा है ही नहीं। इसप्रकार संतोष करे तो तृष्णा मिटे।^१

असाध्य रोग व मरण का समय निकट आने पर भी तृष्णावंत सोचता है कि बहुत से जीव ऐसा रोग होने पर भी बच गए थे; इसलिए मैं भी ठीक हो जाऊँगा - इसप्रकार वह मरण के समय भी तृष्णा को बढ़ाता है। मरने की तैयारी हो फिर भी कषाय की मंदता नहीं करता, किन्तु तृष्णा किया करता है। शरीर की स्थिति पूरी होने को आए, फिर भी काम को नहीं छोड़ता।^२

जिसप्रकार जोंक अति तृष्णावाली होने से रक्त पीना चाहती है, वह खराब रक्त की इच्छा करती है। अत्यधिक रक्त पीने से उसका शरीर फट जाता है, फिर भी रक्त पीने की इच्छा करती है, उसे ही भोगती हुई विनाश (मरण) पर्यन्त क्लेश को पाती है; वैसे ही पुण्यशाली भी पापशाली के समान क्लेश को पाते हैं।

पापवाले प्रतिकूल सामग्री को दूर करने की तृष्णावाले हैं और पुण्यवाले अनुकूल सामग्री को भोगना चाहते हैं। इसतरह अज्ञानी तृष्णा

के कारण दुःखी होता है, फिर भी उसकी ओर का झुकाव नहीं छोड़ता और विषयों की इच्छा करता है।

तृष्णावान जीव, मरणपर्यन्त क्लेश पाता है, इसलिए पुण्य दुःख का ही साथी है।^१

जिन्हें आत्मा के आश्रय से संतोष नहीं, उन्हें व्यक्त और अव्यक्त तृष्णा रहती ही है। आत्मा की शान्ति अथवा आनन्द, ज्ञानस्वरूप के आश्रय से होता है; जो उसका आश्रय छोड़कर इन्द्रियों का आश्रय करता है, उसे सुख नहीं; किन्तु तृष्णा है।^२

तथा बाह्य द्रव्यलिंगी मुनि ने हजारों रानियों को छोड़ा हो, लक्ष्मी का भी त्याग किया हो; किन्तु अन्तरस्वभाव की तृप्ति नहीं; इसलिए उसे भी तृष्णा रहती है। आत्मा की शान्ति अन्तर अमृतस्वरूप के आधार से है; जिसे ऐसे अन्तरस्वरूप की तृप्ति नहीं वर्तती, उसे तृष्णा का वेग होता ही है, जो किसी को तो प्रगट दिखाई देता है और किसी को अप्रगट रहता है। अन्तर में संतोष नहीं आया हो तो तृष्णारूपी बीज क्रमशः अंकुरित हो-होकर दुःखवृक्षरूप से वृद्धि को पाता है।^३”

इसप्रकार इस गाथा में अनेकप्रकार से यही स्पष्ट किया गया है कि जिसके तृष्णा है; वह दुखी ही है। पाप के उदयवाले प्रतिकूल संयोगों से अथवा अनुकूल संयोगों के न होने से दुखी हैं और पुण्य के उदयवाले तृष्णा के कारण भोगों को भोगते हुए भी आकुलित हैं, दुखी हैं। इस संसार में सुखी कोई नहीं है।

वैराग्यभावना में भी कहा गया है कि -

**जो संसारविषैँ सुख हो, तो तीर्थकर क्यों त्यागें ।
काहे को शिवसाधन करते, संयम सौँ अनुरागें ॥**

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१५९-१६०

२. वही, पृष्ठ-१६०

३. वही, पृष्ठ-१६१

यदि संसार में सुख होता तो सर्वानुकूल संयोगों के धनी महापुण्यवान तीर्थकर इस संसार का परित्याग करके दीक्षा क्यों लेते ?

शान्तिनाथ भगवान तो तीर्थकर होने के साथ-साथ चक्रवर्ती और कामदेव भी थे। उनसे अधिक पुण्यवान और कौन हो सकता है; पर पुण्योदय से प्राप्त समस्त अनुकूलताओं को छोड़कर नग्न दिग्म्बर दीक्षा लेकर वे आत्मतल्लीन हो गये; क्योंकि सच्चा सुख आत्मरमणता में है; अनुकूल भोगों के भोगने में नहीं। ●

— मेरे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मैं ही हूँ —

हमारी दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व से अधिक महिमा हमारे भगवान आत्मा की होनी चाहिए। ऐसा चुनाव हो, जिसमें एक ओर हमारा भगवान आत्मा हो और दूसरी ओर अनंत भगवान आत्मा सहित छह द्रव्य हों तो भी हमें हमारे भगवान आत्मा की इतनी महिमा होनी चाहिए कि हम हमारे भगवान आत्मा को ही चुनें।

यदि एक तरफ हम चुनाव में खड़े हों और दूसरी तरफ अटल बिहारी वाजपेयी जैसे दिग्गज खड़े हों तो भी कम से कम हमारा एक वोट तो हमारे लिए होना ही चाहिए।

इसी भाँति हमारी दृष्टि में ‘मेरा आत्मा’ ही सबसे महत्त्वपूर्ण लगना चाहिए; क्योंकि उसी की आराधना से मुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की प्राप्ति होगी, अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होगी, उसकी दृष्टि रही तो ही मुझे सुख मिलेगा। सारी दुनिया पर दृष्टि जाने से मुझे मेरा सुख मिलनेवाला नहीं है।

— समयसार का सार, पृष्ठ-८७-८८

प्रवचनसार गाथा-७६

विगत गाथाओं में यह बात विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है कि जिन्हें हम लोक में पुण्यवान कहते हैं, सुखी कहते हैं; वस्तुतः वे लोग भी दुखी हैं; क्योंकि उनके तृष्णा विद्यमान है।

वस्तुतः बात यह है कि 'पाप के समान ही पुण्य भी हेय है' - इस बात को विविधप्रकार से स्पष्ट कर देने पर भी अज्ञानी की पुण्य में उपादेयबुद्धि बनी ही रहती है। अतः अब पुण्योदय से प्राप्त होनेवाला सुख भी कितना असार है - यह समझाने के लिए गाथा में पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले इन्द्रियसुख का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि इन्द्रियसुख सुख नहीं, वस्तुतः दुख ही है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।

जं इंदिहं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

(हरिगीत)

इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है।

है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ॥७६॥

जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है; वह सुख परसंबंधयुक्त है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बंध का कारण है और विषम है; इसप्रकार वह इन्द्रियसुख दुख ही है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“परसंबंधयुक्त होने से, बाधासहित होने से, विच्छिन्न होने से, बंध का कारण होने से और विषम होने से वह इन्द्रियसुख पुण्यजन्य होने पर भी दुख ही है।

इन्द्रियसुख पर के संबंधवाला होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीन है; बाधासहित होता हुआ खाने, पीने और मैथुन की इच्छा इत्यादि तृष्णा की व्यक्तियों से युक्त होने से अत्यन्त आकुल है; विच्छिन्न होता हुआ असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है - ऐसे सातावेदनीय के उदय से प्रवर्तमान होता हुआ अनुभव में आता है, इसलिए विपक्ष की उत्पत्तिवाला है; बंध का कारण होता हुआ विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार कर्मरज के घनपटल का संबंध होने के कारण परिणाम से दुःसह है और विषम होता हुआ हानि-वृद्धि में परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिर है; इसलिए वह इन्द्रियसुख दुख ही है।

इसप्रकार यदि इन्द्रियसुख दुख ही है तो फिर पाप की भाँति पुण्य भी दुख का ही साधन है - यह सहज ही प्रतिफलित हो जाता है।”

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इन्द्रियसुख का स्वरूप तो आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं; किन्तु साथ में इन्द्रियसुख के प्रतिपक्षी अतीन्द्रियसुख का स्वरूप भी स्पष्ट करते हैं। इसप्रकार वे इन्द्रियसुख और अतीन्द्रियसुख की तुलना प्रस्तुत कर देते हैं।

वे कहते हैं कि इन्द्रियसुख पराधीन है तो अतीन्द्रियसुख स्वाधीन है, इन्द्रियसुख बाधासहित है तो अतीन्द्रियसुख अव्याबाध है, इन्द्रियसुख खण्डित हो जानेवाला है तो अतीन्द्रियसुख अखण्ड है, इन्द्रियसुख बंध का कारण है तो अतीन्द्रियसुख बंध का कारण नहीं है और इन्द्रियसुख विषम अर्थात् हानि-वृद्धि सहित है तो अतीन्द्रियसुख सम अर्थात् हानि-वृद्धि रहित है।

इसप्रकार उक्त पाँच विशेषताओं के कारण इन्द्रियसुख हेय और अतीन्द्रिय सुख उपादेय है।

उक्त गाथा के भाव को एक छन्द में कविवर वृन्दावनदासजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(कुण्डलिया)

इन्द्रियजनित जितेकसुख, तामें पंच विशेष ।

पराधीन बाधासहित, छिन्नरूप तसु भेष ॥

छिन्नरूप तसु भेष, विषम अरु बंध बढ़ावै ।

यही विशेषन पंच, पापहू में ठहरावै ॥

तब अब को बुधिमान, चहै इन्द्रीसुख गिंदी ।

तातैं भजत विवेकवान, सुख अमल अतिंदी ॥११॥

जितना भी इन्द्रियसुख है; उसमें पाँच विशेषताएँ हैं। वह पराधीन है, बाधासहित है, छिन्नरूप है, विषम है और बंध का कारण है। इन्हीं पाँच विशेषताओं के कारण वह संसारी जीवों को पाप में स्थित रखता है। अब आप ही सोचो कि ऐसे गंदे इन्द्रियसुख को कौन बुद्धिमान चाहेगा? यही कारण है कि विवेकी ज्ञानीजन तो अमल अतीन्द्रियसुख की ही चाहना करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अब, पुनः अनेकों प्रकार से पुण्यजन्य इन्द्रियसुख का दुःखरूपपना प्रकाशित करते हैं।^१

उसमें पर का संबंध है; क्योंकि वह चिदानन्द आत्मा का संबंध नहीं करता; इसलिए पैसा मिलाऊँ, मकान अनुकूल करूँ - ऐसी दृष्टि करता है तथा वह बाधासहित और विच्छिन्न है। जो पाँच वर्ष तक सुख जैसा दिखाई देता है, वही बाद में प्रतिकूल दिखाई देता है और यह दुखी होता है। पाँच-पच्चीस लाख की सम्पत्ति हो, किन्तु स्त्री अनुकूल न हो, बाहर में बहुत सम्मान हो, किन्तु घर में स्त्री और पुत्र बात नहीं मानते हों तो दुखी होता है। बीस वर्ष की लड़की होने पर भी लड़का नहीं मिला, तीस वर्ष

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१६४-१६५

का लड़का अभी कुंवारा है, इसप्रकार सदा तृष्णा में जलता है। पुण्य-पापरहित आत्मा के भान बिना पूर्व में जो शुभभाव किया था, उसके फल में ऐसी तृष्णा होती है।^१

इन्द्रियसुख पर के संबंधवाला है, जो पराश्रयता के कारण पराधीन है। जैसे यदि नाक काम नहीं करे तो सूंघ नहीं सकता, आँख ठीक न हो तो दिखाई नहीं देता, जीभ ठीक न हो तो स्वाद नहीं ले सकता। इसप्रकार इन्द्रियसुख पर के संबंधवाला है; इसलिए पराधीन है।^२

खाने को नहीं मिलता, पानी की इच्छा होने पर पानी नहीं मिलता, भोग की इच्छा के समय स्त्री नहीं मिलती; इसप्रकार इन्द्रियसुख में बाधा पड़ती है; इसलिए उसमें अत्यंत आकुलता होने से वह दुख ही है।^३

साता का उदयकाल अल्प होता है और असाता के कारण, सामग्री चली जाती है। सेठपना, राजपना, अमलदारपना (कलेक्टर) चला जाता है; इसलिए इन्द्रियसुख उसके विपक्ष की उत्पत्तिवाला है।^४

पूर्व के शुभभाव क्षणिक हैं; इसलिए उनके फलरूप संयोग भी क्षणिक ही होते हैं। निमित्त का अनुभव करता हुआ सुख भी क्षणिक है, इसलिए वह विपक्ष की उत्पत्तिवाला है।

इन्द्रियसुख राग-द्वेष की उत्पत्ति करता है, इसलिए बन्ध का कारण है।^५

इन्द्रियसुख हानि-वृद्धिवाला होने से अस्थिर है, इसलिए वह दुख ही है।^६

पाँच लाख की सम्पत्ति हो, जो थोड़े ही समय में पाँच हजार की रह जाती है। बाहर में सम्मान हो और अन्दर में दिवालिया हो, इसप्रकार इन्द्रियसुख हानि-वृद्धिवाला है।^७

अतः पुण्य भी पाप के समान ही दुःख का साधन है - ऐसा

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१६५

२. वही, पृष्ठ-१६५

३. वही, पृष्ठ-१६५

४. वही, पृष्ठ-१६६

५. वही, पृष्ठ-१६६

६. वही, पृष्ठ-१६७

७. वही, पृष्ठ-१६७

८. वही, पृष्ठ-१६८

सिद्ध हुआ।^८

इन्द्रियसुख, दुख ही है; क्योंकि वह पराधीन है, अत्यंत आकुलता वाला है, विपक्ष की उत्पत्तिवाला है, वह परिणाम से दुःसह है और अत्यन्त अस्थिर है; इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि पुण्य भी दुख का ही साधन है।^९

पुण्य-पाप दोनों ही बंध के कारण हैं; फिर भी यदि कोई पुण्य को अच्छा और पाप को खराब मानकर इनमें भेद करता है तो वह मिथ्यादृष्टि है, जो घोर संसार में रखड़ता (परिभ्रमण करता) है।^{१०}

यह एक दिशाबोधक सरल सुबोध गाथा है; जिसमें सांसारिक सुख की दुखरूपता को अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसमें कहा गया है कि संसार जिस विषयसुख की कामना करता है, जिसके लिए आकाश-पाताल एक कर देता है, सागर में गोता लगाता है, आकाश में गुलाचें भरता है और जमीन को फोड़कर पाताल में जाने को तैयार रहता है, इस बेशकीमती नरभव को दाव पर लगा देता है; आखिर उस सुख में ऐसा है ही क्या ?

वस्तुतः यह इन्द्रियसुख सुख है ही नहीं। यह तो आकुलतारूप होने से दुख ही है।

इस गाथा में इसे दुखरूप सिद्ध करने के लिए पाँच कारण दिए हैं।

सबसे पहली बात तो यह है कि यह पराधीन है। यह तो जगत में प्रसिद्ध ही है कि **पराधीन सपनहु सुख नाही** - पराधीन व्यक्ति को स्वप्न में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। यह संसारी प्राणी इन्द्रियों के आधीन है। यदि इन्द्रियाँ भोगने के काबिल नहीं हुईं तो प्राप्त भोग्य सामग्री और अधिक संताप देती है। दूसरे भोग्य सामग्री भी तो पर है, उसकी उपलब्धता भी सदा सहज नहीं है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१६९

२. वही, पृष्ठ-१६९

जब दांत थे, तब चना नहीं मिले और जब चना उपलब्ध हुए, तबतक दांत गायब हो चुके थे। मान लो दांत भी हैं और चना भी हैं, पर भूख ही न हो तो, खाने का भाव ही न हो तो फिर क्या हो ? इसीप्रकार भोगसामग्री भी हो और भोगने में इन्द्रियाँ भी सबल हों; पर भोगने के भाव बिना भोगा जा सकना संभव नहीं है।

दूसरे इन्द्रियसुख में बाधाएँ भी कम नहीं है। इन्द्रियाँ सबल हों, भोग सामग्री भी हो और भोगने के भाव भी प्रबल हों; पर कोई पूज्य पुरुष आ जाये, मित्र आ जाये या फिर शत्रु ही क्यों न आ जाय; सब बाधाएँ ही हैं; क्योंकि उक्त परिस्थिति में उपभोग संभव नहीं है।

तीसरी बात यह है कि पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले भोग कभी भी विघट सकते हैं; क्योंकि पुण्योदय न जाने कब समाप्त हो जाय। पापोदय भी तो कभी भी आ सकता है। इसप्रकार ये भोग कभी भी विघटित हो जानेवाले विच्छिन्न हैं।

चौथी बात यह है कि ये बंध के कारण हैं; क्योंकि भोगने के भाव पापभाव हैं और पापभाव पापबंध का ही कारण होता है। इसप्रकार इन्द्रियसुख अभी तो दुखरूप है ही, भविष्य में भी दुख देनेवाला ही है।

पाँचवें ये विषम हैं, अस्थिर हैं, घटते-बढ़ते रहते हैं।

इसप्रकार यह इन्द्रियसुख सर्वथा त्यागनेयोग्य है; एकमात्र अतीन्द्रिय आनन्द ही प्राप्त करनेयोग्य है, उपादेय है।

बस, यही बताया गया है इस सरल-सुबोध गाथा में।

मूलतः बात यह है कि जबतक इन्द्रियसुख दुखरूप भासित नहीं होगा; तबतक पुण्य में उपादेयबुद्धि बनी ही रहेगी। अतः यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि इन्द्रिय सुख भी दुख ही है तथा पुण्य भी पाप के समान ही हेय है, त्यागनेयोग्य है।

पुराने जमाने में उपभोग की सभी वस्तुओं को छुपाकर रखा जाता

था, उनका उपभोग तो एकान्त में होता ही था; पर आज सबकुछ सामने आ गया है। पहले खाने की सभी सामग्री रसोईघर में रहती थी; पर आज सभी कुछ भोजन की टेबल पर पारदर्शक बर्तनों में सजा रहता है; जो हमें खाने के लिए उत्तेजित करता है। पहले जो थाली में आ गया, खा लिया; पर आज अपने हाथ से उठा-उठाकर सबकुछ लिया जाता है। टी.वी. आदि सभी उत्तेजक सामग्री बेडरूम में आ गई है और सत्साहित्य वहाँ से यह कहकर हटा दिया गया है कि इसकी अविनय होगी।

अरे भाई! वैराग्यमय चित्र और वैराग्योत्पादक साहित्य घर में रखो, उसे पढ़ते-पढ़ते सोवोगे तो स्वप्न भी सात्विक आयेंगे।

ये उत्तेजक सामग्री न केवल हमारी वासनाओं को भड़काती है, उत्तेजित करती है; अपितु हमारी कुत्सित वृत्ति की प्रतीक भी है, परिणाम भी है। हमारी वृत्ति ही खोटी है; इसीकारण इन भड़काऊ चीजों का प्रवेश हमारे बेडरूम में हुआ है।

इसप्रकार ये भोग सामग्री हमारी उत्तेजित वासनाओं का परिणाम है और हमारी वासनाओं को भड़कानेवाली भी हैं; अतः इन्हें गुप्त रखना ही ठीक है। ये प्रदर्शन की वस्तुएँ नहीं हैं। ये भोगायतन हैं; इनसे हमारा घर भी भोगायतन ही बनेगा।

यदि हमें अपने घर को धर्मायतन बनाना है तो वैराग्यपोषक चित्र और सत्साहित्य घर में बसाना चाहिए। न केवल बसाना चाहिए, अपितु उसका अध्ययन भी नित्य करना चाहिए। स्वयं करना चाहिए और घरवालों को भी कराना चाहिए।

जिस घर में सत्साहित्य नहीं, वह घर नहीं, मसान है। यदि अपने घर

को श्मशान नहीं बनाना है, मुक्ति के लक्ष्य को घर में बसाओ, बेसुख-बहिर्मुख-सहाय-सुख-सन्मत्त करो, न-काय-करो॥ •

- कुन्दकुन्द शतक, पृष्ठ-३१, छन्द ९७

प्रवचनसार गाथा-७७

विगत गाथाओं में अनेक तर्क और युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि इन्द्रियसुख सुख नहीं है, दुख ही है। अब इस गाथा में यह समझा रहे हैं कि जब पाप के उदय में प्राप्त होनेवाले दुख के समान ही पुण्य के उदय में प्राप्त होनेवाला इन्द्रियसुख भी दुख ही है तो फिर पुण्य-पाप में अन्तर ही क्या रहा ?

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं ।

हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

(हरिगीत)

पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है - जो न माने बात ये ।

संसार-सागर में भ्रमों मद-मोह से आच्छन्न वे ॥७७॥

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“विगत गाथाओं में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप के अनुसार जब परमार्थ से शुभाशुभ उपयोग में और सुख-दुःख में द्वैत नहीं ठहरता; तब पुण्य और पाप में द्वैत कैसे ठहर सकता है ? क्योंकि पुण्य और पाप - दोनों में ही अनात्मधर्मत्व समान है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य और पाप - दोनों ही आत्मा के धर्म नहीं; इसलिए आत्मधर्म के आराधकों को दोनों ही समानरूप से अधर्म हैं।

ऐसा होने पर भी जो जीव उन दोनों में सुवर्ण और लोहे की बेड़ी की भाँति अन्तर मानता हुआ अहमिन्द्रपदादि सम्पदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर अत्यन्त निर्भररूप से अवलम्बित है; कर्मोपाधि से विकृत चित्तवाले उस जीव ने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है; इसलिए

वह जीव संसारपर्यन्त (जबतक संसार है, तबतक) शारीरिक दुख का ही अनुभव करता है।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप में भेद है, अन्तर है; अशुद्ध निश्चयनय से भावपुण्य और भावपाप और उनके फलस्वरूप होनेवाले सुख-दुख में भेद है, अन्तर है; किन्तु शुद्धनिश्चयनय से शुद्धात्मा से भिन्न होने के कारण इनमें भेद नहीं है, अन्तर नहीं है।

इसप्रकार शुद्धनिश्चयनय से पुण्य और पाप में जो व्यक्ति अभेद नहीं मानता है; वह देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, कामदेव आदि पदों के निमित्त से निदानबंधरूप से पुण्य को चाहता हुआ निर्मोह शुद्धात्मतत्त्व से विपरीत दर्शनमोह-चारित्रमोह से आच्छादित होता हुआ, सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के समान पुण्य और पाप - दोनों से बंधा हुआ संसाररहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार में भ्रमण करता है - यह अर्थ है।”

समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन पुण्य-पापाधिकार की समाप्ति पर ऐसा लिखते हैं कि इसप्रकार यह **पापाधिकार** समाप्त हुआ।

फिर स्वयं प्रश्न उठा कर इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं कि निश्चय नय से पाप के समान पुण्य भी स्वभाव से पतित करनेवाला होने के कारण पाप ही है; इसकारण एक अपेक्षा से यह अधिकार पापाधिकार ही है।

वैसे तो आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन - दोनों ने समान अर्थ ही किया है। दोनों ही एक स्वर से यह स्वीकार कर रहे हैं कि जो अज्ञानी जीव ‘पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है’ - इस बात को स्वीकार नहीं करता; वह संसारी प्राणी अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। फिर भी आचार्य

जयसेन को ऐसा लगा कि यह गाथा विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखती है। यही कारण है कि उन्होंने उक्त तथ्य को निश्चय-व्यवहारनों के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है।

‘वह अपार घोर संसार में परिभ्रमण करेगा’ यह पद भी विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। अपार घोर संसार का अर्थ ‘अनन्तकाल तक भयंकर संसार में भ्रमेगा’ - यह भी किया जा सकता है, तथापि आशय यही है कि जबतक वह अपनी इस भूल को सुधारेगा नहीं, तबतक संसार में रुलेगा। भूल सुधार लेने पर वह अल्पकाल में भी मोक्ष जा सकता है। यही कारण है कि आचार्य जयसेन इसमें अभव्य की अपेक्षा लगा देते हैं। वे कहते हैं कि पुण्य और पाप को समान नहीं माननेवाला अभव्य जीव अनंतकाल तक घोर संसार में परिभ्रमण करेगा।

उक्त सम्पूर्ण कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि भले ही व्यवहारनय या अशुद्धनिश्चयनय से पुण्य-पापकर्म, पुण्य-पापभाव और उनके फल में प्राप्त होनेवाले सुख-दुख में अन्तर बताया गया हो; तथापि निश्चय से परमसत्य बात तो यही है कि जो व्यक्ति पंचेन्द्रिय विषयों में सुख मानता हुआ जबतक पुण्य में उपादेय बुद्धि रखेगा, उसे पाप के समान ही बंध का कारण नहीं मानेगा; तबतक वह जीव इस मिथ्या मान्यता के कारण संसार में ही परिभ्रमण करेगा।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ जिस पुण्यभाव को पापभाव के समान हेय बताया जा रहा है; वह अज्ञानी गृहस्थों के होनेवाले शुभभावरूप पुण्य नहीं है; अपितु जिस पुण्य से अहमिन्द्रादि पदों की प्राप्ति होती है, ऐसे चौथे काल के मुनिराजों को होनेवाले पुण्य की बात है; क्योंकि गृहस्थ तो अहमिन्द्रादि पद प्राप्त ही नहीं करते हैं। गृहस्थ तो सोलहवें स्वर्ग के ऊपर जाते ही नहीं हैं; वे कल्पोपपन्न ही हैं; कल्पातीत नहीं।

इसीप्रकार पंचमकाल में भी कोई अहमिन्द्र पद प्राप्त नहीं करता,

इसप्रकार यह बात चौथे काल के मुनिराजों के शुभभाव की ही है। तात्पर्य यह है कि यहाँ चौथे काल के मुनिराजों के पुण्यभाव को भी पापभाव के समान हेय बताया गया है तथा इस बात को स्वीकार नहीं करनेवालों को अनन्तकाल तक भवभ्रमण करना होगा - यह कहा गया है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा और उसकी टीकाओं के भाव को व्यक्त करने के लिए पाँच छन्द लिखते हैं; जो मूलतः पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

“पुण्य-पाप के विकार एक ही जाति के हैं, क्योंकि वे ज्ञानस्वभाव से विरुद्ध हैं। ज्ञान उनमें अटकता है; इसलिए वे दुःख के साधन हैं; फिर भी जो पुण्य-पाप में अंतर मानता है, वह मिथ्याभाव में जुड़ता हुआ घोर संसार में परिभ्रमण करता है। पुण्य-पाप के परिणाम में, बंधन में और उनके फल में जो अंतर मानता है; उसे नरक-निगोद में रखड़ना पड़ेगा और वहाँ आत्मा का साधन भी नहीं मिलेगा; इसलिए पुण्य और पाप दोनों ही आत्मा के धर्म नहीं हैं; अपितु निश्चय से वे अधर्म हैं।

पूर्व गाथा में कहे अनुसार पुण्य इन्द्रियसुख का साधन है; किन्तु आत्मा के सुख का साधन नहीं। पुण्य का ध्येय इन्द्रियसुख और विषय हैं। उनकी तरफ लक्ष्य होने पर दुःख होता है। निर्धनता और धनवानपना, निरोगता अथवा रुग्णता दोनों में अन्तर नहीं है। यह ज्ञेय इष्ट है और यह ज्ञेय अनिष्ट है - ऐसा ज्ञेयों में भेद नहीं है। ज्ञान जाने और ज्ञेय जानने में आए - इसके सिवाय दूसरा कोई संबंध नहीं है। ऐसा होने पर भी पुण्य अच्छा है - ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। शुभाशुभ उपयोग के द्वैत में दोपना नहीं है। विकार एक है। जैसे अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों की एक ही जाति है; वैसे ही पुण्य और पाप के बन्धन की एक जाति है। व्यवहार से पुण्य अच्छा है

- ऐसा कहा जाता है, परन्तु परमार्थ से दोनों एक ही हैं।

अनुकूलता हो अथवा प्रतिकूलता हो - दोनों की एक जाति है। इसीतरह शुभ परिणाम हो अथवा अशुभ परिणाम हो - दोनों की एक जाति है। शुभ-अशुभ के दो प्रकार नहीं हैं। लक्ष्मी (धन) हो अथवा नहीं हो, पुत्र हो अथवा न हो, निरोगता हो अथवा न हो - उनकी एक जाति है। पुण्य-पाप का बंधन एक जाति का है, क्योंकि दोनों में आत्मा का धर्म नहीं है।^१

पुण्य का गाढ़ (निर्भर) रूप से अवलम्बन लेनेवाला शुद्धोपयोग का तिरस्कार करता है; इसलिए वह संसार में रखड़ता है - ऐसा होने पर भी जो जीव स्वर्ण की और लौहे की बेड़ी की भाँति पुण्य और पाप में अन्तर होने का मत (अभिप्राय) रखता है; वह अज्ञानजन्य है; क्योंकि वह पुण्य को ठीक मानता है और पाप को बुरा मानता है; जिससे वह घोर संसार में रखड़ता है।^२

‘मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ - उसमें उपयोग लगाऊँ तो मेरा कल्याण होगा’ - ऐसा वह नहीं मानता और पुण्य परिणाम को गाढ़पने अवलम्बता है। आत्मा में शुभपरिणाम होता है, जो उसे गाढ़पने अवलम्बता है, उसकी ज्ञान भूमि मैली है; वह शुद्धोपयोग का तिरस्कार करता है; इसलिए वह ऐसा वर्तता हुआ सदा के लिए शारीरिक दुख का ही अनुभव करता है।^३

ज्ञानी को शुभभाव आता है, दया-दान, व्रत-तप होते हैं; किन्तु उनका गाढ़ अवलम्बन नहीं होता। पूर्णानन्दस्वभाव का अवलम्बन होने से ज्ञानी को पुण्य का गाढ़ अवलम्बन नहीं होता।^४

अज्ञानी स्वयं पुण्य के परिणाम का गाढ़ अवलम्बन करता है; किन्तु ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का अवलम्बन नहीं करता; इसलिए उसे अशरीरी

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१७४-१७५

२. वही, पृष्ठ-१७५

४. वही, पृष्ठ-१७६

३. वही, पृष्ठ-१७५-१७६

५. वही, पृष्ठ-१७६

सुख नहीं होता।”

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ टीका में ऐसा लिखा है कि जो पुण्य-पाप में अहंकारिक अन्तर मानता है, मदमोह से आच्छन्न वह अज्ञानी अनंत संसार में भ्रमण करता है। अहंकारिक अन्तर का भाव यह है कि पुण्योदय से प्राप्त सामग्री में अहंकार (एकत्व) ममकार (ममत्व) करता है; वह अहंकारिक अन्तर माननेवाला अज्ञानी है और वह अनंतकाल तक भवभ्रमण करेगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पुण्य-पाप में अन्तर माननेरूप छोटे से अपराध की इतनी बड़ी सजा कि वह अनंत कालतक संसार में भ्रमण करेगा। यह ककड़ी के चोर को कटार मारने जैसा अन्याय नहीं है क्या ?

अरे भाई ! पुण्य और पाप में अन्तर माननेवाला ककड़ी का चोर नहीं है, छोटा-मोटा दोषी नहीं है; अपितु सात तत्त्व संबंधी भूल करनेवाला बड़ा अपराधी है, मिथ्यात्वी है और मिथ्यात्व का फल तो अनंत संसार है ही।

हिंसादि पाप करनेवाला नरक में जाता है, पशु-पक्षी होता है और अहिंसादि पुण्यभावों को करनेवाला मनुष्य होता, देव होता है; इसप्रकार हिंसादि पापभावों का फल नरकादि व पुण्यभावों का फल स्वर्गादि है; किन्तु मिथ्यात्वादि का फल निगोद है और सम्यक्त्वादि का फल मोक्ष है।

पुण्य में उपादेयबुद्धि, सुखबुद्धि तत्त्वसंबंधी भूल होने से मिथ्यात्व का महा भयंकर पाप है; यही कारण है कि इसप्रकार की भूल करनेवाले तबतक संसार में परिभ्रमण करते हैं, जबतक कि वे अपनी इस भूल को सुधार नहीं लेते। अतः हम सबका भला इसी में है कि हम अपनी भूल सुधार कर इस महापाप से बचें। इसे छोटी-मोटी भूल समझ कर उपेक्षा न करें।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिसे नयों के माध्यम से

वस्तुस्वरूप का सच्चा ज्ञान नहीं है और जिनवाणी में कथित व्यवहारवचनों का सहारा लेकर विषयसुख प्राप्त करानेवाले पुण्य को भला मानता हुआ, शुभभावों को धर्मरूप जानता हुआ अतिगृद्धता से विषयों में रत रहता है, उन्हें प्राप्त करानेवाले पुण्य परिणामों में धर्म मानकर उसी में संतुष्ट रहता है; ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव जबतक अपनी मिथ्यामान्यता को नहीं छोड़ता, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सच्चे धर्म को नहीं जानता; तबतक सांसारिक सुख-दुखरूप दुख को भोगता हुआ संसार में ही भटकता रहेगा। यदि यह आत्मा नहीं चेता तो यह काल अनंत भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि वह अनन्त कालतक अनन्त दुख उठाता रहेगा।

अतः भला इसी में है कि हम पंचेन्द्रिय के विषय प्रदान करनेवाले पुण्य को पाप के समान ही बंध का कारण जानकर पाप के समान ही हेय माने, हेय जाने; और उससे विरत हों। धर्म तो एकमात्र शुद्धोपयोग है, शुद्धपरिणति है, वीतराग परिणति है, वीतरागभाव है; वही उपादेय है, वही धारण करनेयोग्य है। अधिक क्या कहें - इस जीव को शुद्ध-

परिणतिमेवैव शुद्धोपयोग्य नहीं। मैं भी एक ही हूँ कर्मप्रयोगमय है ॥

- है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥
धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है धर्म निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥
मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥
परात्मवादी मूढ़जन निज आतमा जाने नहीं ।
अध्यवसान को आतम कहें या कर्म को आतम कहें ॥

- समयसार पद्यानुवाद

प्रवचनसार गाथा-७८

विगत गाथा में यह स्पष्ट करने के उपरान्त कि पुण्य-पापकर्म, पुण्य-पापभाव और उसके फल में प्राप्त होनेवाले लौकिक सुख-दुख एक समान ही हेय हैं, दुखरूप हैं, दुख के कारण हैं; इस बात को स्वीकार नहीं करनेवाले अपार घोर संसार में परिभ्रमण करते हैं; अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि जो ज्ञानीजन इस बात को अच्छी तरह जानते हैं; इसलिए वे अनंतसुख के कारणरूप शुद्धोपयोग को अंगीकार करते हैं, अनंतसुख को प्राप्त करते हैं और देहोत्पन्न दुखों का क्षय करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।

उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥७८॥

(हरिगीत)

विदितार्थजन परद्रव्य में जो राग-द्वेष नहीं करें।

शुद्धोपयोगी जीव वे तनजनित दुःख को क्षय करें ॥७८॥

इसप्रकार वस्तुस्वरूप को जानकर जो द्रव्यों के प्रति राग व द्वेष को प्राप्त नहीं होता; वह उपयोग विशुद्ध होता हुआ देहोत्पन्न दुख का क्षय करता है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो जीव शुभ और अशुभभावों के अविशेष दर्शन (समानता की श्रद्धा) से वस्तुस्वरूप को भलीभाँति जानता है और स्व और पर - ऐसे दो विभागों में रहनेवाली समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों के प्रति राग और द्वेष सम्पूर्णतः छोड़ता है; वह जीव एकान्त से उपयोग विशुद्ध (शुद्धोपयोगी) होने से, जिसने परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ दिया है;

ऐसा वर्तता हुआ - लोहे के गोले में से लोहे के सार का अनुसरण न करनेवाली अग्नि के समान - प्रचण्ड घन के आघात समान शारीरिक दुख का क्षय करता है।

इसलिए यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है।”

देखो, यह शुभपरिणामाधिकार चल रहा है और आचार्यदेव कह रहे हैं कि मेरे तो एक शुद्धोपयोग ही शरण है।

लोग समझते हैं कि यह शुभपरिणामाधिकार है; अतः इसमें तो शुभभाव करने की प्रेरणा दी होगी, शुभभाव की महिमा बताई होगी, शुभभाव के ही गीत गाये होंगे; किन्तु यहाँ तो शुभभावों को अशुभभावों के समान ही हेय बताया जा रहा है, पुण्य को पाप के समान ही हेय बताया जा रहा है; यहाँ तक कि सांसारिक सुख को भी दुख बताया जा रहा है; दुख के समान नहीं, अपितु साक्षात् दुख ही कहा जा रहा है।

आचार्यदेव ने मंगलाचरण के उपरान्त आरंभ से ही शुद्धोपयोग के गीत गाये हैं। शुद्धोपयोग और उसके फल के रूप में प्राप्त होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख को समझाने के लिए शुद्धोपयोग अधिकार के तत्काल बाद ज्ञानाधिकार और सुखाधिकार लिखे।

जब यह प्रश्न खड़ा हुआ कि अकेला अतीन्द्रियसुख ही सुख थोड़े है, इन्द्रियसुख भी तो सुख है। इसीप्रकार अकेला शुद्धोपयोग ही तो उपयोग नहीं है, शुभोपयोग और अशुभोपयोग भी तो उपयोग हैं। उनका भी तो प्रतिपादन होना चाहिए।

इसी प्रश्न के उत्तर में शुभपरिणामाधिकार लिखा गया है; जिसमें यह बताया गया है कि शुभपरिणाम के फल में पुण्यबंध होता है और पुण्योदय होने पर इन्द्रियसुख की प्राप्ति होती है, भोगसामग्री उपलब्ध होती है। भोगसामग्री के उपभोग का भाव पाप भाव है और वह पापबंध का कारण है। इसप्रकार यह शुभभाव भी तो अशुभभाव के निमित्तों को ही जुटाता है।

अन्ततोगत्वा अनेक आगम प्रमाणों, अनेक प्रबल युक्तियों और सशक्त उदाहरणों के माध्यम से यह समझाया गया है कि यह इन्द्रियसुख भी सुख नहीं, दुख ही है; इसकारण न तो पुण्य और पाप में द्वैत (भिन्नता) ठहरता है और न शुभाशुभभावों में द्वैत सिद्ध होता है। शुभ और अशुभ – दोनों ही भाव अशुद्धभाव हैं और इन अशुद्धभावों से कर्मों का बंधन ही होता है, कर्मबंधन छूटता, टूटता नहीं।

इसप्रकार शुभाशुभभाव बंध के कारण हैं; आस्रव हैं। पुण्य-पाप तो आस्रव ही हैं। कहा भी जाता है – पुण्यास्रव और पापास्रव, पुण्यबंध और पापबंध। इसप्रकार पुण्य और पाप आस्रव-बंध के रूप हैं।

यही कारण है कि आचार्य शुभपरिणामाधिकार में भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आत्मा का हित चाहनेवालों को एकमात्र शुद्धोपयोग ही शरण है।

यहाँ एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि अन्यत्र तो यह कहा जाता रहा है कि –

कर्म विचारे कौन भूल तेरी अधिकाई।

अग्नि सहे घनघात लौह की संगति पाई ॥

अरे भाई! कर्मों की क्या गलती है? अधिकतम भूल तो तेरी ही है। तू दोष कर्मों के माथे क्यों मढ़ता है? यदि लोहे के साथ अग्नि भी पिट गई तो इसमें लोहे का क्या दोष है? अग्नि ने लोहे की संगति की, वह लोहे के गोले में प्रवेश कर गई; इसकारण लोहे के साथ-साथ उस पर भी घन के चोटे पड़ीं। यदि अग्नि लोहे की संगति नहीं करती तो उसे घन के प्रहार नहीं सहने पड़ते।

पर यहाँ इससे उल्टा कहा जा रहा है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि जिसप्रकार अग्नि लोहे के तप्त गोले में से लोहे के सत्त्व को धारण नहीं करती; इसलिए अग्नि पर घन के प्रचण्ड प्रहार नहीं होते; उसीप्रकार परद्रव्य

का अवलम्बन न करनेवाले आत्मा को शारीरिक दुख का वेदन नहीं होता।

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन – दोनों ही उक्त उदाहरण का एकसा प्रयोग करते हैं। शेष अर्थ भी समान ही है।

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी तीन छन्दों में समाहित करते हैं; जिसमें अन्तिम दो दोहे इसप्रकार हैं –

(दोहा)

आहनतैं दाहन विलग, खात न घन की घात।

त्यों चेतन तनराग बिनु, दुखलव दहत न गात ॥१८॥

तातैं मुझ चिद्रूप को, शरन शुद्ध उपयोग।

होहु सदा जातैं मिटै, सकल दुखद भवरोग ॥१९॥

जिसप्रकार लोहे के गोले से भिन्न रहती हुई अग्नि को घन की चोटे नहीं खानी पड़तीं; उसीप्रकार देह के राग से रहित चेतन को शरीर संबंधी रंचमात्र भी दुख नहीं होता।

इसलिए चैतन्यस्वरूप मुझे एकमात्र शुद्धोपयोग की ही शरण होवे; जिससे दुख देनेवाले सभी भवरोग सदा के लिए मिट जावें।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“पाप के फल में दुख है – ऐसा तो सभी कहते हैं, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य का सुख भी आकुलतामय होने से दुख का साधन है। पूर्व पुण्य के कारण सामग्री मिले, उसे भोगने जाए तो वहाँ दुख होता है; इसलिए कहा कि पुण्य परिणाम दुख उत्पन्न करता है, वह सुख का साधन नहीं है। धनवान हो अथवा निर्धन, राजा हो अथवा रंक; उन सभी का पर की ओर लक्ष्य जाता है, इसलिए वे दुखी हैं।”

आत्मा ज्ञानानन्द है, उसकी एकाग्रता में निवास करना ही दुख के क्षय का उपाय है; इसके अतिरिक्त प्रतिकूल सामग्री को दूर करना चाहे और अनुकूल सामग्री को रखना चाहे तो वह सुख का उपाय नहीं है। चिदानन्द आत्मा सुख का साधन है, इसके सिवाय दूसरा कोई भी सुख का साधन नहीं – ऐसा निर्णय करना चाहिए।^१

पुण्य-पाप तथा शुभ-अशुभ सभी एक हैं, मेरा स्वभाव उनसे भिन्न है – ऐसा निर्णय होने पर भ्रांति का दुख नाश हुआ; उसके बाद अपनी कमजोरी से होनेवाला अस्थिरता के दुख का नाश स्वभाव में स्थिरता होने से हो जाता है। ज्ञानस्वभाव में सुख है – ऐसा निर्णय होने पर भ्रांति का दुख दूर हो जाता है; किन्तु अस्थिरता का दुख सर्वज्ञ हुए बिना दूर नहीं होता; इसलिए पुण्य-पाप के भाव का नाश स्वभाव में एकाग्रता करने से होता है।

इसप्रकार अर्थात् ऊपर (पूर्वोक्त) गाथा में कहे अनुसार वस्तु का स्वरूप जानकर राग-द्वेष को प्राप्त नहीं होता – ऐसा कहा है।^२

अग्नि लोहे का संग करती है तो उसे घन का प्रहार सहन करना पड़ता है; यदि वह अग्नि लोहे के गोले में न जाय तो घन का प्रहार न पड़े; वैसे ही चैतन्य अग्नि पुण्य-पापरूपी लोहे में जाये तो उसे दुख का प्रहार सहन करना पड़ता है; किन्तु चैतन्य अग्नि पुण्य-पापरूपी लोहे में न जाये और अकेली शुद्ध रहे तो उसे दुख सहन नहीं करना पड़ता।^३

लोहे के टुकड़ों को छोटा अथवा बड़ा बनाना हो तो उसे अग्नि में डाले तो उसके ऊपर प्रहार पड़ते हैं, किन्तु अकेली अग्नि के ऊपर कोई प्रहार नहीं करता, वैसे ही चैतन्य ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्र हो और पुण्य-पाप में न जाये तो दुख सहन नहीं करना पड़ता।^४

पुण्य-पाप के संबंध को सर्वप्रथम श्रद्धा से तोड़े उसके बाद अस्थिरता

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१७९

२. वही, पृष्ठ-१७९-१८०

३. वही, पृष्ठ-१८१

४. वही, पृष्ठ-१८१

का संबंध तोड़े। वास्तव में शुद्धोपयोग ही शरण है, स्त्री-पुत्रादि तो शरण नहीं; किन्तु शुभराग भी शरणरूप नहीं है। एकमात्र शुद्ध आत्मा ही शरण है।

सर्वप्रथम इसप्रकार निर्णय करना चाहिए। शुभराग वास्तविक सुख नहीं है। आत्मा चैतन्य सर्वज्ञस्वभावी है। उसका निर्णय करे तो पुण्य-पाप शरण है – ऐसी मान्यता नहीं रहती; ऐसा निर्णय होने के पश्चात् चारित्र आता है, वह चारित्र मुक्ति का साक्षात् कारण है।^१”

निष्कर्ष के रूप में इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि मुझे तो एकमात्र शुद्धोपयोग ही शरण है; क्योंकि जो व्यक्ति विगत गाथाओं में प्ररूपित वस्तुस्वरूप को भलीभाँति जानकर द्रव्यों से राग-द्वेष नहीं करता; वह शुद्धोपयोगी सम्पूर्ण देहोत्पन्न दुखों का क्षय करता है।

तात्पर्य यह है कि एकमात्र उपादेय तो शुद्धपरिणति और शुद्धोपयोग ही है; अशुद्धोपयोगरूप सभी शुभाशुभभाव समानरूप से हेय ही हैं।

यह शुभपरिणामाधिकार शुभपरिणामों की महिमा बताने के लिए नहीं, अपितु उसका सही रूप दिखाकर उसके प्रति होनेवाले आकर्षण को तोड़ने के लिए लिखा गया है।

व्यवहारी को व्यवहार की भाषा में समझाना पड़ता है। मुनिजन क्षमा के भण्डार होते हैं। यदि वे अपनी ओर से बोलेंगे तो यही बोलेंगे कि क्षमा का अभाव क्रोध है, पर दुनिया में भाव होता है वक्ता का और भाषा होती है श्रोता की। यदि श्रोता की भाषा में न बोला गया तो वह कुछ समझ ही न सकेगा।

अतः ज्ञानीजन समझाना तो चाहते हैं क्षमाधर्म, पर समझाते हैं क्रोध की बात करके। बच्चों से बात करने के लिए उनकी ओर से बोलना पड़ता है। जब हम बच्चे से कहते हैं कि माँ को बुलाना, तब हमारा आशय बच्चों की माँ से होता है, अपनी माँ से नहीं; क्योंकि हम जानते हैं कि ऐसा कहने पर बच्चा अपनी माँ को बुलायेगा, हमारी माँ को नहीं।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ-१२

प्रवचनसार गाथा-७९

विगत गाथाओं के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाने पर कि एकमात्र शुद्धोपयोग ही शरण है; अब इस गाथा में कहते हैं कि अब मैं इस शुद्धोपयोग के द्वारा मोह को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए कमर कस के तैयार हूँ।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

चत्ता पावारंभं समुद्रिदो वा सुहम्मि चरियम्मि ।

ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥

(हरिगीत)

सब छोड़ पापारंभ शुभचारित्र में उद्यत रहें।

पर नहीं छोड़े मोह तो शुद्धात्मा को ना लहें ॥७९॥

पापारंभ को छोड़कर शुभ चारित्र में उद्यत होने पर भी यदि जीव मोहादिक को नहीं छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो जीव या जो मुनिराज समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप परमसामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका (नायिका - संकेत के अनुसार अपने प्रेमी से मिलने जानेवाली स्त्री) की भाँति शुभोपयोगपरिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ अर्थात् शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फंसता हुआ मोह की सेना के वशवर्तनपने को दूर नहीं कर डालता, जिसके महादुख संकट निकट है - ऐसा वह शुद्ध आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए कमर कसी है।”

अरे देखो, यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ आचार्यदेव शुभोपयोगरूप परिणति की तुलना धूर्त अभिसारिका से कर रहे हैं; एकप्रकार से उसे धूर्त अभिसारिका ही बता रहे हैं।

साहित्य में समागत नायिकाभेदों में अभिसारिका नामक भी एक भेद है। अभिसारिका वह नायिका है, जो अपने पति को बताये बिना, उसकी अनुमति बिना ही पहले से सुनिश्चित संकेत के अनुसार छुपकर अपने प्रेमी से मिलने जाती है। एक तो यह अधिसार ही खोटा काम है, दूसरे वह प्रेमिका मात्र अभिसारिका ही नहीं है, अपितु धूर्त भी है। इसप्रकार यहाँ शुभोपयोग परिणति को धूर्त अभिसारिका कहा गया है।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति शादी में सात फेरे लेते समय तो अपनी धर्मपत्नी को जीवनभर न त्यागने का वचन देता है और बाद में उसकी उपेक्षा कर धूर्त अभिसारिका के चंगुल में फंस जाता है। ऐसे व्यक्ति के महादुख संकट निकट है; उसीप्रकार जिन मुनिराजों ने दीक्षा लेते समय तो शुद्धोपयोग में रहने का संकल्प किया था, प्रतिज्ञा ली थी और अब धूर्त अभिसारिका के समान शुभोपयोग परिणति में उलझ कर रह गये हैं, उसी में लीन हो गये हैं; ऐसे मुनिराजों के महादुख संकट निकट है।

तात्पर्य यह है कि एकाध स्वर्गादिक के भव को प्राप्त कर फिर उनकी अनंतकाल तक के लिए निगोद में जाने की तैयारी है।

निगोद को छोड़कर और कौन-सी पर्याय है कि जिसमें महादुख संकट हो।

यह चारित्रमोह के उदय का परिणाम है। यह आत्मा मोहवश ही ऐसा करता है। अतः जबतक मोह को पूर्णतः नहीं जीता जायेगा, तबतक ऐसा होता रहेगा। यही कारण है कि आचार्यदेव संकल्प कर रहे हैं, प्रतिज्ञाबद्ध हो रहे हैं कि मैंने तो अब मोह की सेना को जीतने के लिए कमर कस ली है।

देखो, कितने जोरदार शब्द हैं, आचार्यदेव का पुरुषार्थ किसप्रकार स्फुरायमान हो रहा है। भाषा तो देखो -

अहो मया मोहवाहिनी विजयाय वद्धा कक्षेयम् - इसलिए मैंने मोह की सेना को जीतने के लिए कमर कसी है।

आचार्यदेव एक स्थान पर लिखते हैं कि जब तेरे परिणाम शिथिल होने लगे तो दीक्षा लेते समय के परिणामों को याद करना। तात्पर्य यह है कि दीक्षा लेते समय सभी के परिणाम उत्कृष्ट रहते हैं, सभी आत्मकल्याण की भावना से ही दीक्षा लेते हैं; किन्तु बाद में परिणाम शिथिल होते जाते हैं।

यही कारण है कि मुनिपद में रहते हुए भी अनेक प्रकार के दंद-फंद में फंस जाते हैं। जिस परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर दशा अंगीकार की थी; बस वह नग्नता ही रह जाती है, शेष सभी परिग्रह तो येनकेन प्रकारेण आ ही जाते हैं। लाखों छोड़े थे और अब करोड़ों में खेलते हैं; एक घर छोड़ा था, पर अब गाँव-गाँव में घर बना रहे हैं।

देखो, आचार्यदेव तो शुभोपयोग परिणति को धूर्त अभिसारिका कह रहे हैं और शुभोपयोगपरिणतिवालों को महादुख संकट निकट बता रहे हैं; पर यहाँ तो शुभभाव भी कहाँ रहे ? जब उनके महादुख संकट निकट है, तब इनका क्या होगा ?

आचार्यदेव ने तो मोहवाहिनी को जीतने के लिए कमर कसी है; पर आज तो अपने से असहमत लोगों को नेस्तनाबूद करने के लिए कमर कसी जाती है, एकाध भव इसी काम को समर्पित कर देने की प्रतिज्ञाएँ भरी सभा में डंके की चोट पर की जाती हैं।

जो भी हो, हमें तो अपने में झांकने का प्रयत्न करना चाहिए। यह दुनियाँ तो ऐसी ही चलती रहेगी। यह छोटा-सा मनुष्य भव, जिसका बड़ा हिस्सा तो बीत गया, जो थोड़ा-बहुत बचा है, उसमें हजार झंझटें; क्यों उलझे इन विकल्पों में, अपने में समा जाना ही श्रेयस्कर है। अस्तु...

प्रश्न - यदि ऐसा है तो फिर आपने इतना भी क्यों लिखा ?

उत्तर - विकल्प आया सो लिख दिया। किसी का भला होने का काल पक गया होगा तो उसे लाभ प्राप्त हो जायेगा, अन्यथा जो होना है, वह तो हो ही रहा है; इसमें हम क्या कर सकते हैं ?

प्रश्न - यह भी तो हो सकता है कि यह पढ़कर कोई भड़क जाय ?

उत्तर - हाँ, यह भी हो सकता है। जिसका अनंत संसार शेष होगा, वह तो भड़केगा ही। हमने तो किसी को भड़काने के लिए कुछ नहीं लिखा, जो कुछ भी लिखा है समझाने के भाव से ही लिखा है। फिर हमने किसी का नामोल्लेख तो नहीं किया, फिर भी कोई अपने माथे पर ले ले तो हम क्या कर सकते हैं ? अब छोड़ो भी इस बात को, इस चर्चा में अधिक समय लगाना हमें अभीष्ट नहीं है।

आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही स्पष्ट करते हैं।

इस गाथा के भाव कविवर वृन्दावनदासजी तीन छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

(मत्तयगन्द)

पाप अरंभ सभी परित्यागि के, जो शुभचारित में वरतंता ।
जो यह मोह को आदि अनादि के, शत्रुनि को नहिं त्यागत संता ॥
तो वह शुद्ध चिदानंद संपत्ति, को तिरकाल विषैं न लहन्ता ।
याहीं तैं मोह महारिपु की, रमनी दुरबुद्धि को त्यागहिं संता ॥२०॥

(दोहा)

तातैं साध्यसरूप है, शुद्धरूप उपयोग ।
ताके बाधक मोह को, दिढ़तर तजिबो जोग ॥२१॥
जो शुभ ही चारित्र को, जाने शिवपद हेत ।
तो वह कबहुँ न पाय है, अमल निजातम चेत ॥२२॥

सभीप्रकार के पापारंभों को त्यागकर जो मुनिराज शुभचारित्र में वर्तते हैं और जो अनादिकालीन मोहादि शत्रुओं का परित्याग नहीं करते हैं, वे तीनकाल में भी शुद्ध आत्मा की संपत्ति प्राप्त नहीं कर सकते। यही कारण है कि संतगण मोहरूपी महाशत्रु में रमन करनेवाली दुर्बुद्धि को त्याग देते हैं।

इसलिए शुद्धोपयोग ही साध्य है और उसे प्राप्त करने में बाधक जो मोह है, उसे दृढ़तापूर्वक त्याग कर देना चाहिए।

जो व्यक्ति शुभभावरूप चारित्र को ही मुक्ति का कारण जानते हैं; वे निर्मल आत्मा को कभी भी प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मुनिराज मोक्ष प्राप्ति के लिए सर्वप्रकार से उद्यम करते हैं। मुनि ने पाप के परिणाम छोड़कर चारित्र को अंगीकार किया है, फिर भी यदि मैं शुभपरिणाम के वश होकर मोहादि का उन्मूलन (नाश) न करूँ तो मुझे शुद्धात्मा की प्राप्ति कहाँ से होगी ? अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कहाँ से होगी ? ऐसा विचार करते हैं।^१

प्रथम निर्णय किया है कि शुभ से मुक्ति नहीं, स्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति है; किन्तु शुभ अवश्य आता है, वह शुभ (भाव) रहे, तबतक मुक्ति नहीं होती। इसप्रकार विचार करके साधक जीव मोहादिक का अर्थात् शुभरागादि को मूल में से नाश करने के लिए तैयार होता है, कमर बाँधी है।^२

जो जीव समस्त सावद्य योग के प्रत्याख्यान स्वरूप परमसामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी शुभ की दोस्ती करते हैं, वे मोह को नष्ट नहीं कर सकते; दूसरे की क्या बात करना ? दूसरे तो मिथ्यात्व में

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१७४-१८५

२. वही, पृष्ठ-१८५

३. वही, पृष्ठ-१८५

पड़े हैं।^३

पाँचवें गुणस्थान में भी सामायिक होती है, किन्तु यहाँ मुनि की परमसामायिक की बात करते हैं; उनसे चारित्र की प्रतिज्ञा की है, फिर भी जो अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अचौर्य अपरिग्रहता के शुभ परिणाम होते हैं, वे धूर्त अभिसारिका (नायिका) की भाँति है।

शुभराग ठग है। हिंसा, झूठ, चोरी पाप है, अधर्म है। यह तो बड़ा ठग है; क्योंकि वह नरक का कारण है। जैसे धूर्त स्त्री प्रेमी को मिल जाए तो वह उसे बहुत पैसा देता है, इसलिए वह ठगनेवाली है। वैसे ही शुभराग भी धूर्त है। जो जीव शुभराग में मिलने जाए, उसके प्रेम में फंस जाए तो उसे लाभ नहीं होता।^४

उस जीव को महादुख संकट निकट है - ऐसे जीव निर्मल आत्मा को प्राप्त नहीं करते। इसप्रकार विचार करके मुनि मोह की सेना के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए स्वभाव सन्मुख होते हैं, पुरुषार्थ करते हैं।^५

इसप्रकार इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि जो जीव अशुभभावों को छोड़ और शुभभावों में लीन रहकर अपने को धर्मात्मा मानते हैं और ऐसा समझते हैं कि हमारा कल्याण शुभभावों से ही हो जायेगा तो वे बड़े धोखे में हैं। यदि वे शुभभाव में पड़े रहे तो एकाध भव स्वर्गादिक प्राप्त कर फिर अनंतकाल तक के लिए निगोद में जानेवाले हैं। इस बात का संकेत आचार्यदेव ने इन शब्दों में दिया है कि उनके महादुख संकट निकट है।

आज हमारी स्थिति तो यह है कि थोड़ा-सा शुभभाव होते ही हमें ऐसा लगने लगता है कि अब तो मैं धर्मात्मा हो गया; पर यहाँ तो मुनिराजों के होनेवाले शुभभावों में संतुष्ट होनेवालों को भी महादुखसंकट निकट है - यह कहा जा रहा है और उनके उस शुभभाव की तुलना धूर्त अभिसारिका

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१८६

२. वही, पृष्ठ-१८६

से की जा रही है।

अरे भाई ! शुभभाव उतना खतरनाक नहीं है, जितना कि शुभभाव में धर्म मानना और शुभभाव होने के कारण स्वयं को या पर को धर्मात्मा मानना है; क्योंकि शुभभाव तो शुभ है; किन्तु शुभभाव को धर्म मानना, उसके कारण जीवों को धर्मात्मा मानना मिथ्यात्व नामक अशुभभाव है, महापाप है।

प्रश्न – यह तो ठीक नहीं लगता; क्योंकि शुभभाव अशुभभाव से तो अच्छा है ही। अशुभभाव से तो नरकादि की प्राप्ति होती है और शुभभाव से स्वर्गादि मिलते हैं – ऐसी स्थिति में दोनों को समान कैसे माना जा सकता है ?

उत्तर – दोनों में इतना ही अन्तर रहा कि शुभभाववाला स्वर्ग और अशुभभाववाला नरक जायेगा; किन्तु स्वर्ग-नरक से आकर मिथ्यात्व के फल में निगोद तो दोनों ही जायेंगे न ? निगोद के महादुखसंकट की निकटता तो दोनों में समान ही है न ? हम यह क्यों भूल जाते हैं कि नारकी तो नरक से निकल कर नियम से सैनी पंचेन्द्रिय ही होता है; पर देवता तो मरकर एकेन्द्रिय भी हो जाते हैं।

अरे भाई ! तुम तो बहुत से बहुत अगले भव तक ही सोचते हो; उसके आगे की भी सोचो न ?

प्रश्न – और आप भी यह क्यों भूल जाते हैं कि शुभभाववाले को पाप न बंधकर पुण्य ही बंधेगा ?

उत्तर – अरे भाई ! तुम बंधने की ही बात करते हो, छूटने की तो बात ही नहीं करते। यह मनुष्यभव कर्मबंध करने के लिए नहीं मिला है, कर्मबंधन काटने के लिए मिला है। शुभभाव से कर्म बंधते हैं; कटते नहीं। कर्म काटने के लिए तो शुद्धभाव ही चाहिए।

प्रश्न – फिर भी अशुभभाववालों से तो शुभभाववाले अच्छे ही हैं

?

उत्तर – अरे भाई ! हमें किसी से अच्छे नहीं होना है, हमें सापेक्ष अच्छे नहीं होना है; हमें तो निरपेक्ष अच्छे होना है। हम अपनी तुलना आखिर पापियों से करें ही क्यों ? तुलना ही करना है तो अरहंत-सिद्ध भगवान से क्यों न करें; क्योंकि हमें उन जैसे ही बनना है। यही कारण है कि जैनदर्शन में यह कहा गया है कि – **मम स्वरूप है सिद्ध समान।**

ध्यान रहे, सिद्ध समान बनने के लिए हमें मोह का सर्वथा नाश करना होगा, चाहे वह मोह शुभभावरूप हो चाहे अशुभभावरूप।

इसलिए हम सभी का कर्तव्य यह है कि जो जिस भूमिका में है; उसे उस भूमिका के योग्य जो मोह विद्यमान है; वह उस मोह का नाश करने का उद्यम करे।

मिथ्यादृष्टियों को दर्शनमोह (मिथ्यात्व) और चारित्रमोह (राग-द्वेष) सभी विद्यमान हैं; किन्तु छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले संतों को मात्र चारित्रमोह ही है। यदि उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन न हो तो सत्ता में मिथ्यात्व भी हो सकता है। इसप्रकार सभी को अपनी-अपनी भूमिका में विद्यमान मोह के नाश के लिए कमर कस लेनी चाहिए।

यही कारण है कि आचार्यदेव आगामी ८०वीं गाथा में मोह के नाश के उपाय की ही चर्चा करते हैं।

इस गाथा के बाद आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में दो गाथाएँ प्राप्त होती हैं; जो आचार्य अमृतचन्द्रकृत की तत्त्वप्रदीपिका टीका में नहीं है।

उक्त दोनों गाथाओं में अरहंत और सिद्ध भगवान को स्मरण किया गया है। इसप्रकार वे मंगलाचरण की गाथाओं जैसी ही गाथाएँ हैं; जिसे हम मध्य मंगलाचरण भी कह सकते हैं।

आचार्य जयसेन की टीका में जो अतिरिक्त गाथाएँ अभी तक आई हैं, वे सभी गाथायें ऐसी ही हैं कि जिनमें अरहंत सिद्ध भगवान को याद

किया गया है। इसकारण उनके कारण न तो विषयवस्तु में कोई विशेष बात आती है और न उनके न होने पर विषयक्रम में कोई व्यवधान आता है।

वे गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं -

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥
तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥

(हरिगीत)

हो स्वर्ग अर अपवर्ग पथदर्शक जिनेश्वर आपही ।
लोकाग्रथित तपसंयमी सुर-असुर वंदित आपही ॥
देवेन्द्रों के देव यतिवरवृषभ तुम त्रैलोक्यगुरु ।
जो नमें तुमको वे मनुज सुख संपदा अक्षय लहें ॥

तप और संयम से सिद्ध हुए अठारह दोषों से रहित वे देव, स्वर्ग तथा मोक्षमार्ग के प्रदर्शक, देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों से पूजित तथा लोक के शिखर पर स्थित हैं।

जो देवों के भी देव हैं, देवाधिदेव हैं, मुनिवरों में श्रेष्ठ हैं और तीनलोक के गुरु हैं; उनको जो मनुष्य नमस्कार करते हैं, वे अक्षयसुख को प्राप्त करते हैं।

ये वही गाथाएँ हैं; जिनकी टीका में आचार्य जयसेन ने संयम और तप की अत्यन्त मार्मिक परिभाषाएँ दी हैं; जो इसप्रकार हैं -

“सम्पूर्ण रागादि परभावों की इच्छा के त्याग से स्वस्वरूप में प्रतपन-विजयन तप है और बाह्य में इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम के बल से शुद्धात्मा में संयमनपूर्वक समीरसी भाव से परिणमन संयम है।”

इन गाथाओं में ऐसे विशेषणों का प्रयोग है, जिनमें कुछ विशेष अरहंतों में, कुछ विशेषण सिद्धों में और कुछ विशेषण दोनों में ही पाये जाते हैं।

स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग के उपदेशक यह अरहंत का विशेषण है और लोकशिखर पर स्थित यह सिद्धों का विशेषण है; इसप्रकार इन गाथाओं में सामान्यरूप से अरहंत और सिद्ध - दोनों परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है।

दूसरी गाथा का प्रथम पद भी ध्यान देनेयोग्य है। वह है देवदेवदेवं। देवदेव माने देवों के देव अर्थात् इन्द्र-देवेन्द्र और देवदेवदेव माने देवों के देव देवेन्द्र, उनके भी देव देवेन्द्र देव अर्थात् देवदेवदेव। इसप्रकार देवदेवदेव का अर्थ हुआ देवेन्द्रों के देव अरहंत-सिद्ध भगवान।

इसीप्रकार एक पद है जदिवरवसह=यतिवरवृषभ। यति माने साधु, यतिवर माने श्रेष्ठ साधु और यतिवरवृषभ माने श्रेष्ठ साधुओं में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ। इसप्रकार दूसरी गाथा की पहली पंक्ति का अर्थ हुआ जो तीनलोक के गुरु हैं, देवेन्द्रों के भी देव हैं और साधुओं में भी श्रेष्ठतम हैं, सभी से श्रेष्ठ हैं, सभी ज्येष्ठ हैं, बड़े हैं।

इसप्रकार इन गाथाओं में स्वर्गापवर्गमार्ग के उपदेशक देवाधि-
देव अर्थात् भगवान और लोकाग्रथित सिद्धभगवान को सम्मान किया
गाथाएँ का कोई लाभ नहीं मिलता। यहाँ अपने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण
अपनापन है।

भाई, यही हालत हमारे भगवान आत्मा की हो रही है। यद्यपि वह अपना ही है, अपना ही क्या, अपन स्वयं ही भगवान आत्मा हैं, पर भगवान आत्मा में अपनापन नहीं होने से उसकी अनन्त उपेक्षा हो रही है, उसके साथ पराये बटे जैसा व्यवहार हो रहा है। वह अपने ही घर में नौकर बन कर रह गया है।

यही कारण है कि आत्मा की सुध-बुध लेने की अनन्त प्रेरणाएँ भी कारगर नहीं हो रही हैं, अपनापन आये बिना कारगर होंगी भी नहीं। इसलिए जैसे भी संभव हो, अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही एकमात्र कर्तव्य है, धर्म है।

- मैं स्वयं भगवान हूँ, पृष्ठ-३९-

प्रवचनसार गाथा-८०

यह तो आपको याद होगा ही कि ७९वीं गाथा में आचार्यदेव ने यह कहा था कि अब मैंने मोह की सेना को जीतने के लिए कमर कस ली है। अतः अब इस गाथा में मोह की सेना को जीतने का उपाय बताया जा रहा है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जो जाणदि अरहंतं द्रव्यगुणत्तपज्जयत्तेहिं।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

(हरिगीत)

द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को।

वे जानते निज आत्मा दृग्मोह उनका नाश हो ॥८०॥

जो अरहंत भगवान को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है; वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय (नाश) को प्राप्त होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है; वह वस्तुतः अपने आत्मा को जानता है; क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है।

अरहंत का स्वरूप अन्तिम ताव को प्राप्त होनेवाले सोने के स्वरूप की भाँति, सर्वप्रकार से स्पष्ट है; इसलिए उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है।

अन्वय द्रव्य है, अन्वय के विशेषण गुण हैं और अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्याय हैं। सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहंत में (अरहंत के स्वरूप का

ज्ञान होने पर) जीव तीनों प्रकार युक्त (द्रव्य-गुण-पर्यायमय) अपने आत्मा को अपने मन से जान लेता है।

जैसे ‘यह चेतन है’ इसप्रकार का अन्वय द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला ‘चैतन्य’ विशेषण गुण है और एक समयमात्र की मर्यादावाला कालपरिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त अन्वय के व्यतिरेक पर्याय हैं; जो चिद्विवर्तन की ग्रन्थियाँ (गाठें) हैं।

इसप्रकार त्रैकालिक आत्मा को भी एक काल में जान लेनेवाला यह जीव; जिसप्रकार मोतियों को झूलते हुए हार के अन्तर्गत माना जाता है; उसीप्रकार चिद्विवर्तों का चेतन में ही संक्षेपण करके तथा विशेषण-विशेष्यता की वासना का अन्तर्धान होने से जिसप्रकार सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है; उसीप्रकार चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके जिसप्रकार मात्र हार को जाना जाता है; उसीप्रकार केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है; इसलिए निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है।

इसप्रकार मणि की भाँति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है - ऐसे उस चिन्मात्र भाव को प्राप्त जीव में मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्य ही प्रलय को प्राप्त होता है।

यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।”

यह गाथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसमें मोह के नाश का उपाय बताया गया है। इसकी यह तत्त्वप्रदीपिका टीका भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस टीका का भाव भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

“अरहंत भगवान और अपना आत्मा निश्चय से समान है। अरहंत भगवान मोह-राग-द्वेषरहित होने से उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है; इसलिए यदि जीव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उस (अरहंत भगवान के) स्वरूप को

मन के द्वारा प्रथम समझ ले तो 'यह जो आत्मा, आत्मा का एकरूप (कथंचित् सदृश) त्रैकालिक प्रवाह है सो द्रव्य है, उसका जो एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेषण है, सो गुण है और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं सो पर्यायें हैं' - इसप्रकार अपना आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से मन के द्वारा ज्ञान में आता है।

इसप्रकार त्रैकालिक निज आत्मा को मन के द्वारा ज्ञान में लेकर जैसे मोतियों को और सफेदी को हार में ही अन्तर्गत करके मात्र हार ही जाना जाता है; उसीप्रकार आत्म-पर्यायों को और चैतन्यगुण को आत्मा में ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होता जाता है; इसलिए जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है और उससे दर्शनमोह निराश्रय होता हुआ नष्ट हो जाता है। **यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय प्राप्त कर लिया है - ऐसा कहा है।**'

आचार्य जयसेन इस गाथा का अर्थ करते हुए आगम और अध्यात्म - दोनों अपेक्षाओं को स्पष्ट करते हैं।

वे लिखते हैं - "केवलज्ञानादि विशेष गुण और अस्तित्वादि सामान्य गुण, परमौदारिक शरीराकाररूप जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान (आकार) वह व्यंजनपर्याय और अगुरुलघुगुण की षट्बृद्धि-हानिरूप से प्रतिसमय होनेवाली अर्थपर्यायें - इन लक्षणवाले गुण-पर्यायों का आधारभूत अमूर्त असंख्यातप्रदेशी शुद्ध चैतन्य के अन्वयरूप द्रव्य है।

इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय को अरहंत परमात्मा में जानकर निश्चय-नय से आगम के सारभूत अध्यात्मभाषा की अपेक्षा स्वशुद्धात्मभावना के सम्मुखरूप सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से उसीप्रकार आगमभाषा की अपेक्षा अधःप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक दर्शनमोह के क्षय में समर्थ परिणामविशेष के बल से अपने आपको आत्मा में जोड़ता है।

इसप्रकार निर्विकल्पस्वरूप प्राप्त होने पर जैसे अभेदनय से पर्याय-स्थानीय मोती और गुणस्थानीय सफेदी हार ही है; उसीप्रकार अभेदनय से पूर्वोक्त द्रव्य-गुण-पर्याय आत्मा ही है।

इसप्रकार परिणमित होता हुआ दर्शनमोहरूप अंधकार विनाश को प्राप्त होता है।''

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी **मनहरण** जैसे चार बड़े छन्दों एवं एक हरिगीतिका में प्रस्तुत करते हैं; जो मूलतः पठनीय है। इन छन्दों में उन्होंने तत्त्वप्रदीपिका और तात्पर्यवृत्ति - दोनों टीकाओं के भाव को समाहित करने का पूरा-पूरा प्रयास किया है; जिसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इसमें स्वरूप की असावधानी और परपदार्थ के प्रति सावधानीरूप मोह को जीतने का उपाय बताया है।^१

पुण्य-पाप की सावधानी का भाव और ज्ञानानन्दस्वभाव की असावधानी का भाव मिथ्यात्व है। यहाँ परजीव को बचाने अथवा मारने की बात नहीं है; क्योंकि आत्मा परजीव को बचा अथवा मार नहीं सकता तथा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे छोड़कर पैसे को मिलाऊँ और प्रतिकूलता न हो तो ठीक है, अनुकूलता हो तो ठीक है; इसप्रकार पर के प्रति सावधानी भाव होता है, उसे कैसे जीतना ? वह बताते हैं।^२

आचार्य को स्वयं तो सम्यग्दर्शन हुआ है; किन्तु जगत के लिए इसके उपाय का विचार करते हैं।^३

अरहन्त और आत्मा समान हैं। अन्तरंग स्वभाव में फेर (अन्तर) नहीं है, पर्याय में फेर है। संसारी को अल्पज्ञता और राग-द्वेष हैं और

भगवान को सर्वज्ञता और वीतरागता है, शेष स्वभाव में अन्तर नहीं है, यह यहाँ स्पष्ट करते हैं।^१

अरहन्त के आत्मा में और मेरी आत्मा में निश्चय से तफावत् (अन्तर) नहीं है। जो वास्तव में अरहन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है अर्थात् कि मेरे आत्मा का द्रव्य-गुण इन्हीं के समान है। जैसी अरहन्त को पूर्ण पर्याय प्रगट हुई है; वैसी ही मुझे प्रगट करना है।^२

जहाँ-जहाँ भी जिस चेतन की अथवा जिस जड़ की जो अवस्था होनेवाली है, वह भगवान के ज्ञान में प्रत्यक्ष वर्तती (जानने में आती) है। अहो! केवलज्ञान की इतनी ताकत! एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जाने - ऐसी ताकत की प्रतीति होने पर स्वभाव सन्मुख हो, उसका मोह नाश को प्राप्त होता है।^३

जैसे प्रत्येक लेंडीपीपर में चौंसठ पुटी ताकत है; वैसे ही प्रत्येक आत्मा में पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दृष्टापना, पूर्ण शान्तरस, उपशम अनन्त रस भरा पड़ा है। अहो! प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है। वर्तमान दशा में अटका है; इसलिए पर्याय से अन्तर दिखाई देता है; किन्तु स्वभाव से अन्तर नहीं है। जिसने अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना, उसने आत्मा को जाना है।^४

जैसे सोना द्रव्य है, पीलापन आदि उसके विशेषण हैं और जो कड़ा, कुण्डल, अंगूठी आदि बनती है, उसे अवस्था कहते हैं; वैसे ही आत्मा कायम रहनेवाला द्रव्य कहलाता है, ज्ञान-दर्शन आदि उसके गुण कहलाते हैं और समय-समय होनेवाली उनकी अवस्थाएँ हैं, वे व्यतिरेक कहलाती हैं। जैसे सोने में कड़ा अंगूठी का भेद पड़ता है; इसलिए उसे व्यतिरेक कहा है; वैसे ही आत्मा में विकारी अथवा अविकारी दशा व्यतिरेक है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१९०

३. वही, पृष्ठ-१९२

२. वही, पृष्ठ-१९१

४. वही, पृष्ठ-१९३-१४

अरहन्त भगवान का केवलज्ञान अविकारी दशा है, वह व्यतिरेक है। आत्मा की नई-नई अवस्था होती है, उसे पर्याय कहते हैं।^१

अरहन्त का स्वरूप एकदम (पूर्ण) स्पष्ट है, उनको अपूर्णता नहीं रही। अरहन्त का स्वरूप जानने पर निज आत्मा का ज्ञान होता है और इससे सभी आत्मा का ज्ञान होता है। भले ही वह अज्ञानी पर्याय में अटका है, किन्तु सभी का स्वभाव तो सर्वज्ञ होने का है - ऐसी प्रतीति होती है।^२

यह गाथा अलौकिक गाथा है। चौदह पूर्व और बारह अंग में यही बात कहना है। जब भी आत्मा को इस विधि से ग्रहण करे, तब सम्यग्दर्शन होता है।^३

प्रथम पर्यायों को संक्षेप करता है। जैसे मोतियों को झूलते हुए हार में संक्षेपन किया जाता है, वैसे ही आत्मा की पर्याय को आत्मा में ही द्रव्य की ओर झुकाते हैं। परिणामित होनेवाले आत्मा में पर्याय को अन्तर्हित करते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की अंतरंग क्रिया है।^४

पर्याय द्रव्य की ओर झुकने पर गुण-गुणी की कल्पना नाश को प्राप्त होती है, यह सच्ची धार्मिक क्रिया है।^५

जैसे सफेदी के सामने नहीं देखने पर सफेदी अदृश्य हो गई; वैसे ही चैतन्य को चेतन में अंतर्हित करता है। पर्याय, स्वभाव की ओर झुकने पर गुण-गुणी भेद नहीं रहा, फिर भी कहा कि चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करते हैं। इसप्रकार अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, उसको क्षायिक समकित होता है - ऐसा कहते हैं।^६

यह बात सर्वप्रथम श्रवण करे, बारम्बार विचार करे और निर्णय करे। यह सम्यग्दर्शन की पहली क्रिया है।

आत्मा वस्तु है, उसके गुण है और उसकी भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-१९५-९६

२. वही, पृष्ठ-१९६

३. वही, पृष्ठ-१९८

४. वही, पृष्ठ-१९९

५. वही, पृष्ठ-१९९

६. वही, पृष्ठ-१९९

पर्याय को आत्मा की तरफ झुकाए तो वहाँ गुण-गुणी भेद नहीं रहता; यहाँ इस बात को क्रम से समझाते हैं।

यदि कोई मोती के दाने और सफेदी का विचार करे तो उसे हार पहनने का सुख नहीं आता। वैसे द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद के विचार में अटकने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसप्रकार की जानकारी, मनन और स्वाध्याय होना चाहिए। अंतर में झुकने से धर्म होता है; जो इस विधि को नहीं जानता, उसका वीर्य अन्य काम किया करता है।^१

यह चौथे गुणस्थान को प्राप्त करने के समय की बात चलती है। इसका बारम्बार स्वाध्याय करना चाहिए। इसके बदले अज्ञानी जीव विपरीतता में चला जाता है।^२

अरहन्त भगवान आदर्श हैं, उन्हें मुमुक्षु जीव ज्ञान में लेकर अपने साथ मिलान करते हैं।^३

जैसे मोती के प्रत्येक दाने को और सफेदी को हार में अन्तर्गत करने पर मात्र हार ही जाना जाता है; वैसे ही आत्मा की पर्यायों को और गुणों को आत्मा में ही अंतर्गर्भित करते हैं। दोनों एक ही साथ अंतर्गर्भित होते हैं।

१. आत्मा परिणमित होनेवाला है - ऐसा भेद।

२. यह मेरा परिणाम है - ऐसा भेद।

३. पूर्व अवस्था बदलकर नई अवस्था होती है - ऐसा भेद।

ऐसे तीनप्रकार के भेद स्वभावसन्मुख दशा होने पर नाश को प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि स्वभावसन्मुख होने पर भेदबुद्धि दूर हो जाती है। यही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय है। साधक को भी शुभराग आता है; किन्तु वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है।^४

जिसने अरहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जाना है,

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२००

३. वही, पृष्ठ-२०२

२. वही, पृष्ठ-२०१

४. वही, पृष्ठ-२०३

वह जीव अल्पकाल में मुक्ति का पात्र हुआ है। अरहन्त भगवान आत्मा हैं, उसमें अनंत गुण हैं, उनकी केवलज्ञानादि पर्याय है, उसके निर्णय में आत्मा के अनंतगुण और पूर्ण पर्याय की सामर्थ्य का निर्णय आ जाता है। उस निर्णय के बल से अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसमें संदेह को कहीं स्थान नहीं है।^१

अरहन्त के जितने द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उतने ही द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे हैं। अरहन्त को पर्यायशक्ति परिपूर्ण है तो मेरी पर्याय की शक्ति भी परिपूर्ण ही है, वर्तमान में उस शक्ति को रोकनेवाला जो विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है।^२

उस निर्णय करनेवाले ने केवलज्ञान की परिपूर्ण शक्ति को अपनी पर्याय की स्व-परप्रकाशक शक्ति में समाविष्ट कर लिया है, मेरे ज्ञान की पर्याय इतनी शक्तिसंपन्न है कि निमित्त की सहायता के बिना और पर के लक्ष्य बिना केवलज्ञानी अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को समा लेती है, निर्णय में ले लेती है।^३

यदि देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थतया पहचान ले तो उसे अपने आत्मा की पहचान अवश्य हो जाय और उसका दर्शनमोह निश्चय से क्षय हो जाय।^४

द्रव्य-गुण तो सदा शुद्ध ही हैं, किन्तु पर्याय की शुद्धि करनी है; पर्याय की शुद्धि करने के लिए यह जान लेना चाहिए कि द्रव्य, गुण, पर्याय की शुद्धता का स्वरूप कैसा है? अरिहन्त भगवान का आत्मा द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों प्रकार से शुद्ध है और अन्य आत्मा पर्याय की अपेक्षा से पूर्ण शुद्ध नहीं है; इसलिए अरहन्त का स्वरूप जानने को कहा है। जिसने अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप पदार्थ को जाना है, उसे शुद्ध स्वभाव

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३३५

३. वही, पृष्ठ-३३९

२. वही, पृष्ठ-३३७

४. वही, पृष्ठ-३४०

की प्रतीति हो गई है अर्थात् उसकी पर्याय शुद्ध होने लगी है और उसका दर्शनमोह नष्ट हो गया है।^१

अरहंत के समान ही इस आत्मा का पूर्ण शुद्धस्वभाव स्थापित करके उसे जानने की बात कही है। पहले, जो पूर्ण शुद्धस्वभाव को जाने उसके धर्म होता है, किन्तु जो जानने का पुरुषार्थ ही न करे उसके तो कदापि धर्म नहीं होता अर्थात् यहाँ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही हैं तथा सत् निमित्त के रूप में अरिहंतदेव ही हैं, यह बात भी इससे ज्ञात हो गई।

चाहे सौ टंची सोना हो, चाहे पचास टंची हो, दोनों का स्वभाव समान है; किन्तु दोनों की वर्तमान अवस्था में अन्तर है। पचास टंची सोने में अशुद्धता है, उस अशुद्धता को दूर करने के लिए उसे सौ टंची सोने के साथ मिलाना चाहिए। यदि उसे ७५ टंची सोने के साथ मिलाया जाय तो उसका वास्तविक शुद्धस्वरूप ख्याल में नहीं आयेगा और वह कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा। यदि सौ टंची सोने के साथ मिलाया जाय तो सौ टंची शुद्ध करने का प्रयत्न करे, किन्तु यदि ७५ टंची सोने को ही शुद्ध सोना मान ले तो वह कभी शुद्ध सोना प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ही है; किन्तु वर्तमान अवस्था में अशुद्धता है। अरहंत और इस आत्मा के बीच वर्तमान अवस्था में अन्तर है। वर्तमान अवस्था में जो अशुद्धता है, उसे दूर करना है; इसलिए भगवान के पूर्ण शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ मिलान करना चाहिए।^२

जो अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा अरहंत की प्रतीति करता है, उसे अपने आत्मा की प्रतीति अवश्य हो जाती है और फिर अपने स्वरूप की ओर एकाग्रता करते-करते केवलज्ञान हो जाता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ करके केवलज्ञान प्राप्त करने तक का अप्रतिहत उपाय बता दिया गया है।^३

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३४३

२. वही, पृष्ठ-३४४-३४५

३. वही, पृष्ठ-३४५-३४६

अरहंत और अन्य आत्माओं के स्वभाव में निश्चय से कोई अंतर नहीं है, अरहंत का स्वरूप अंतिम शुद्धदशारूप है; इसलिए अरहंत का ज्ञान करने पर समस्त आत्माओं के शुद्धस्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है। स्वभाव से सभी आत्मा अरहंत के समान हैं; परन्तु पर्याय में अन्तर है।^१

जो पहले और बाद के सभी परिणामों में स्थिर बना रहता है, वह द्रव्य है। परिणाम तो प्रतिसमय एक के बाद एक नये-नये होते हैं। सभी परिणामों में लगातार एक-सा रहनेवाला द्रव्य है। पहले भी वही था और बाद में भी वही है; इसप्रकार पहले और बाद का जो एकत्व है, सो अन्वय है और जो अन्वय है सो द्रव्य है।

अरहंत के संबंध में पहले अज्ञानदशा थी, फिर ज्ञानदशा प्रकट हुई, इस अज्ञान और ज्ञान दोनों दशाओं में जो स्थिररूप में विद्यमान है, वह आत्मद्रव्य है। जो आत्मा पहले अज्ञानरूप था, वही अब ज्ञानरूप है। इसप्रकार पहले और बाद के जोड़रूप जो पदार्थ है, वह द्रव्य है। पर्याय पहले और पश्चात् की जोड़रूप नहीं होती, वह तो पहले और बाद की अलग-अलग (व्यतिरेकरूप) होती है और द्रव्य पूर्व पश्चात् के संबंधरूप (अन्वयरूप) होता है। जो एक अवस्था है, वह दूसरी नहीं होती और जो दूसरी अवस्था है, वह तीसरी नहीं होती, इसप्रकार अवस्था में पृथक्त्व है; किन्तु जो द्रव्य पहले समय में था, वही दूसरे समय में है और जो दूसरे समय में था, वही तीसरे समय में है, इसप्रकार द्रव्य में लगातार सादृश्य है।^२

अरहंत की पहले की और बाद की अवस्था में जो स्थिर रहता है, वह आत्मद्रव्य है - यह कहा है, परन्तु यह भी जान लेना चाहिए कि आत्मद्रव्य कैसा है? आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है, चारित्ररूप है; इसप्रकार आत्मद्रव्य के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र विशेषण लागू होते हैं; इसलिए ज्ञान आदि आत्मद्रव्य के गुण हैं। द्रव्य की शक्ति को गुण कहा

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३४६

२. वही, पृष्ठ-३५५

जाता है। आत्मा चेतन द्रव्य है और चैतन्य उसका विशेषण है। परमाणु में जो पुद्गल है सो द्रव्य है और वर्ण, गन्ध इत्यादि उसके विशेषण गुण हैं।^१

अरहंत आत्मद्रव्य हैं और उस आत्मा में अनन्त सहवर्ती गुण हैं, वैसा ही मैं भी आत्मद्रव्य हूँ और मुझमें वे सब गुण विद्यमान हैं। इसप्रकार जो अरहंत के आत्मा को द्रव्य-गुणरूप में जानता है, वह अपने आत्मा को भी द्रव्य-गुणरूप में जानता है। द्रव्य-गुण तो जैसे अरहंत के हैं, वैसे ही सभी आत्माओं के सदा एकरूप हैं। द्रव्य-गुण में कोई अंतर नहीं है, अवस्था में संसार मोक्ष है।^२

पर्याय का स्वभाव व्यतिरेकरूप है अर्थात् एक पर्याय के समय दूसरी पर्याय नहीं होती। गुण और द्रव्य सदा एकसाथ होते हैं; किन्तु पर्याय एक के बाद दूसरी होती है। अरहंत भगवान के केवलज्ञान पर्याय है, तब उनके पूर्व की अपूर्ण ज्ञानदशा नहीं होती। वस्तु के जो एक-एक समय के भिन्न-भिन्न भेद हैं सो पर्याय है। कोई भी वस्तु पर्याय के बिना नहीं हो सकती।

आत्मद्रव्य स्थिर रहता है और उसकी पर्याय बदलती रहती है। द्रव्य और गुण एकरूप हैं, उनमें भेद नहीं है; किन्तु पर्याय में अनेकप्रकार से परिवर्तन होता है; इसलिए पर्याय में भेद है। पहले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप भिन्न-भिन्न बताकर फिर तीनों का अभेद द्रव्य में समाविष्ट कर दिया है। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय की परिभाषा पूर्ण हुई।^३

अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को भलीभाँति जान लेना ही धर्म है। अरहंत भगवान के द्रव्य, गुण, पर्याय को जाननेवाला जीव अपने आत्मा को भी जानता है। उसे जाने बिना दया, भक्ति, पूजा, तप, व्रत, ब्रह्मचर्य या शास्त्राभ्यास इत्यादि सब कुछ करने पर भी धर्म नहीं होता

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३५६

२. वही, पृष्ठ-३५७

३. वही, पृष्ठ-३५७-३५८

और मोह दूर नहीं होता। इसलिए पहले अपने ज्ञान के द्वारा अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय करना चाहिए, यही धर्म करने के लिए प्रारम्भिक कर्तव्य है।^१

अरहंत भगवान का स्वरूप सर्वतः विशुद्ध है अर्थात् वे द्रव्य से गुण से और पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध हैं; इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय से उनके स्वरूप को जानने पर उस जीव की समझ में यह आ जाता है कि अपना स्वरूप द्रव्य से, गुण से, पर्याय से कैसा है।

इस आत्मा का और अरहंत का स्वरूप परमार्थतः समान है; इसलिए जो अरहंत के स्वरूप को जानता है, वह अपने स्वरूप को जानता है और जो अपने स्वरूप को जानता है, उसके मोह का क्षय हो जाता है।^२

जिसने अपने ज्ञान के द्वारा अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष्य में लिया है, उस जीव को अरहंत का विचार करने पर परमार्थ से अपना ही विचार आता है। अरहंत के द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था सम्पूर्ण ज्ञानमय है, सम्पूर्ण विकार रहित है, ऐसा निर्णय करने पर यह प्रतीति होती है कि अपने द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था संपूर्ण ज्ञानरूप, विकार रहित होनी चाहिए।^३

यद्यपि यहाँ विकल्प है तथापि विकल्प के द्वारा जो निर्णय कर लिया है, उस निर्णयरूप ज्ञान में से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है।^४

जिसने मन के द्वारा आत्मा का निर्णय किया है। उसकी सम्यक्त्व के सन्मुख दशा हो चुकी है।^५

पर्याय को चिद्विवर्तन की ग्रन्थि क्यों कहा है? पर्याय स्वयं तो एक समय मात्र के लिए है; परन्तु एक समय की पर्याय से त्रैकालिक द्रव्य को जानने की शक्ति है। एक ही समय की पर्याय में त्रैकालिक द्रव्य का निर्णय समाविष्ट हो जाता है। पर्याय की ऐसी शक्ति बताने के लिए उसे चिद्विवर्तन

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३५८

२. वही, पृष्ठ-३५८

३. वही, पृष्ठ-३५८

४. वही, पृष्ठ-३५९

५. वही, पृष्ठ-३५९

की ग्रन्थि कहा है।

अरहंत को केवलज्ञानदशा होती है, जो केवलज्ञानदशा है सो चिद्विवर्तन की वास्तविक ग्रन्थि है। जो अपूर्ण ज्ञान है सो स्वरूप नहीं है। केवलज्ञान होने पर एक ही पर्याय में लोकालोक का पूर्ण ज्ञान समाविष्ट हो जाता है, मति-श्रुत पर्याय में भी अनेकानेक भावों का निर्णय समाविष्ट हो जाता है।^१

अरहंत के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जाननेवाला जीव त्रैकालिक आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से एक क्षण में समझ लेता है। बस ! यहाँ आत्मा को समझ लेने तक की बात की है, वहाँ तक विकल्प है, विकल्प के द्वारा आत्मलक्ष्य किया है, अब उस विकल्प को तोड़कर द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद को छोड़कर अभेद आत्मा का लक्ष्य करने की बात कहते हैं। इस अभेद का लक्ष्य करना ही अरहंत को जानने का सच्चा फल है और जब अभेद का लक्ष्य करता है, तब उसी क्षण मोह का क्षय हो जाता है।

जिस अवस्था के द्वारा अरहंत को जानकर त्रैकालिक द्रव्य का ख्याल किया, उस अवस्था में जो विकल्प होता है, वह अपना स्वरूप नहीं है; किन्तु जो ख्याल किया है, वह अपना स्वभाव है। ख्याल करनेवाला जो ज्ञान है, वह सम्यक्ज्ञान की जाति का है, किन्तु अभी पर का लक्ष्य है; इसलिए यहाँ तक सम्यग्दर्शन प्रगटरूप नहीं है। अब उस अवस्था को परलक्ष से हटाकर स्वभाव में संकलित करता है-भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन को प्रगटरूप करता है। जैसे मोती का हार झूल रहा हो तो उस झूलते हुए हार को लक्ष्य में लेने पर उसके पहले से अन्त तक के सभी मोती उस हार में ही समाविष्ट हो जाते हैं और हार तथा मोतियों का भेद लक्ष्य में नहीं आता। यद्यपि प्रत्येक मोती पृथक्-पृथक्

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३६०-३६१

है; किन्तु जब हार को देखते हैं, तब एक एक मोती का लक्ष्य छूट जाता है; परन्तु पहले हार का स्वरूप जानना चाहिए कि हार में अनेक मोती हैं और हार सफेद है, इसप्रकार पहले हार, हार का रंग और मोती इन तीनों का स्वरूप जाना हो तो उन तीनों को झूलते हुए हार में समाविष्ट करके हार को एकरूप से लक्ष्य में लिया जा सकता है, मोतियों का जो लगातार तारतम्य है सो हार है। प्रत्येक मोती उस हार का विशेष है और उन विशेषों को यदि एक सामान्य में संकलित किया जाय तो हार का लक्ष्य में आता है। हार की तरह आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानकर पश्चात् समस्त पर्यायों को और गुणों को एक चैतन्य द्रव्य में ही अन्तर्गत करने पर द्रव्य का लक्ष्य होता है और उसी क्षण सम्यग्दर्शन प्रगट होकर क्षय हो जाता है।

यहाँ झूलता हुआ अथवा लटकता हुआ हार इसलिए लिया है कि वस्तु कूटस्थ नहीं है; किन्तु प्रतिसमय झूल रही है अर्थात् प्रत्येक समय में द्रव्य में परिणामन हो रहा है। जैसे हार के लक्ष्य से मोती का लक्ष्य छूट जाता है, उसीप्रकार द्रव्य के लक्ष्य से पर्याय का लक्ष्य छूट जाता है। पर्यायों में बदलनेवाले के लक्ष्य से समस्त परिणामों को उसमें अन्तर्गत किया जाता है। पर्याय की दृष्टि से प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न है, किन्तु जबतक द्रव्य की दृष्टि से देखते हैं, तब समस्त पर्यायें उसमें अंतर्गत हो जाती हैं। इसप्रकार आत्मद्रव्य को ख्याल में लेना ही सम्यग्दर्शन है।^१

पहले सामान्य-विशेष (द्रव्य-पर्याय) को जानकर फिर विशेषों को सामान्य में अंतर्गत किया जाता है; किन्तु जिसने सामान्य-विशेष का स्वरूप न जाना हो, वह विशेष को सामान्य में अंतर्लीन कैसे करे ?

पहले अज्ञान के कारण द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद करता था, इसलिए उन भेदों के आश्रय से मोह रह रहा था; किन्तु जहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय को अभेद किया, वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद दूर हो जाने से मोह क्षय को प्राप्त होता है। द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता ही धर्म है और द्रव्य-गुण-

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३६३

पर्याय के बीच भेद ही अधर्म है।

पृथक्-पृथक् मोती विस्तार है, क्योंकि उनमें अनेकत्व है और सभी मोतियों के अभेद रूप में जो एक हार है, सो संक्षेप है। जैसे पर्याय के विस्तार को द्रव्य में संकलित कर दिया, उसीप्रकार विशेष्य-विशेषणपने की वासना को भी दूर करके, गुण को भी द्रव्य में ही अंतर्हित करके मात्र आत्मा को ही जानना और इसप्रकार आत्मा को जानने पर मोह का क्षय हो जाता है। पहले यह कहा था कि 'मन के द्वारा जान लेता है' किन्तु वह जानना विकल्प सहित था और यहाँ जो जानने की बात कही है, वह विकल्प रहित अभेद का जानना है। इस जानने के समय पर का लक्ष्य तथा द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का लक्ष्य छूट चुका है।

यहाँ (मूल टीका में) द्रव्य, गुण, पर्याय को अभेद करने से संबंधित पर्याय और गुण के क्रम से बात की है। पहले कहा है कि 'चिद्विवर्तों को चेतन में ही संक्षिप्त करके' और फिर कहा है कि 'चैतन्य को चेतन में ही अंतर्हित करके' यहाँ पर पहले कथन में पर्याय को द्रव्य के साथ अभेद करने की बात है और दूसरे में गुण को द्रव्य के साथ अभेद करने की बात है। इसप्रकार पर्याय को और गुण को द्रव्य में अभेद करने की बात क्रम से समझाई है; किन्तु अभेद का लक्ष्य करने पर वे क्रम नहीं होते। जिस समय अभेद द्रव्य की ओर ज्ञान झुकता है, उसीसमय पर्यायभेद और गुणभेद का लक्ष्य एकसाथ दूर हो जाता है; समझाने में तो क्रम से ही बात आती है।^१

हार में पहले तो मोती का मूल्य उसकी चमक और हार की गुथाई को जानता है, पश्चात् मोती का लक्ष्य छोड़कर 'यह हार सफेद है' इसप्रकार गुण-गुणी के भेद से हार को लक्ष में लेता है और फिर मोती, उसकी सफेदी और हार - इन तीनों के संबंध के विकल्प छूटकर मोती और उसकी सफेदी को हार में ही अदृश्य करके मात्र हार का ही अनुभव किया

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३६४-३६५

जाता है; इसीप्रकार पहले अरहंत का निर्णय करके द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जाने कि ऐसी पर्याय मेरा स्वरूप है, ऐसे मेरे गुण हैं और मैं अरहंत जैसा ही आत्मा हूँ। इसप्रकार विकल्प के द्वारा जानने के बाद पर्याय में अनेक भेद का लक्ष्य छोड़कर 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ' इसप्रकार गुण-गुणी भेद के द्वारा आत्मा को लक्ष में ले और फिर द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी विकल्पों को छोड़कर मात्र आत्मा का अनुभव करने के समय वह गुण-गुणी भेद भी गुप्त हो जाता है अर्थात् ज्ञानगुण आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है, इसप्रकार केवल आत्मा का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है।^२

इसीप्रकार आत्मस्वरूप को समझनेवाला समझते समय तो द्रव्य-गुण-पर्याय - इन तीनों के स्वरूप का विचार करता है; परन्तु बाद में गुण और पर्याय को द्रव्य में समाविष्ट करके उनके ऊपर का लक्ष छोड़कर मात्र आत्मा को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो द्रव्य का स्वरूप ख्याल में आने पर भी गुण पर्याय संबंधी विकल्प रहने से द्रव्य का अनुभव नहीं कर सकेगा।

हार आत्मा है, सफेदी ज्ञानगुण है और मोती पर्याय है। इसप्रकार दृष्टांत और सिद्धान्त का संबंध समझना चाहिए। द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जानने के बाद मात्र अभेद स्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही धर्म की प्रथम क्रिया है। इसी क्रिया से अनन्त अरहंत तीर्थकर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके केवलज्ञान और मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं। वर्तमान में भी मुमुक्षुओं के लिए यही उपाय है और भविष्य में जो अनन्त तीर्थकर होंगे वे सब इसी उपाय से होंगे।^३

पहले विकल्प के समय मैं कर्ता हूँ और पर्याय मेरा कार्य है, इसप्रकार कर्ता-कर्म का भेद होता था, किन्तु जब पर्याय को द्रव्य में ही मिला

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३६५

२. वही, पृष्ठ-३६५-३६६

दिया, तब द्रव्य और पर्याय के बीच कोई भेद नहीं रहा अर्थात् द्रव्य कर्ता और पर्याय उसका कार्य है - ऐसे भेद का अभेद के अनुभव के समय क्षय हो जाता है।

पर्यायों को और गुणों को अभेदरूप से आत्मद्रव्य में ही समाविष्ट करके परिणामी, परिणाम और परिणति (कर्ता-कर्म और क्रिया) को अभेद में समाविष्ट करके अनुभव करना सो अनन्त पुरुषार्थ है और यही ज्ञान का स्वभाव है।^१

वास्तव में तो जिससमय अभेदस्वभाव की ओर झुकते हैं, उसीसमय कर्ता-कर्म-क्रिया का भेद टूट जाता है, तथापि यहाँ 'उत्तरोत्तर क्षण में क्षय होता जाता है' - ऐसा कहा है?^२

सम्यक्त्व हुआ सो हुआ, अब उत्तरोत्तर क्षण में द्रव्य-पर्याय के बीच के भेद को सर्वथा तोड़कर केवलज्ञान को प्राप्त किए बिना नहीं रुकता।^३

कर्ता-कर्म और क्रिया का भेद नहीं है तथा कर्ता-कर्म-क्रिया संबंधी विकल्प नहीं है, इस अपेक्षा से 'निष्क्रिय' कहा गया है; परन्तु अनुभव के समय अभेदरूप से परिणति तो होती रहती है। पहले जब परलक्ष्य से द्रव्य पर्याय के बीच भेद होते थे, तब विकल्परूप क्रिया थी; किन्तु निज द्रव्य के लक्ष्य से एकाग्रता करने पर द्रव्य-पर्याय के बीच का भेद टूटकर दोनों अभेद हो गए, इस अपेक्षा से चैतन्यभाव को निष्क्रिय कहा है। जानने के अतिरिक्त जिसकी अन्य कोई क्रिया नहीं है - ऐसे ज्ञानमात्र निष्क्रियभाव को इस गाथा में कथित उपाय के द्वारा ही जीव प्राप्त कर सकता है।^४

अभेद अनुभव के द्वारा 'चिन्मात्रभाव को प्राप्त करता है' यह बात अस्ति की अपेक्षा से कही अब चिन्मात्रभाव को प्राप्त करने पर 'मोह नाश को प्राप्त होता है' इसप्रकार नास्ति की अपेक्षा से बात करते हैं। चिन्मात्रभाव

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३६७

२. वही, पृष्ठ-३६७

४. वही, पृष्ठ-३६८

३. वही, पृष्ठ-३६७-६८

५. वही, पृष्ठ-३६८

की प्राप्ति और मोह का क्षय यह दोनों एक ही समय में होते हैं।^५

आचार्यदेव अपने स्वभाव की निःशंकता से कहते हैं कि भले ही इस काल में क्षायिक सम्यक्त्व और साक्षात् भगवान अरहंत का योग नहीं है; तथापि मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया।^६

मोह का नाश करने के लिए न तो परजीवों की दया पालन करने को कहा है और न पूजा, भक्ति करने का ही आदेश दिया है; किन्तु यह कहा है कि अरहंत का और अपने आत्मा का निर्णय करना ही मोह क्षय का उपाय है। पहले आत्मा की प्रतीति न होने से अपनी अनन्त हिंसा करता था और अब यथार्थ प्रतीति करने से अपनी सच्ची दया प्रगट हो गई है और स्व हिंसा का महापाप दूर हो गया है।^७

यहाँ सर्वज्ञ का निर्णय किया कि वहाँ त्रिकाली क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। वास्तव में तो मेरे स्वभाव में जो क्रमबद्ध अवस्था है, उसी को केवलज्ञानी ने जाना है। ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसी ने अपने स्वभाव की प्रतीति की है।^८

जिसने अरहंत जैसे ही अपने स्वभाव का विश्वास करके क्रमबद्धपर्याय और केवलज्ञान को स्वभाव में अन्तर्गत किया है, उसे क्रमबद्धपर्याय में केवलज्ञान होता है।^९

अरहंत अपने पुरुषार्थ के बल से ही कर्म का क्षय करके पूर्ण दशा को प्राप्त हुए हैं। उसीप्रकार मैं भी अपने पुरुषार्थ के बल से ही कर्म का क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त होऊँगा, बीच में कोई विघ्न नहीं है।

जो अरहंत की प्रतीति करता है, वह अवश्य अरहंत होता है।^{१०}

इस गाथा में मोह के नाश करने का उपाय बताया गया है। मोह दो प्रकार का होता है - १. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह। दर्शनमोह में

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३७१

३. वही, पृष्ठ-३७१

४. वही, पृष्ठ-३७२

२. वही, पृष्ठ-३७१

५. वही, पृष्ठ-३७२

मूलतः मिथ्यात्व आता है और चारित्रमोह में राग-द्वेष अर्थात् २५ कषायें आती हैं।

यहाँ मुख्यतः दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व के नाश की बात है। इस गाथा में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जो आत्मा को जानता है, उसका मोह (मिथ्यात्व) नाश को प्राप्त हो जाता है।

इसप्रकार यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के अभाव के लिए, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए निज भगवान आत्मा को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न – गाथा में अरहंत भगवान को जानने की बात है और आप आत्मा को जानने की बात कह रहे हैं ?

उत्तर – मोह के नाश के लिए तो आत्मा को ही जानना आवश्यक है; किन्तु आत्मा को जानने के लिए अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मा और परमात्मा – दोनों का जानना आवश्यक ही है।

एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि टीका में हेतु के रूप में कहा गया कि आत्मा (अपना आत्मा) और परमात्मा (अरहंत-सिद्ध) में कोई अन्तर नहीं है। जब अन्तर ही नहीं है तो फिर दोनों का जानना भी एक का ही जानना हुआ है न ?

वस्तुतः बात यह है कि अरहंत भगवान की पर्याय वीतरागी है और सर्वज्ञता से सम्पन्न है। उसे जानने का तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा के जानने के लिए वीतरागता और सर्वज्ञता का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

आत्मा और परमात्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में द्रव्य और गुण की समानता तो निर्विवाद ही है; किन्तु पर्याय में जो अन्तर दिखाई देता है, वह वर्तमान पर्याय का है; आत्मा और परमात्मा – दोनों का त्रिकाली

पर्यायस्वभाव तो समान ही है। तात्पर्य यह है कि हम और आप सभी त्रिकाल सर्वज्ञस्वभावी ही हैं।

सर्वज्ञता का स्वरूप समझे बिना देशनालब्धि संभव नहीं है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए देशनालब्धि अनिवार्य है।

अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने की शर्त में यह संकेत भी है कि बाह्य अतिशयों से उनकी पहिचान करनेवालों को आत्मा का ज्ञान नहीं होता।

इसीप्रकार पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा आदि क्रियाकाण्ड से भी न तो आत्मा का जानना होता है और न मोह का नाश ही होता है।

प्रश्न – मोह के नाश के लिए आत्मा के समान ही परमात्मा को जानना है कि दोनों के जानने में कुछ अन्तर है ?

उत्तर – अन्तर है; क्योंकि परमात्मा को तो मात्र जानना ही है, जानते ही नहीं रहना है, उन्हीं में लीन नहीं हो जाना है; किन्तु आत्मा को जानकर उसे जानते ही रहना है, उसी में जम जाना है, रम जाना है। परमात्मा का जानना तो एक सीढ़ी मात्र है, गन्तव्य नहीं; पर आत्मा को मात्र जानना ही नहीं है, निजरूप जानना है, उसी में अपनापन स्थापित करना है, उसी में समा जाना है।

परमात्मा के ध्यान से तो पुण्य का बंध होता है; पर आत्मा के ध्यान से कर्म कटते हैं; मिथ्यात्व का नाश होता है। मूलतः तो आत्मा को ही जानना है और परमात्मा को आत्मा को जानने के लिए जानना है। आत्मा निजरूप है और वह निजरूप से ही जाना जाता है तथा परमात्मा पररूप है और पररूप से ही जाना जाता है।

इसप्रकार इन दोनों के जानने में बहुत बड़ा अंतर है।

प्रश्न – कोरे जानने से काम हो जायेगा, करना कुछ भी नहीं है। यदि कुछ भी नहीं करना है तो काम होगा कैसे ?

उत्तर – अरे भाई ! जानना भी तो एक काम है, और आत्मा का तो एकमात्र काम जानना ही है; क्योंकि यह आत्मा पर में तो कुछ कर ही नहीं सकता; अपने स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण यह आत्मा पर को तो मात्र जान ही सकता है ।

जानना भी एक काम नहीं, अपितु आत्मा का काम तो एकमात्र जानना ही है ।

लोक में भी करने की अपेक्षा जानने को बड़ा काम माना जाता है । मजदूर काम करता है तो उसे मजदूरी में प्रतिदिन १०० रुपये मिलते हैं; पर अनेक मजदूरों को देखने-जाननेवाले ओवरसियर को प्रतिदिन ३०० रुपये मिलते हैं और मजदूरों को देखनेवालों को देखने-जाननेवाले ठेकेदार या मालिक की आय अनलिमिटेड होती है, अनन्त होती है । इसीप्रकार जगत को देखने-जाननेवालों की अपेक्षा देखने-जाननेवाले आत्मा को देखने-जाननेवाला आत्मा अधिक महान है; क्योंकि ज्ञायकस्वभावी आत्मा को जाननेवाले ही अनन्त सुख की प्राप्ति करते हैं ।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ आत्मा और परमात्मा – दोनों को जानने की बात कहकर यह भी कह दिया है कि आत्मा स्व और पर दोनों को जान लेता है; क्योंकि आत्मा स्व है और परमात्मा पर हैं । इसतरह यह भी प्रतिफलित होता है कि मिथ्यात्व के नाश के लिए स्व (आत्मा) और पर (परमात्मा) दोनों को जानना अनिवार्य है । पर के जानने को निरर्थक बतानेवाले लोगों को उक्त तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए ।

मिथ्यात्व के नाश का आशय मिथ्यात्व नामक कर्म के नाश से नहीं; क्योंकि वह तो परद्रव्य है और परद्रव्य की क्रिया का कर्ता-धर्ता भगवान आत्मा है ही नहीं । यहाँ तो परपदार्थों और रागादि विकारों में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रूप मिथ्यात्व भाव के नाश की बात है । हाँ, यह बात अवश्य है कि इनके अभाव होने पर मिथ्यात्व नामक कर्म के भी यथायोग्य उपशमादि हो जाते हैं ।

अरहंत परमात्मा हमारे किस काम के हैं, हमें उनका क्या करना है ? उनके दर्शन करना है, पूजा करनी है, प्रतिष्ठा करनी है, मन्दिर बनवाना है ?

अरे भाई ! यह कुछ भी नहीं करना है, उन्हें मात्र जानना है, जानने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करना है; क्योंकि यहाँ तो यही लिखा है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानते हैं; वे अपने आत्मा को जानते हैं और उनका मोह नाश को प्राप्त होता है ।

मोह के नाश के लिए, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए परमात्मा को मात्र जानना है; जानने के अलावा कुछ नहीं करना है; क्योंकि वे तो हमारे मात्र ज्ञेय हैं और कुछ नहीं । ध्यान रहे, यहाँ यह नहीं लिखा है कि उन्हें जानना भी नहीं है; क्योंकि वे पर हैं । यहाँ तो उन्हें जानने की बात डंके की चोट पर लिखी है और उन्हें जानने का फल आत्मा को जानना बताया है । आत्मा के जानने पर मोह का नाश होता है; इसप्रकार प्रकारान्तर से उनके जानने को मोह के नाश का उपाय बताया गया है ।

आत्मा का कार्य मात्र जानना है, स्व-पर को जानना है; इसलिए मात्र जानो, जानो, जानो और जानो; पर को जानो, स्व को जानो, स्व-पर को जानो; पर से भिन्न स्व को जानो, जानो और जानते रहो । अपने को अपना मानकर जानते रहो, लगातार जानते रहो और कुछ भी नहीं करना है । इसी से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सभी हो जावेंगे और न केवल दर्शनमोह अपितु चारित्रमोह का भी नाश हो जायेगा । तुम स्वयं पर्याय में भी भगवान बन जावोगे । स्वभाव से तो भगवान हो ही; पर्याय में बनना है सो इसीप्रकार स्व को जानते रहने से पर्याय में भी भगवान बन जावोगे, सर्वज्ञ-वीतरागी हो जावोगे ।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि मोह के नाश का उपाय एकमात्र निजभगवान आत्मा को जानना है और अधिक आगे जावे तो इसमें द्रव्य-गुण-पर्याय से परमात्मा के स्वरूप को जानना भी शामिल कर सकते हैं ।

इसके आगे बढ़ना तो उपचार में उपचार होगा।

प्रश्न – आत्मा और परमात्मा की पर्याय में कोई अन्तर नहीं है – यह बात गले नहीं उतरती; क्योंकि कहाँ हम रागी-द्वेषी अल्पज्ञ और कहाँ वे वीतरागी सर्वज्ञ ?

उत्तर – हमारी और उनकी पर्याय में जो अन्तर है, वह तो आपको स्पष्ट दिखाई दे ही रहा है और उक्त अन्तर को समाप्त करने के लिए ही अपना यह सब पुरुषार्थ है।

अब रही बात अन्तर नहीं होने की सो यहाँ जो द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बताया है; उसमें यह बात स्पष्ट ही है।

अन्वय सो द्रव्य, अन्वय का विशेषण गुण और अन्वय का व्यतिरेक पर्याय है – यही कहा है यहाँ।

है, है और है; निरन्तर होते-रहने का नाम अन्वय है। सत्तास्वरूप वस्तु निरन्तर ही विद्यमान रहती है; भगवान् आत्मा भी सत्तास्वरूप वस्तु है और वह भी अन्वयरूप से निरन्तर रहता है; इसीकारण द्रव्य है।

अन्वयरूप से विद्यमान वस्तु की अन्वयरूप से रहनेवाली विशेषताएँ ही गुण हैं। भगवान् आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण आत्मा में निरन्तर ही रहते हैं।

विगत पर्याय में वर्तमान पर्याय का नहीं होना ही अन्वय का व्यतिरेक है। द्रव्य और गुणों के समान अन्वयों के व्यतिरेक भी अरहंत के समान अपने आत्मा सदा रहते हैं।

जिसप्रकार अरहंत भगवान् की पर्याय प्रतिसमय पलटती है; उसीप्रकार हमारी पर्याय भी पलटती है। पर्याय का स्वभाव ही पलटना है। वस्तुतः पलटने का नाम ही पर्याय है; जो आत्मा और परमात्मा में समान ही है।

प्रश्न – यदि आप कहते हो तो हम अरहंत भगवान् को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से समझ लेंगे और अपने आत्मा को भी उसीप्रकार समझ लेंगे;

पर इससे मोह का नाश कैसे हो जायेगा ? मात्र समझने से मोह का नाश हो जायेगा, कुछ और करना नहीं पड़ेगा ?

उत्तर – दृष्टि के विषयभूत अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा को सही रूप में समझ लेने पर यह भी समझ में आ जायेगा कि यह त्रिकाली ध्रुव भगवान् आत्मा मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं।

यह स्पष्ट हो जाने पर अबतक जिन देहादि परपदार्थों में और रागादि विकारी भावों में अपनापना था, वह नियम से टूट जायेगा।

पर और विकार में अपनेपन का नाम ही मोह है, मिथ्यात्व है और अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में अपनेपन का नाम ही मोह का नाश है, सम्यग्दर्शन है। अतः यह स्पष्ट ही है कि पर और विकार से अपनापन टूटते ही तथा अपने ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा में अपनत्व आते ही मोह का नाश होना, मिथ्यात्व का नाश होना, सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना अनिवार्य ही है।

एकप्रकार से पर में से अपनत्व टूटना और मोह का नाश होना एक ही बात है। इसीप्रकार अपने में अपनापन होना और सम्यग्दर्शन होना भी एक ही बात है।

वस्तुतः बात यह है कि पर से अपनत्व टूटने और मोह (मिथ्यात्व) के नाश होने का एक काल है। उक्त दोनों कार्य एकसमय में ही होते हैं।

यद्यपि ये दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्यों की पर्यायें हैं, तथापि दोनों में परस्पर सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है। पर में अपनत्व भावमिथ्यात्व है और वह आत्मा के श्रद्धागुण की विकारी पर्याय है तथा मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय कर्म पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं का कार्य है, पर्याय है। इसप्रकार पर में अपनत्वरूप भाव चेतन का परिणमन होने से चेतन है और कार्माणवर्गणा से निर्मित दर्शनमोहनीय कर्म जड़पुद्गल का परिणमन होने से जड़ है।

इनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जब मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होता है तो आत्मा में पर में अपनत्वरूप मिथ्याभाव होते हैं और जब पर में अपनत्वरूप मिथ्याभाव होते हैं तो उनके निमित्त से मिथ्यात्वादि द्रव्यकर्मों का बंध होता है। यह दुष्चक्र ही मोह की प्रबल ग्रंथि (गाँठ) है; जो अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानकर उसीप्रकार अपने आत्मा को जानने से शिथिल होती है, पर से भिन्न अपने आत्मा में अपनापन स्थापित होकर अपने आत्मा में ही जन्मने-मरण से जैनदर्शन, भेद के विज्ञान का वाण है। स्व-पर में जो भेद है, उसे जानना ही भेदविज्ञान है; क्योंकि जैनदर्शन में जो मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है, सुखी होने का उपाय है, संसार से छूटने का उपाय है, मोह-राग-द्वेष के परिणामों को समाप्त करने का उपाय है; वह एकमात्र आत्मज्ञान एवं आत्मध्यान की प्रक्रिया का ही मार्ग है।

आजतक जितने भी तीर्थंकर या मुक्ति जानेवाले साधक हुए हैं; सभी ने केवलज्ञान की प्राप्ति आत्मा के ध्यान के काल में ही की है। ध्यान करते-करते ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। आशय यह है कि सभी मुक्ति के साधक अल्पज्ञ से सर्वज्ञ, आत्मा से परमात्मा, सरागी से वीतरागी, संसारी से मुक्त - इस ध्यान की अवस्था में ही बने हैं।

यदि हम गंभीरता से इस बात पर विचार करें कि जब भगवान महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी, सर्वज्ञता की प्राप्ति हुई थी, जब वे अनंत सुखी, पूर्ण वीतरागी हुए थे; तब वे क्या कर रहे थे ?

तो इसका स्पष्ट उत्तर होगा कि वे ध्यान कर रहे थे।

तब यह प्रश्न होता है कि किसका ध्यान कर रहे थे ?

तो उत्तर होगा कि अपने आत्मा का।

इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक आत्मा को, प्रत्येक साधक को, मुक्ति की प्राप्ति; निज लक्ष्य की प्राप्ति, स्वयं अपने आत्मा के ध्यान से ही होती है।

- समयसार का सार, पृष्ठ-

प्रवचनसार गाथा-८१

८०वीं गाथा में दर्शनमोह के नाश की बात की है और अब ८१वीं गाथा में चारित्रमोह के नाश की बात करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।

जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

(हरिगीत)

जो जीव व्यपगत मोह हो निज आत्म उपलब्धि करें।

वे छोड़ दें यदि राग-रुष शुद्धात्म उपलब्धि करें ॥८१॥

जिसने मोह दूर किया है और आत्मा के सच्चे स्वरूप को प्राप्त किया है; वह जीव यदि राग-द्वेष को छोड़ता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

उक्त गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि इसप्रकार मैंने सम्यग्दर्शनरूप चिन्तामणिरत्न प्राप्त कर लिया है; तथापि इसे लूटने के लिए प्रमादरूपी चोर विद्यमान हैं; ऐसा विचार कर वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मा जागृत रहता है, जागता रहता है, सावधान रहता है।

विगत गाथा में दर्शनमोह के नाश की विधि बताई गई थी और इस गाथा में चारित्रमोह के नाश की विधि बता रहे हैं।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“विगत गाथा में प्रतिपादित उपाय के अनुसार दर्शनमोह को दूर करके भी अर्थात् आत्मतत्त्व को भलीभाँति प्राप्त करके भी जब यह जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है, तब शुद्ध आत्मा अनुभव करता है; किन्तु यदि पुनः पुनः उन राग-द्वेष का अनुसरण करता है, राग-द्वेषरूप परिणामन करता है तो प्रमाद के आधीन होने से शुद्धात्मतत्त्व के अनुभवरूप

चिन्तामणिरत्न के चुराये जाने से अंतरंग में खेद को प्राप्त होता है; इसलिए मुझे राग-द्वेष के दूर करने के लिए अत्यन्त जागृत रहना चाहिए।”

यद्यपि आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; तथापि वे **ववगदमोहो** का अर्थ दर्शनमोह (मिथ्यात्व) का नाश होना है - यह बात साफ-साफ शब्दों में लिख देते हैं।

प्रश्नोत्तर के माध्यम से एक बात और भी स्पष्ट करते हैं, जो इसप्रकार है -

प्रश्न - ७८वीं गाथा में यह कहा गया है कि **शुद्धोपयोगी जीव देहज दुखों का क्षय करता है** और यहाँ यह कहा जा रहा है कि **जो ज्ञानी जीव राग-द्वेष छोड़ता है, वह शुद्धात्मा को प्राप्त करता है** - दोनों ही कथनों से मोक्ष ही प्रतिफलित होता है। आखिर इन दोनों में अन्तर क्या है?

उत्तर - प्रथम कथन में शुभाशुभभाव संबंधी मूढ़ता का निराकरण किया गया है और दूसरे कथन में आप्त और आत्मा के स्वरूप विषयक मूढ़ता का निराकरण किया गया है।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इस गाथा का भाव पाँच छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जो मूलतः पठनीय हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“प्रथम मिथ्यात्व दूर करके फिर यह बात कहते हैं; क्योंकि पहले राग-द्वेष दूर नहीं होते, किन्तु प्रथम मिथ्यात्व दूर होता है।”

प्रथम मोह का क्षय कहा था और यहाँ राग-द्वेष की निर्मूलता कही है। आचार्य ने क्षय की ही बात ली है।^१

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२०६

२. वही, पृष्ठ-२०७

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जो जीव शुद्धात्मानुभूति स्वरूप वीतराग चारित्र का प्रतिबन्धक राग-द्वेष को छोड़ता है, वह शुद्धात्मा को प्राप्त होता है।^१

शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप वीतरागता वह चारित्र है। उसके प्रतिबन्धक राग-द्वेष को छोड़ता है। यहाँ द्रव्यकर्म को चारित्र का प्रतिबन्धक नहीं कहा। श्री जयसेनाचार्य ने इस गाथा की टीका में राग-द्वेष को चारित्र का प्रतिबन्धक कहा है। जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह पुनः-पुनः राग-द्वेषभावरूप परिणमित नहीं होता। वही अभेदरत्नत्रय परिणत जीव शुद्ध-शुद्ध एक स्वभावी आत्मा को प्राप्त होता है। भेदरत्नत्रय से मुक्ति को प्राप्त नहीं होता; किन्तु अभेदरत्नत्रय से मुक्ति को प्राप्त होता है; इसलिए जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी और तीन कषाय दूर होकर चारित्र प्राप्त करने पर भी राग-द्वेष के निवारण के लिए अत्यन्त सावधान रहना योग्य है।^२”

इसप्रकार इस गाथा में मात्र यही कहा गया है कि अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर तथा उसीप्रकार अपने आत्मा को पहिचानकर, उसी में जमकर, रमकर दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व का नाश करनेवाला आत्मा भी यदि समय रहते चारित्रमोहनीय का अभाव नहीं करता अर्थात् राग-द्वेष अथवा कषायभावों को नहीं छोड़ता है तो शुद्धात्मा को सम्पूर्णतः उपलब्ध नहीं कर सकता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इस गाथा की ऊपर की पंक्ति में तो यह कहा है कि **जिसने मोह दूर किया है और आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लिया है और दूसरी पंक्ति में यह कहा है कि यदि राग-द्वेष को छोड़े तो शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।**

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२०८

३. वही, पृष्ठ-२०८-२०९

क्या उक्त दोनों कथनों में विरोधाभास नहीं है ?

नहीं, कोई विरोधाभास नहीं है। बात मात्र इतनी ही है कि आत्मोलब्धि दो प्रकार की होती है -

१. परपदार्थ और विकारीभावों से भिन्न शुद्ध-बुद्ध त्रिकालीध्रुव निज भगवान के परिज्ञान अर्थात् आत्मानुभूति पूर्वक उसी में अपनापन हो जाने को आत्मोपलब्धि कहते हैं। चौथे गुणस्थान में होनेवाली इस आत्मोपलब्धि में मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषायों का उपशमादिरूप अभाव होता है।

२. उपर्युक्त आत्मोलब्धि हो जाने पर भी अभी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय संबंधी चारित्रमोह विद्यमान है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कर्मों का भी यदि अभी क्षय न हुआ हो तो वे भी सत्ता में तो रहते ही हैं।

इन सबको प्रमाद भी कहते हैं। अतः यहाँ कहा गया है कि दर्शनमोह के नाश हो जाने पर भी प्रमादरूपी चोर (ठग) विद्यमान है और तेरी असावधानी का लाभ उठाकर तेरी प्राप्त आत्मोपलब्धिरूप निधि (खजाने) को लूट सकते हैं। अतः प्रत्येक ज्ञानी आत्मा को निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद निश्चिन्त होकर बैठ जाना ठीक नहीं है; अपितु राग-द्वेषादि विकारी भावों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अनुभूति के काल में वृद्धि और अनुभूति के वियोगकाल का निरंतर कम होते जाना ही वह पुरुषार्थ है कि जो चारित्रमोह संबंधी उक्त कर्मप्रवृत्तियों को शिथिल करेगा। अतः शुद्धोपयोग के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही एक मात्र रास्ता है। ●

प्रवचनसार गाथा-८२

८०वीं व ८१वीं गाथा में मोहक्षय का उपाय बताने के उपरान्त अब इस ८२वीं गाथा में उपसंहार के रूप में कहते हैं कि आजतक जो भी अरहंत हुए हैं; उन सभी ने उक्त उपाय से मोह का नाश किया है और दिव्यध्वनि द्वारा इसी मार्ग को भव्यजीवों को बताया है। इसीकारण से नमस्कार करनेयोग्य हैं। यह बताकर आचार्यदेव उन अरहंत भगवान को नमस्कार करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।

किच्चा तधोवदेसं णिग्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

(हरिगीत)

सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी ।

सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी ॥८२॥

सभी अरहंत भगवान उसी विधि से कर्मों का क्षय करके तथा उसीप्रकार उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; अतः उन्हें नमस्कार हो।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

“अतीतकाल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान प्रकारान्तर का असंभव होने से जिसमें द्वैत संभव नहीं है; ऐसे इसी एकप्रकार से कर्माशों का क्षय करके स्वयं अनुभव करके परमाप्तता के कारण भविष्यकाल में अथवा इस वर्तमान काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसीप्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है - ऐसा निश्चित होता है अथवा अधिक प्रलाप से बस होओ ! मेरी मति व्यवस्थित हो गई है। भगवन्तों को नमस्कार हो।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

उक्त गाथा का भाव कविवर वृन्दावनदासजी निम्नांकित छन्द में प्रस्तुत करते हैं -

(मनहरण छन्द)

ताही सुविधान करि तीरथेश अरहंत,

सर्व कर्म शत्रुनि को मूलतैं विदारी है।

तिसी भांति देय उपदेश भव्यवृन्दनि को,

आप शुद्ध सिद्ध होय बरी शिवनारी है ॥

सोई शिवमाला विराजतु है आज लगु,

अनादिसों सिद्ध पंथ यही सुखकारी है।

ऐसे उपकारी सुखकारी अरहंतदेव,

मनवचनकाय तिन्हैं वन्दना हमारी है ॥३३॥

पूर्वोक्त विधिपूर्वक ही सभी तीर्थकर अरिहंतों ने सभी कर्मशत्रुओं को जड़मूल से उखाड़ फेंका है, विदारण कर दिया है; और सभी भव्यजीवों को उसीप्रकार मोक्षमार्ग का उपदेश देकर स्वयं शुद्ध सिद्ध होकर शिवनारी का वरण किया है।

आजतक हुए ऐसे अनन्त सिद्धों का समूह सिद्धशिला में विराजमान है; क्योंकि अनादि से मुक्ति प्राप्त करने का यही सुखकारी रास्ता है। अनंतसुखकारी परमोपकारी ऐसे अरहंत भगवान हैं; उनकी वंदना हम मन-वचन-काय से करते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जानकर, अनन्त जीव भगवान हुए हैं; उन्होंने ऐसा ही किया और ऐसा ही कहा है। भगवान की

वाणी में ऐसा ही उपदेश आया है।^१

यह ज्ञानतत्त्व का अधिकार है। ज्ञानस्वभावी द्रव्य, ज्ञानस्वभाव और उसकी पर्याय का स्वरूप जानकर अरहंत हुए हैं। अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर स्वभाव सन्मुख होने पर शुद्धोपयोग होता है और उससे कर्म का क्षय होता है। यह एक ही प्रकार है।^२

भगवान ने किया कुछ और हो और कहा कुछ और हो - ऐसा नहीं है। भगवान ने जिसप्रकार से किया; उसीप्रकार से कहा और मुमुक्षु जीव ऐसे ही समझें। सभी के लिए एक ही प्रकार है।^३

भूतकाल में जितने भी तीर्थकर हो गये हैं, उन्होंने कर्म का क्षय एक ही प्रकार से किया है और उपदेश भी ऐसा ही दिया है।^४

भगवान को पहले छद्मस्थदशा में विकल्प था कि मेरे स्वभाव के आश्रय से मैं पूर्ण होऊँ, उसके निमित्त से तीर्थकर नामकर्म बँधा था, इसके बाद वह विकल्प दूर होकर वे वीतराग और सर्वज्ञ हुए। जब वे कर्म उदय में आए, तब उनकी वाणी में ऐसा आया कि हे भव्य तुम तुम्हारे स्वभाव का आश्रय लेकर मुक्ति पाओ।

भगवान का ज्ञान ऐसा ही है, वाणी ऐसी ही है और सुननेवाले भी यही समझते हैं। यह पूर्वापरविरोध रहित वाणी है। तेरा ज्ञान और उपदेश हम समझ गए, इसलिए मेरी मति निर्मल हुई है - ऐसा कहकर भगवान को नमस्कार किया है।^५

आचार्य भगवान कहते हैं कि मेरी बुद्धि व्यवस्थित हुई है और सभी व्यग्रता मिट गई है। विशेष (अधिक) क्या कहें! सर्वज्ञ का मार्ग एक ही है। मेरी बुद्धि व्यवस्थित हुई है। पर के कारण मेरा कल्याण होगा, अहिंसा

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२११

२. वही, पृष्ठ-२१२-२१३

४. वही, पृष्ठ-३१३

३. वही, पृष्ठ-३१३

५. वही, पृष्ठ-३१७

पालने से, पुण्य करने से, धर्म होगा ऐसी व्यग्रता थी, अब वह व्यग्रता मिट गई है।^१”

उक्त गाथा और उसकी टीका में आचार्यदेव यह बात अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ८० व ८१वीं गाथा में बताये गये मुक्ति के मार्ग को छोड़कर मुक्ति का अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। आजतक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं; वे सभी इसी मार्ग से मोक्ष गये हैं और जो भविष्य में जावेंगे, वे सभी इसी मार्ग से जावेंगे।

अरहंत भगवन्तों ने मुक्ति जिसप्रकार प्राप्त की है; वही मार्ग उनकी दिव्यध्वनि में आया है। ऐसा नहीं है कि स्वयं करे कुछ और दूसरों को बतावे कुछ और। जो किया, वही बताया।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि यह सब जानकर मेरी मति व्यवस्थित हो गई है। अब मुझे अन्य कोई विकल्प नहीं है। अतः हे भव्यजीवो ! तुम भी अपने चित्त को अधिक मत भ्रमावो; अपने विकल्पों को विराम दो और इसी रास्ते पर चल पड़ो।

वे तो यहाँ तक लिखते हैं कि अधिक प्रलाप से बस होओ। देखो ! मुक्तिमार्ग की शोध-खोज संबंधी चर्चा-वार्ता को आचार्यदेव प्रलाप कह रहे हैं।

इसके बाद आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में एक गाथा प्राप्त होती है; जिसमें रत्नत्रय के आराधक सन्तों को नमस्कार किया गया है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था ।

पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ॥७॥

(हरिगीत)

अरे समकित ज्ञान सम्यक्चरण से परिपूर्ण जो ।

सत्कार पूजा दान के वे पात्र उनको नमन हो ॥७॥

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३१९

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से शुद्ध, ज्ञान में प्रधान और परिपूर्ण चारित्र में स्थित हैं; वे ही पूजा, सत्कार और दान देनेयोग्य हैं; अतः उन्हें नमस्कार हो।

उक्त गाथा में निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र संपन्न मुनिराज ही पूज्य है, आदर-सत्कार करनेयोग्य है और दान देनेयोग्य है - यह बताते हुए उक्त गुणों से सम्पन्न मुनिराजों को सहजभाव से नमस्कार किया गया है।

स्वभाव पवित्र है, हुआ नहीं है। जो पवित्र होता है, उसके आश्रय से पवित्रता प्रगट नहीं होती। जो स्वयं स्वभाव से पवित्र है, जिसे पवित्र होने की आवश्यकता नहीं, जो सदा से ही पवित्र है; उसके आश्रय से ही पवित्रता प्रगट होती है। वही परमपवित्र होता है, वही पतित-पावन होता है; जिसके आश्रय में पवित्रता प्रगट होती है, पतितपना नष्ट होता है।

त्रिकाली ध्रुवतत्त्व पवित्र हुआ नहीं है, वह अनादि से पवित्र ही है, उसके आश्रय से ही पर्याय में पवित्रता, पूर्ण पवित्रता प्रगट होती है। वह परमपदार्थ ही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

पवित्र पर्याय सोना है, पारस नहीं। परमशुद्धनिश्चयनय का विषय त्रिकाली ध्रुव पारस है, जो सोना बनाता है, जिसके छूने मात्र से लोहा सोना बन जाता है। सोने को छूने से लोहा सोना नहीं बनता, पर पारस के छूने से वह सोना बन जाता है। पवित्र पर्याय के, पूर्ण पवित्र पर्याय के आश्रय से भी पर्याय में शुद्धता प्रगट नहीं होती। पर्याय में पवित्रता त्रिकाली शुद्धद्रव्य के आश्रय से प्रगट होती है। अतः ध्यातापुरुष भावना भाता है कि मैं तो वह परमपदार्थ हूँ, जिसके आश्रय से पर्याय में पवित्रता प्रगट होती है। मैं प्रगट होनेवाली पवित्रता नहीं; अपितु नित्य, प्रकट, परमपवित्र पदार्थ हूँ। मैं सम्यग्दर्शन नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है। मैं सम्यग्ज्ञान भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। मैं चारित्र भी नहीं हूँ; मैं तो वह हूँ, जिसमें रमने का नाम सम्यक्चारित्र है।

प्रवचनसार गाथा-८३-८४

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि मोह-राग-द्वेष का अभाव कर ही अनन्तसुख की प्राप्ति की जा सकती है; अतः जिन्हें अनन्तसुख की प्राप्ति करना है; वे अरहन्त भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर, उसी के समान अपने आत्मा को जानकर मोह का नाश करें; क्योंकि मोह के नाश का एकमात्र यही उपाय है, अन्य उपयान्तर का अभाव है।

अब आगामी गाथाओं में मोह-राग-द्वेष का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्हें जड़मूल से उखाड़ फेंकने की प्रेरणा देते हैं।

गाथार्ये मूलतः इसप्रकार हैं -

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।

खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।

जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

(हरिगीत)

द्रव्यादि में जो मूढ़ता वह मोह उसके जोर से ।

कर राग-रुष परद्रव्य में जिय क्षुब्ध हो चहुंओर से ॥८३॥

बंध होता विविध मोहरु क्षोभ परिणत जीव के ।

बस इसलिए सम्पूर्णतः वे नाश करने योग्य हैं ॥८४॥

जीव के द्रव्य, गुण और पर्यायसंबंधी मूढ़ता ही मोह है। उक्त मोह से आच्छादित जीव राग-द्वेषरूप परिणमित होकर क्षोभ को प्राप्त होता है।

मोहरूप, रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणमित जीव के विविध बंध होता है; इसलिए वे मोह-राग-द्वेष सम्पूर्णतः क्षय करनेयोग्य हैं।

उक्त गाथाओं का भाव आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

“धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी पूर्ववर्णित तत्त्व-अप्रतिपत्तिलक्षण जो जीव का मूढ़भाव है, वह मोह है।

आत्मा का स्वरूप उक्त मोह (मिथ्यात्व) से आच्छादित होने से यह आत्मा परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप से, परगुण को स्वगुणरूप से और परपर्यायों को स्वपर्यायरूप से समझकर-स्वीकार कर अतिरूढ़ दृढ़तर संस्कार के कारण परद्रव्य को ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्धइन्द्रियों की रुचि के वश से अद्वैत में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष करके अति प्रचुर जलसमूह के वेग से प्रहार को प्राप्त पुल की भाँति दो भागों में खण्डित होता हुआ अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है।

इससे मोह, राग और द्वेष - इन भेदों के कारण मोह तीन प्रकार का है।

इसप्रकार तत्त्व-अप्रतिपत्तिरूप वस्तुस्वरूप के अज्ञान के कारण मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होते हुए इस जीव को - घास के ढेर से ढंके हुए गड्डे को प्राप्त होनेवाले हाथी की भाँति, हथिनीरूप कुट्टनी के शरीर में आसक्त हाथी की भाँति और विरोधी हाथी को देखकर उत्तेजित होकर उसकी ओर दौड़ते हुए हाथी की भाँति - विविधप्रकार का बंध होता है; इसलिए मुमुक्षुजीव को अनिष्ट कार्य करनेवाले इस मोह, राग और द्वेष का यथावत् निर्मूल नाश हो - इसप्रकार क्षय करना चाहिए।”

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में इन गाथाओं का जो अर्थ किया है; उसका भाव इसप्रकार है।

“शुद्धात्मादि द्रव्यों, उनके अनन्त ज्ञानादि विशेष गुणों और अस्तित्वादि सामान्य गुणों तथा शुद्धात्मपरिणतिरूप सिद्धत्वादि पर्यायों तथा यथासंभव अन्य द्रव्य-गुण-पर्यायों में विपरीत अभिप्राय के कारण तत्त्व में संशय उत्पन्न करनेवाला जीव का मूढ़भाव दर्शनमोह है। उस दर्शनमोह से युक्त, निर्विकार शुद्धात्मा से रहित, इष्टानिष्ट इन्द्रियविषयों में हर्ष-विषादरूप राग-द्वेष - दोनों चारित्रमोह हैं।

उक्त दर्शनमोह से आच्छन्न जीव राग-द्वेषरूप होकर निराकुल आत्मतत्त्व के विपरीत आकुलता के कारण क्षोभ (अस्थिरता) को प्राप्त होता है।

दर्शनमोह और राग व द्वेषरूप चारित्रमोह - इसप्रकार मोह तीन प्रकार का होता है।

मोह-राग-द्वेषरूप परिणत बहिरात्मा जीव के स्वाभाविक सुख से विपरीत नरकादि दुखों के कारणभूत अनेकप्रकार का बंध होता है। अतः रागादि से रहित शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा वे राग-द्वेष-मोह पूर्णतः नष्ट करनेयोग्य हैं।”

इन गाथाओं के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी दो मनहरण कवित्त, दो षट्पद और एक दोहा - इसप्रकार पाँच छन्दों को प्रस्तुत करते हैं; जो मूलतः पठनीय हैं। निष्कर्षरूप में जो दोहा प्रस्तुत किया गया है, वह इसप्रकार है -

(दोहा)

तातैं इस उपदेश कौ, सुनो मूल सिद्धन्त।

मोह राग अरु द्वेष कौ, करौ भली विधि अंत ॥३८॥

उक्त उपदेश में मूल सिद्धान्त यह बताया गया है कि मोह-राग-द्वेष का अंत भलीभाँति करना चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त छन्द का भाव इसप्रकार समझाते हैं-

“द्रव्य-गुण-पर्याय की ना समझी ही मोहभाव है। जिसप्रकार धतूरा पिया हुआ मनुष्य सफेद चीज को पीली देखता है, किन्तु वास्तव में वस्तु ऐसी नहीं है। इसीप्रकार भगवान आत्मा द्रव्य से शुद्ध है, गुण से शुद्ध है; पर्याय को स्वभाव की ओर झुकाये तो वह शुद्ध है, नहीं तो कितनी ही पर्यायें शुद्ध हैं और कितनी ही अशुद्ध हैं; इसका जिसे भान नहीं वह मोही है।”

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२२४

साततत्त्व की भूल को मोह-मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व का पाप सभी पापों का बाप है। मिथ्या द्वार में से राग-द्वेष कौतूहलता आदि उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्व के दूर हो जाने के बाद राग-द्वेष लंगड़े हो जाते हैं। जगत में अनादि से तत्त्व का अनिर्णय है, इसलिए मोहभाव है।^१

वास्तविक स्वरूप से आत्मा शुद्ध है। उसके सन्मुख न होनेपर इन्द्रियों के विषयों की ओर झुककर उनमें भेद करता है और पुण्य-पाप में अटकता है। परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप, परगुण को स्वगुणरूप और परपर्याय को स्वपर्यायरूप अंगीकार करता है। समय-समय शुभाशुभ को ग्रहण करता हुआ ज्ञातापने को छोड़कर, राग-द्वेष करता है। इन्द्रियाँ तो मुर्दा हैं, फिर भी उनकी रुचि करके द्वैत में अद्वैत प्रगट करता है।^२

पुण्य-पाप के विकल्प भी ज्ञेय हैं, फिर भी पुण्य अच्छा है और पाप बुरा - इसप्रकार द्वैत की कल्पना करके, ज्ञानस्वभाव को तोड़ डालता है। जैसे बाढ़ का पानी पुल को तोड़ सकता है; वैसे ही विरुद्ध भाव द्वारा अज्ञानी ज्ञातास्वभाव को तोड़ डालता है। आत्मा जाननेवाला है। जगत की वस्तुएँ जाननेयोग्य हैं।

निर्धनता, धनवानपना, पुत्रवाला होना अथवा बांझपना मात्र जाननेयोग्य है; उनमें इष्ट-अनिष्टपना नहीं है; फिर भी यह मुझे इष्ट है और यह मुझे अनिष्ट है - इसप्रकार भेद की कल्पना करता है, जबकि वस्तु में इष्ट-अनिष्टता नहीं है। परवस्तु से अपना भला-बुरा नहीं हो सकता; फिर भी ऐसा मानता है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। राग-द्वेष-मोह ही दुःख का मूल हैं।^३

जिसप्रकार हाथी अज्ञान से, राग से और द्वेष से अनेकप्रकार के बन्धनों को प्राप्त होता है; वैसे ही जैसा चैतन्यस्वरूप है, वैसे नहीं मानते हुए, पुण्य से लाभ होता है, बाह्य संयोग मुझे ठीक रहे, मैं दूसरे को अनुकूल हूँ - ऐसा मिथ्याभाव अज्ञानी करता है। अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२२४

२. वही, पृष्ठ-२२७

३. वही, पृष्ठ-२२९

पर के अनुकूल होना चाहता है; इसप्रकार वह मिथ्याभाव में रुकता हुआ संसार की वृद्धि करता है।^१

इसतरह अबंधस्वभावी आत्मा ही वर्तमान भूलरूप पर्याय द्वारा मोहभाव के कारण बंध को प्राप्त होता है। इसलिए मोक्ष के इच्छुक जीवों को पर के प्रति सावधानीरूप मिथ्यात्व को तथा अनुकूलता के प्रति राग और प्रतिकूलता में द्वेष को मूल में से नाश कर देना चाहिए।^२”

इसप्रकार इन गाथाओं और उनकी टीकाओं में यह कहा गया है कि द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी मूढ़ता ही मोह है और इस मोह से आच्छादित जीव का राग-द्वेषरूप परिणमन क्षोभ है। इन मोह और क्षोभरहित आत्मपरिणाम ही समताभाव है, धर्म है। ये मोह-राग-द्वेष ही बंध के कारण हैं; इसकारण नाश करनेयोग्य हैं, हेय हैं।

जिसप्रकार धतूरा खानेवाला पुरुष लौकिक विवेक से शून्य हो जाता है; उसीप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी अज्ञान के कारण यह आत्मा तत्त्वज्ञान संबंधी विवेक से शून्य हो जाता है; उसे स्व-पर का विवेक (भेदज्ञान) नहीं रहता है; इसप्रकार परद्रव्य को स्वद्रव्य, परगुणों को स्वगुण और पर की पर्यायों को अपनी पर्यायें मानता है।

जिसप्रकार बाढ़ के प्रबल प्रवाह से नदियों के पुल दो भागों में विभक्त हो जाते हैं; उसीप्रकार उक्त मिथ्यामान्यता के कारण या अज्ञान के कारण यह अज्ञानी आत्मा कर्म को पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ - इसप्रकार के दो भागों में विभक्त कर लेता है और अनुकूल लगनेवालों में राग तथा प्रतिकूल लगनेवालों में द्वेष करने लगता है। इसप्रकार इन मोह-राग-द्वेष भावों से बंधन को प्राप्त होता हुआ आकुल-व्याकुल होता है।

यहाँ आत्मा मोह, राग और द्वेष से किसप्रकार बंधन में पड़ता है - इस बात को समझाने के लिए आचार्यदेव बंधन में पड़े हुए तीनप्रकार के हाथियों का उदाहरण देते हैं।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२३७

२. वही, पृष्ठ-२३७

जंगली हाथियों को पकड़नेवाले शिकारी लम्बा-चौड़ा गड्डा खोदकर उसे जंगली झाड़ियों से ढक देते हैं। जिसप्रकार उक्त गड्डे से बेखबर हाथी तत्संबंधी अज्ञान के कारण उक्त गड्डे में गिर जाते हैं; उसीप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी अज्ञान के कारण यह आत्मा बंधन को प्राप्त होता है।

जंगली हाथियों को पकड़नेवाले दूसरा प्रयोग यह करते हैं कि जवान हथिनियों को इसप्रकार ट्रेण्ड करते हैं कि वे कामुक हाथियों को आकर्षित करती हुई उक्त गड्डे के पास लाती हैं। स्वयं तो जानकार होने से गड्डे में गिरने से बच जाती हैं; पर अज्ञानी हाथी अज्ञान के साथ-साथ हथिनियों के प्रति होनेवाले राग के कारण बंधन को प्राप्त होता है; उसीप्रकार यह अज्ञानी जीव पंचेन्द्रिय विषयों के रागवश बंधन को प्राप्त होता है।

तीसरा प्रयोग यह है कि मदोन्मत्त हाथियों को इसप्रकार ट्रेण्ड किया जाता है कि वे जंगली हाथी को युद्ध के लिए ललकारते हैं। उक्त हाथी जंगली हाथी को युद्ध के बहाने उक्त गड्डे के पास लाता है और लड़ते समय स्वयं तो जानकार होने से सावधान रहता है; किन्तु उक्त गड्डे से अज्ञानकार हाथी द्वेष के कारण बंधन को प्राप्त होता है। इसीप्रकार यह अज्ञानी आत्मा भी अनिष्ट से लगनेवाले पदार्थों से द्वेष करके बंधन को प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि जंगली हाथी के समान ही यह आत्मा भी अज्ञान (मिथ्यात्व) से, राग से और द्वेष से बंधन को प्राप्त होता है; इसलिए तत्त्वसंबंधी अज्ञान, राग और द्वेष सर्वथा हेय हैं, त्यागनेयोग्य हैं; जड़मूल से नाश करनेयोग्य हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी अज्ञान को ही बंध का कारण बताया गया, अन्य अप्रयोजनभूत वस्तुओं संबंधी अज्ञान को नहीं। तात्पर्य यह है कि आचार्यदेव ने इस प्रकरण में तत्त्वज्ञान संबंधी भूल को ही भूल कहा है। यहाँ अन्य लौकिक भूलों से कोई लेना-देना नहीं है।

प्रवचनसार गाथा-८५

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि बंध का कारण होने से मोह-राग-द्वेष सर्वथा हेय हैं, नाश करनेयोग्य हैं।

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि जिस मोह का त्याग करना है, नाश करना है; उस मोह की पहिचान कैसे हो, उस मोह की पहिचान का चिह्न क्या है ?

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

अद्वे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।

विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

(हरिगीत)

अयथार्थ जाने तत्त्व को अति रती विषयों के प्रति ।

और करुणाभाव ये सब मोह के ही चिह्न हैं ॥८५॥

पदार्थों का अयथार्थ ग्रहण, तिर्यच और मनुष्यों के प्रति करुणाभाव तथा विषयों का प्रसंग अर्थात् इष्ट विषयों के प्रति प्रेम और अनिष्ट विषयों से द्वेष - ये सब मोह के चिह्न हैं।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं-

“पदार्थों की अयथार्थ प्रतिपत्ति और तिर्यच और मनुष्यों के प्रेक्षायोग्य होने पर भी उनके प्रति करुणाबुद्धि से मोह को, इष्टविषयों की आसक्ति से राग को तथा अनिष्ट विषयों की अप्रीति से द्वेष को - इसप्रकार तीनों चिह्नों से तीनों प्रकार के मोह को पहिचान कर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए।”

वैसे तो आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं; फिर भी वे

करुणाभाव शब्द का अर्थ निश्चय से करुणाभाव और व्यवहार से करुणा का अभाव - इसप्रकार दो प्रकार से करते हैं। जो कुछ भी हो, पर इतना तो सुनिश्चित ही है कि निश्चय से करुणाभाव कहकर उन्होंने भी आचार्य अमृतचन्द्र के अभिप्राय को प्राथमिकता दी है।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

(द्रुमिला)

अजथारथरूप पदारथ को, गहिकैं निहचै सरधा करिवो ।

पशुमानुष में ममता करिकै, अपने मन में करुना धरिवो ॥

पुनि भोगविषैं मह इष्ट-अनिष्ट, विभावप्रसंगिन को भरिवो ।

यह लच्छन मोह को जानि भले, मिल्यौ जोग है इन्हें हरिवो ॥३९॥

(दोहा)

तीन चिह्न यह मोह के, सुगुरु दई दरसाय ।

‘वृन्दावन’ अब चूकि मति, जड़तैं इन्हें खपाय ॥४०॥

पदार्थों का अयथार्थ रूप ग्रहण कर उसे ही वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझना व पशुओं और मानवों पर अपनत्व-ममत्वपूर्वक अपने मन में करुणाभाव धारण करना तथा पंचेन्द्रियों के भोगों में इष्ट-अनिष्टबुद्धि पूर्वक राग-द्वेष करना - ये मोह के चिह्न हैं - ऐसा जानकर इनका त्याग करने का योग प्राप्त हुआ है।

मोह के ये तीन चिह्न हैं - ऐसा सुगुरु ने बताया है। कविवर वृन्दावनजी कहते हैं कि अब चूकना योग्य नहीं है, इन्हें जड़मूल से उखाड़ फेंकने में ही सार है।

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“जीव ज्ञानस्वरूप है, विभाव विपरीत है, निमित्त पृथक् है - ऐसा नहीं मानता और निमित्त से लाभ मानता है, विभाव को अनुकूल मानता

है और स्वभाव के सामर्थ्य की खबर नहीं; इसप्रकार जिसे पदार्थों की खबर नहीं, वह पदार्थों को अन्यथा अंगीकार (ग्रहण) करता है, वही मिथ्याभाव है।^१

दुखी जीव ज्ञान के ज्ञेय हैं, किन्तु अज्ञानी उसे करुणा का कारण बनाता है। तिर्यच और मनुष्य मात्र मध्यस्थभाव से देखनेयोग्य हैं, फिर भी अज्ञानी जीव अज्ञान द्वारा संयोगों में एकत्वबुद्धिरूप करुणा करता है।

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि का अनुकम्पा भी एक लक्षण कहा है, किन्तु यहाँ जो उसे दर्शनमोह का लक्षण कहा है, इसका क्या अर्थ है ?

समाधान – अनुकम्पा तो राग है। सम्यग्दृष्टि को अज्ञानरहित – ऐसा राग आता है, इतनी पहचान कराई है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है – जाननेवाला है, इसे छोड़कर – भूलकर ये मनुष्य और तिर्यचादि दुखी हैं – वे मिथ्यात्व से दुखी हैं – ऐसा ज्ञानी मानता है। मुझे उनके कारण उनके प्रति करुणा आई है – ऐसा माननेरूप करुणा मिथ्यात्व का लक्षण है।

ज्ञान जानता है कि ये ज्ञेय हैं, किन्तु उनको जानने के बदले कोई ऐसा माने कि उनके कारण मुझे दुख होता है अथवा वह प्राणी हैरान होता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। मेरी कमजोरी के दोष के कारण मुझे करुणा आती है – ऐसा मानना वह अलग बात है; किन्तु इस जीव के कारण मुझे करुणा आती है – ऐसा जो मानता है, वह तो पर के कारण राग, द्वेष, मोह का होना मानता है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।^२

सम्पूर्ण विश्व को ज्ञान का ज्ञेय बनाना चाहिए, इसके बदले उन्हें करुणा का कारण बनाता है। अपनी वर्तमान योग्यता से करुणा आए, वह अलग बात है।^३

यदि अपनी अवस्था में करुणा पर के कारण आती हो तो दुखी जीव तो तीनों ही काल रहेंगे, जिससे तीनों ही काल पुण्य का राग आता रहेगा

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२३९ २. वही, पृष्ठ-२३९-३४० ३. वही, पृष्ठ-२४०

और उनसे पुण्य का बंधन भी होता रहेगा, जिससे अबन्ध होने का कभी अवसर ही नहीं आएगा।

अज्ञानियों को भी संयोग का दुख नहीं है; अपितु वे अपने आनन्दस्वभाव को भूल गए हैं, इसलिए दुखी हैं।^४

वह संयोग के कारण दुखी हैं और उनको देखकर उनके कारण मैं दुखी हुआ तो उसने अजीव से आस्रव का होना माना, इसलिए उसे मिथ्यात्वसहित करुणा है।^५

देव दुखी नहीं दिखते और नारकी सामने दिखाई नहीं देते, इसलिए यहाँ मनुष्य और तिर्यच को लिया है।^६

स्वयं की कमजोरी से करुणा आई है – ऐसा ज्ञानी मानते हैं, किन्तु अज्ञानी पर के कारण करुणा हुई है – ऐसा मानते हैं। ज्ञानी को भी दुखी जीवों को देखकर करुणा का भाव आता है; किन्तु वे ऐसा जानते हैं कि वे जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भूल गए हैं; इसलिए दुखी हैं। वे दुखी हैं; इसलिए मुझे करुणा आई है – ऐसा ज्ञानी नहीं मानते।^७

जगत के पदार्थ अनन्त हैं और त्रिकाल हैं, इसलिए पर के कारण करुणा होती है – ऐसा माननेवाले का अनन्तानुबंधी राग दूर नहीं होगा। जगत के जीव देखने-जाननेयोग्य हैं। केवलज्ञानी सभी को देखते हैं, किन्तु उनको करुणा का विकल्प नहीं आता।^८

तिर्यच, मनुष्य जानने लायक होने से वे ज्ञान में मात्र ज्ञेयपने निमित्त हैं – ऐसा नहीं मानता। उनके आधार से मुझे करुणा आती है – ऐसा मानना वह मिथ्याशल्य है। वह दोष ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ही दूर होता है।^९

अज्ञानी मात्र जानने का काम तो नहीं करता, किन्तु जाननेयोग्य पदार्थ

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२४१

३. वही, पृष्ठ-२४२

५. वही, पृष्ठ-२४५

२. वही, पृष्ठ-२४२

४. वही, पृष्ठ-२४३-२४४

६. वही, पृष्ठ-२४६

में मेरे से कुछ होगा तथा उनसे मेरे में कुछ होगा – ऐसी विपरीत मान्यता ही करता है; इसलिए वह स्वभाव का खून करनेवाला है।^१

मेरी पर्याय में जो करुणा आती है, वह अस्थिरता चारित्र का दोष है; किन्तु यदि पर के कारण करुणा माने तो यह मिथ्यात्व का दोष है। इन दोषों के बीच अन्तर को तो न जाने और मैं सत्य के पथ में जाता हूँ – ऐसा मानता है, वह स्वयं को ठगता है। जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा वह नहीं मानता। यदि परिभ्रमण को दूर करना हो तो इन लक्षणों से मिथ्यात्व को पहिचानकर दूर करना चाहिए।^२

पर के कारण करुणा नहीं आती और ज्ञानस्वभाव में से भी करुणा नहीं आती, अपितु अपनी वर्तमान कमजोरी से करुणा आती है। अज्ञानी मानता है कि पर जीव को दुखी देखकर करुणा आती है, उसने सत्य परमेश्वर की आज्ञा नहीं मानी और वह उनकी सेवा नहीं करता, किन्तु वह मिथ्यात्व और राग की सेवा करता है।^३

इष्ट पदार्थ के प्रति राग होता है, वह मिथ्यात्व का अमर्यादित दोष है। स्वयं के कारण राग होता है, वह अल्पचारित्र दोष है, पर के कारण राग माने, उसका ज्ञान टेढ़ा हो गया है, वह तिरछा शरीरवाला तिर्यच होनेवाला है। एकेन्द्रिय, निगोद, वनस्पति वह तिर्यचगति में है, मिथ्यात्व की विपरीतता करनेवाला अल्पकाल में निगोद में जायेगा; इसलिए वस्तुस्वरूप की पहचान कर।^४

परपदार्थ अनिष्ट नहीं है, फिर भी अज्ञानी पर को अनिष्ट मानकर द्वेष करता है। विष्टा, रोगादि अनिष्ट नहीं है, वह तो परमाणु द्रव्य का पर्याय धर्म है, तेरा ज्ञेय है; फिर भी उन्हें अनिष्ट मानना मिथ्यात्वभाव है। ज्ञानी को कभी अल्पद्वेष आए, किन्तु वह पर के कारण द्वेष का होना नहीं मानता।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२४७

३. वही, पृष्ठ-२५०

२. वही, पृष्ठ-२४९

४. वही, पृष्ठ-२५१

ज्ञानस्वभाव में से द्वेष नहीं आता; अपितु चारित्र की कमजोरी के कारण द्वेष आता है – ऐसा वे मानते हैं, जबकि मिथ्यादृष्टि जीव पर के कारण द्वेष मानता है। पर के कारण दुख नहीं और ज्ञानस्वभाव से भी दुख नहीं आया है।^१

परपदार्थ के कारण करुणा होती है, इष्ट-अनिष्ट की कल्पना होती है – ऐसा मानना ही भावमरण है। यदि तुझे जीवित होना हो तो मोह को पहिचानकर उसका नाश करना योग्य है।^२”

ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि यहाँ करुणाभाव को मोह का चिह्न बताया गया है। करुणाभाव को यदि चारित्रमोह का चिह्न बताया होता, तब तो कोई बात ही नहीं थी; क्योंकि करुणा शुभभावरूप राग में आती है और पुण्यबंध का कारण है; किन्तु यहाँ तो उसे दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व का चिह्न बताया गया है; जो करुणा को धर्म माननेवाले जगत को एकदम अटपटा लगता है।

आचार्य जयसेन को भी इसप्रकार का विकल्प आया होगा। यही कारण है कि वे नयों का प्रयोग कर संधिविच्छेद के माध्यम से करुणाभाव शब्द का करुणाभाव और करुणा का अभाव – ये दो अर्थ करते हैं। उनके लिए यह सब अटपटा भी नहीं लगता, क्योंकि वे सदा ही अपनी बात को नयों के माध्यम से स्पष्ट करते आये हैं।

पुण्य के बंध के कारण शुभभावरूप होने से वह व्यवहारधर्म है भी; किन्तु उक्त सम्पूर्ण मंथन के उपरान्त यह बात तो स्पष्ट हो ही गयी है कि दूसरों को मारने-बचाने और सुखी-दुखी करने की मिथ्यामान्यतापूर्वक होनेवाला करुणाभाव सचमुच मोह (मिथ्यात्व) का ही चिह्न है।

जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर बचाने

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२५१-२५२

२. वही, पृष्ठ-२५३

और सुखी करने की मान्यतापूर्वक होनेवाला बचाने व सुखी करने के भाव को सम्यक्त्व का चिह्न कैसे माना जा सकता है ? स्वामीजी ने तत्त्वप्रदीपिका का आधार लेकर इस बात को इस रूप में स्पष्ट किया है कि परपदार्थ तो प्रेक्षायोग्य हैं, ज्ञेय हैं, जाननेयोग्य हैं; उन्हें अपने में उत्पन्न होनेवाले करुणाभाव के कारण के रूप में देखना अज्ञान नहीं है तो और क्या है? वे मेरे में उत्पन्न होनेवाले करुणाभाव के कारण नहीं, अपितु ज्ञेय होने से उनका ज्ञान होने में कारण हैं। उन्हें ज्ञेयरूप में देखना ही समझदारी है।

इसीप्रकार इष्ट-अनिष्ट बुद्धिपूर्वक होनेवाले राग-द्वेष भी मोह (मिथ्यात्व) के ही चिह्न हैं; क्योंकि ज्ञानी के जो राग-द्वेष पाये जाते हैं; वे इष्ट-अनिष्ट बुद्धिपूर्वक नहीं होते।

प्रश्न – व्यवहार से ही सही, पर आचार्य जयसेन ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि करुणा का अभाव मोह का चिह्न है; पर आप....।

उत्तर – अरे भाई ! आचार्य जयसेन तो यह कहना चाहते हैं कि वास्तविक (निश्चय) बात तो यही है कि करुणाभाव दर्शनमोह का चिह्न है; किन्तु यदि कहीं शास्त्रों में ऐसा लिखा मिल जावे कि करुणाभाव का अर्थ करुणा का अभाव होता है तो उसे व्यवहारकथन ही समझना चाहिए; क्योंकि लोक में करुणाभाव को धर्म कहा ही जाता है, माना भी जाता है।

महाकवि तुलसीदासजी तो यहाँ तक लिखते हैं कि -

दया धरम का मूल है, पाप मूल अभिमान।

तुलसी दया न छोड़िये, जबतक घट में प्राण ॥

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि दया के अभावरूप जो क्रूरता है; वह भी मोह (मिथ्यात्व) का ही चिह्न है। वीतरागतारूप करुणा का अभाव ही सम्यक्त्वरूप धर्म का चिह्न है। कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक परजीवों को बचाने या सुखी करने के भावरूप करुणा और मारने या दुखी करने के भावरूप करुणा का अभाव - दोनों ही दर्शनमोह के चिह्न हैं।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानी श्रावक और मुनिराजों के भूमिकानुसार करुणाभाव पाया ही जाता है। जिसप्रकार का करुणाभाव उनके पाया जाता है, वह दर्शनमोह का चिह्न नहीं है; पर वह चारित्रमोह का चिह्न तो है ही।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यामान्यता पूर्वक अनंतानुबंधी रागरूप करुणा और द्वेषरूप क्रूरता (करुणा का अभाव) दोनों दर्शनमोह का चिह्न हैं और मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के अभावपूर्वक अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों से होनेवाला करुणाभाव यद्यपि यह बताता है कि उनके चारित्रमोह विद्यमान है; अतः वह चारित्रमोह का चिह्न तो है, पर दर्शनमोह का चिह्न कदापि नहीं।

आचार्य अमृतचन्द्र पंचास्तिकायसंग्रह की समयव्याख्या टीका में ज्ञानी और अज्ञानी के करुणाभाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि किसी तृषादि दुख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना अज्ञानी की अनुकंपा है और ज्ञानी की अनुकंपा तो निचली भूमिका में विहरते हुए जगत में भटकते हुए जीवों को देखकर मन में किंचित् खेद होना है।

देखो, यहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि अनुकंपा दुखरूप होती है। यह बात आचार्य कुन्दकुन्द की मूल गाथा में भी इसी रूप में विद्यमान है।^१

प्रश्न – हम आपकी यह बात मान लेते हैं कि करुणाभाव स्वयं दुखरूप है; क्योंकि दूसरों के दुख को देखकर जो दुख हमें होता है, उसे ही करुणा कहते हैं। पर हम तो आप से स्पष्ट शब्दों में पूछना चाहते हैं कि करुणा करना चाहिए या नहीं ?

‘नहीं करना चाहिए’ – यह तो आप कह नहीं सकते; क्योंकि ज्ञानी

१. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १३७ एवं उसकी समयव्याख्या टीका

धर्मात्माओं के जीवन में भी करुणाभाव देखा जाता है। अब यदि यह कहा जाय कि करना चाहिए; तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसे धर्म मानकर ही करें या इसमें भी आपको कुछ कहना है ?

उत्तर – हमें बहुत प्रसन्नता है कि आपने हमारी बात मान ली; पर भाई साहब ! यह बात हमारी कहाँ है ? यह तो आचार्यों का कथन है, जिसके प्रमाण हमने प्रस्तुत किये ही हैं। हाँ, यह आचार्यों की बात हमें सच्चे दिल से स्वीकार है; इसलिए हमारी भी है; पर हम यह चाहते हैं कि यह आपकी भी बन जावें।

अब रही बात यह कि करुणा करना चाहिए या नहीं ? इसके संदर्भ में पंचास्तिकाय की समयव्याख्या टीका का उद्धरण दिया ही है कि ज्ञानी की करुणा कैसी होती है ?

अध्यात्मप्रेमी होने से यह तो आप जानते ही होंगे कि सभी जीवों के जीवन-मरण और सुख-दुख अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार होते हैं। यदि आपके ध्यान में अबतक यह बात न आ पाई हो तो कृपया समयसार के बंधाधिकार को देखें; उसमें इस बात को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। उसमें समागत ये कलश दृष्टव्य हैं –

(वसन्ततिलका)

सर्व सदैव नियतं भवति स्वकीय-

कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।

अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य-

कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य

पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।

कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते

मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥१६९॥

(हरिगीत)

जीवन-मरण अर दुःख-सुख सब प्राणियों के सदा
ह ी ।
अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से ॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख ।
विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है ॥१६८॥
करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख ।
मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को ॥
कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष ।
भव-भव भ्रमों मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष ॥१६९॥

देखो, यहाँ दूसरों को सुखी करने और बचाने के अभिप्राय को दुखी करने और मारने के अभिप्राय के समान ही हेय बताया है और उन्हें अपनी आत्मा का हनन (हत्या) करनेवाला कहा गया है।

यह बात जुदी है कि विभिन्न भूमिकाओं में रहनेवाले ज्ञानीजनों को अपनी-अपनी भूमिकानुसार करुणाभाव आये बिना नहीं रहता, आता ही है; पर उसे करना चाहिए – यह कैसे कहा जा सकता है ?

एक स्थान पर मैंने पढ़ा था कि श्रीमद् राजचन्दजी से जब गाँधीजी ने पूछा कि कोई किसी को मार रहा हो तो उसे बचाने के लिए तो हम मारनेवाले को मार सकते हैं न ? गाय पर झपटनेवाले शेर को मारने में तो कोई पाप नहीं है न ? आप तो यह बताइये कि कोई हमें ही मारने लगे तब तो हम उसे.....?

श्रीमद्जी एकदम गंभीर हो गये। विशेष आग्रह करने पर उन्होंने उसी गंभीरता के साथ कहा कि आपको ऐसा काम करने को मैं कैसे कह सकता हूँ कि जिसके फल में आपको नरक-निगोद जाना पड़े और भव-भव में भटकना पड़े ?

गाँधीजी ने कहा – स्वयं को या दूसरों को बचाने का भाव तो शुभ

ही है ?

श्रीमद्जी बोले - बचाने के लिए ही सही, पर मारने के भाव और मारने की क्रिया तो संक्लेश परिणामों के बिना संभव नहीं है और संक्लेश परिणामों से तो पाप ही बंधता है।

श्रीमद् के उक्त कथन में सबकुछ आ गया है। आप कहते हैं कि करुणा करना तो चाहिए न ? पर अभी आप यह मान चुके हैं कि करुणाभाव दुखरूप भाव है; दुखभाव करने का अर्थ दुखी होना ही है। मैं आपको दुखी होने के लिए कैसे कह सकता हूँ ?

हाँ, पर यह बात एकदम सच्ची और पक्की है कि ज्ञानीजनों के जीवन में अपनी-अपनी भूमिकानुसार करुणाभाव होता अवश्य है और तदनुसार क्रिया-प्रक्रिया भी होती ही है। बस इससे अधिक कुछ नहीं।

प्रश्न - जब करुणाभाव ज्ञानियों के जीवन में भी होता ही है तो फिर उसे धर्म मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर - व्यवहारधर्म तो उसे कहते ही हैं; किन्तु निश्चयधर्म तो उसे कहते हैं; जो मुक्ति का कारण है। ज्ञानियों के जीवन में तो यथायोग्य अशुभभाव भी होते हैं तो क्या उन्हें भी धर्म माने ? ज्ञानियों के जीवन में होना अलग बात है और उनमें उपादेयबुद्धि होना अलग बात है, उनमें धर्मबुद्धि होना अलग बात है।

ज्ञानियों के जीवन में भूमिकानुसार जो-जो भाव होते हैं; वे सभी भाव धर्म तो नहीं हो जाते। हाँ, ज्ञानी जीव जिन भावों को धर्म मानते हैं, वे भाव अवश्य ही निश्चयधर्म होते हैं।

अपना सुख अपने में है, पर मैं नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अतः सुखार्थी का परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा से झांकना निरर्थक है। तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भंडार है, सुख स्वरूप है, सुख ही है। तीर्थ. महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-५२

प्रवचनसार गाथा ८६

विगत गाथा में यह कहा गया है कि पदार्थों के अयथार्थ ग्रहणपूर्वक होनेवाले करुणाभाव और अनुकूल विषयों में राग तथा प्रतिकूल विषयों में द्वेष - ये मोह के चिह्न हैं तथा ८०-८१वीं गाथा में यह कहा गया था कि अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर अपने आत्मा को जानना ही मोह के नाश का उपाय है।

अब इस गाथा में यह बताते हैं कि ८०-८१वीं गाथा में बताया गया मोह के नाश का उपाय अध्यात्मशास्त्रों के गहरे अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जिणसत्थादो अट्टे पच्चक्खादीहिं बुच्छदो णियमा ।

खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

(हरिगीत)

तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से।

दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥८६॥

जिनशास्त्रों द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जाननेवाले का नियम से मोह के उपचय (समूह) का क्षय हो जाता है; इसलिए शास्त्रों का सम्यक्प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

उक्त गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“८०वीं गाथा में द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभाव से अरहंत के ज्ञान द्वारा आत्मा का उसीप्रकार का ज्ञान मोहक्षय के उपाय के रूप में बताया गया था; वह वस्तुतः इस ८६वीं गाथा में प्रतिपादित उपायान्तर की अपेक्षा रखता है।

सर्वज्ञकथित होने से पूर्णतः अबाधित आगमज्ञान को प्राप्त करके उसी में क्रीड़ा करने से प्राप्त संस्कार से विशिष्ट संवेदनशक्तिरूप संपदा

प्रगट करने पर सहृदयजनों के हृदय को आनन्द से स्फुरायमान करनेवाले प्रत्यक्षप्रमाण से अथवा उससे अविरोद्ध अन्य प्रमाणसमूह से समस्त वस्तुसमूह को यथार्थरूप से जानने पर विपरीताभिनिवेश के संस्कार करनेवाला मोहोपचय अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

इसलिए भावज्ञान के अवलम्बन के द्वारा दृढकृत परिणाम से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना प्राथमिक भूमिकावाले लोगों को मोहक्षय करने के लिए उपायान्तर है।”

यद्यपि आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के भाव को तत्त्वप्रदीपिका के अनुसार ही स्पष्ट किया है; तथापि वे उक्त गाथा का तात्पर्य इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं-

“कोई भव्यजीव सर्वप्रथम तो वीतरागी-सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित शास्त्रों द्वारा श्रुतज्ञान से आत्मा को जानता है और उसके बाद विशिष्ट अभ्यास के वश से परमसमाधि के समय रागादि विकल्पों से रहित मानसप्रत्यक्ष से उसी आत्मा को जानता है अथवा उसीप्रकार अनुमान से जानता है।

जिसप्रकार सुखादि के समान विकाररहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से यह जाना जाता है कि शरीर में ही एक शुद्ध-बुद्ध परमात्मा है; उसीप्रकार यथासंभव आगम-अभ्यास से उत्पन्न प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से अन्य पदार्थ भी जाने जाते हैं।

इसलिए मोक्षार्थी भव्यों को आगम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।”

उक्त कथन में आचार्य जयसेन ने मोह के क्षय के कारणरूप में होनेवाले क्रमिक विकास को स्पष्ट कर दिया है।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को एक मनहरण कवित्त में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(मनहरण)

परतच्छ आदिक प्रमानरूप ज्ञानकरि,
सरवज्ञकथित जो आगमतेँ जानै है ।
सत्यारथरूप सर्व पदारथ 'वृन्दावन',
ताको सरधान ज्ञान हिरदै में आनै है ॥
नेमकरि ताको मोह संचित खिपत जात,
जाको भेद विपरीत अज्ञान विधानै है ।
तातेँ मोह शत्रु के विनासिवे को भलीभाँति,
आगम अभ्यासिवो ही जोगता वखानै है ॥४१॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणरूप ज्ञान के द्वारा और सर्वज्ञकथित आगम के द्वारा सर्वपदार्थों का सत्यार्थ स्वरूप जानकर हृदय में उसका श्रद्धान करनेवाले का संचित मोह नियम से नाश को प्राप्त होता है। जिस मोह शत्रु का विधान ही अज्ञान है; उस मोह शत्रु के नाश के लिए आगम का अभ्यास एकमात्र योग्यता है; इसलिए आगम का अभ्यास भलीभाँति करना चाहिए।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“एकमात्र ज्ञानगुण स्व-परप्रकाशक है। स्व-पर को जानने की ताकत ज्ञान में है; इसलिए जिनकी पूर्ण पर्याय प्रगट हुई है - ऐसे अरहंत को पहचान कर, उनके कहे हुए शास्त्र का अभ्यास करना योग्य है।”

तीनकाल-तीनलोक के सर्वपदार्थों का सर्वस्व सर्वज्ञ के ज्ञान में जानने में आ गया है। कुछ भी नया होनेवाला नहीं है - ऐसा निर्णय करें, उसमें आत्मा के सर्वज्ञपद की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ चालू होता है।”

स्वभाव का सद्भाव और भव का अभाव करनेवाले शास्त्र का अभ्यास करना। जो परिणाम भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढतर हों - ऐसे परिणाम से द्रव्य-श्रुत का अभ्यास करना, वह मोह क्षय करने में उपायान्तर है।^३

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२५७

२. वही, पृष्ठ-२५८

३. वही, पृष्ठ-२६३

अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानकर अपना स्वरूप जानना वह भी एक उपाय है, इसके बाद विशेष दृढ़ करने और राग का अभाव करने के लिए शास्त्र अभ्यास उपाय है।^१

ज्ञान प्रगट करना और ज्ञान की एकाग्रता करना - यह केवलज्ञान का उपाय है। नित्य चैतन्यस्वभावी हूँ मैं - यही श्रद्धा दृढ़ रखकर, शास्त्र का अभ्यास करना चाहिए। इसमें परिणामों की शुद्धता करना मुख्य है और वह मोह का नाश करने का उपाय है।^२”

८०वीं गाथा में अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने की बात कही गई थी। अतः अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्यायों को कैसे जाने? इसके उत्तर में इस गाथा में यह बताया गया है कि अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने के लिए आगम का स्वाध्याय करना चाहिए।

स्वाध्याय में अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि का श्रवण, उसके अनुसार लिखे गये शास्त्रों का पठन-पाठन एवं उनके मर्म को जाननेवाले तत्त्वज्ञानी गुरुओं के उपदेश का श्रवण - ये सबकुछ आ जाता है।

उक्त सम्पूर्ण कथन से यही प्रतिफलित होता है कि देशनालब्धि के माध्यम से अरहंत भगवान को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व से जानकर, तर्क की कसौटी पर कसकर निर्णय करना चाहिए। तदुपरान्त उन्हीं के समान अपने आत्मा को भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानकर आत्मानुभव करना चाहिए। दर्शनमोह के नाश करने का एकमात्र यही उपाय है।

ध्यान रहे यहाँ मोह के नाश के लिए स्वाध्याय के अतिरिक्त और किसी भी क्रियाकाण्ड या शुभभाव को उपाय के रूप में नहीं बताया है। अतः आत्मकल्याण की भावना से मोह (मिथ्यात्व) का नाश करने के लिए धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्य क्रियाकलापों से थोड़ा-बहुत विराम लेकर पूरी शक्ति और सच्चे मन से स्वाध्याय में लगना चाहिए; अन्यथा यह क्रियाकलाप ही ही चलायेगा, कुछ भी हाथ नहीं आयेगा।-२६३ ●

प्रवचनसार गाथा-८७

विगत गाथा में यह बताया गया है कि अरहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्याय से जानने के लिए जिनेन्द्रकथित शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए।

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार द्रव्य-गुण-पर्याय का सामान्य स्वरूप क्या है?

ध्यान रहे यहाँ मात्र एक गाथा में ही द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बताया है; आगे ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार में इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्टसण्णया भणिया।

तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो।।८७।।

(हरिगीत)

द्रव्य-गुण-पर्याय ही हैं अर्थ सब जिनवर कहें।

अर द्रव्य गुण-पर्यायमय ही भिन्न वस्तु है नहीं।।८७।।

द्रव्य, गुण और पर्यायें अर्थ नाम से कही गई हैं। उनमें गुण-पर्यायों का आत्मा द्रव्य है। इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

“द्रव्य, गुण और पर्यायें अभिधेय (वाच्य) का भेद होने पर भी अभिधान (वाचक) का अभेद होने से अर्थ हैं।

उनमें जो गुणों और पर्यायों को प्राप्त करते हैं या गुणों और पर्यायों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं; वे अर्थ द्रव्य हैं; जो द्रव्यों को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं या आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, वे अर्थ गुण

हैं और जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं या द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त किये जाते हैं, वे अर्थ पर्याय हैं।

जिसप्रकार सोनारूप द्रव्य पीलेपन आदि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों को प्राप्त करता है अथवा उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है; इसलिए सोना द्रव्य अर्थ है।

जिसप्रकार पीलापन आदि गुण सोने को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं अथवा सोने द्वारा प्राप्त किये जाते हैं; इसलिए पीलापन आदि गुण अर्थ हैं। जिसप्रकार कुण्डलादि पर्यायों सोने को क्रमपरिणाम से प्राप्त करती हैं अथवा सोने द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त की जाती हैं; इसलिए कुण्डलादि पर्यायों अर्थ हैं।

इसीप्रकार अन्यत्र सभी जगह घटित कर लेना चाहिए।

जिसप्रकार पीलापन आदि गुण और कुण्डलादि की सोने से अभिन्नता होने से उनका सोना ही आत्मा है; उसीप्रकार उन द्रव्य-गुण-पर्यायों में गुण-पर्यायों से अभिन्नता होने से उनका द्रव्य ही आत्मा (सर्वस्व-स्वरूप) है।”

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा का अर्थ तत्त्व-प्रदीपिका के समान ही करते हैं।

यहाँ ध्यान देने की विशेष बात यह है कि यहाँ द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों को ही अर्थ कहा गया है। द्रव्य को गुण-पर्यायात्मक और गुणों और पर्यायों को द्रव्यात्मक कहा गया है, अभेद, अभिन्न कहा गया है।

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनदासजी दो मनहरण कवित्त और एक दोहे के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं; जिसमें दूसरा कवित्त और दोहा इसप्रकार है -

(मनहरण)

द्रव्य गुण पर्ज को कहावत अरथ नाम,

तहाँ गुण पर्ज करै द्रव्य में गमन है ।

तथा द्रव्य निज गुणपर्ज में गमन करै,

ऐसे 'अर्थ' नाम इन तीनों को अमन है ॥

जैसे हेम निज गुण पर्ज में रमन करै,

गुण परजाय करें हेम में रमन है ।

ऐसो भेदाभेद निजआतम में जानो वृन्द,

स्याद्वाद सिद्धांत में दोष को दमन है ॥४३॥

द्रव्य, गुण और पर्याय - इन तीनों को ही अर्थ कहा जाता है। गुण और पर्यायों द्रव्य को प्राप्त होती हैं और द्रव्य गुण-पर्यायों को प्राप्त होता है। इसप्रकार इन तीनों का अर्थ नाम सार्थक है।

जिसप्रकार सोना अपने गुण-पर्यायों में रमण करता है और उसके गुण-पर्याय सोने में रमण करते हैं। इसीप्रकार का भेदाभेद अपने आत्मा में भी लागू होता है; क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता।

(दोहा)

यातैं जिन सिद्धांत को, करो भले अभ्यास ।

मितै मोहमल मूलतैं, होय शुद्ध परकास ॥४४॥

इसलिए जिनेन्द्रकथित सिद्धान्तों का भलीभाँति अभ्यास करना चाहिए; इससे मोहरूपी मैल का मूल से नाश होगा और शुद्धात्मा का प्रकाश प्रगट होगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का अर्थ इसप्रकार स्पष्ट करते हैं-

“भगवान ने जैसे पदार्थ देखे हैं, वैसा ही उनकी वाणी में आया है, उसका अभ्यास स्व-लक्ष्य से करे तो मोह दूर हुए बिना नहीं रहे।”

द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में भावभेद होने पर भी तीनों को 'अर्थ' - ऐसे एक ही नाम से कहा जाता है। द्रव्य अर्थात् शक्तिवान वस्तु, गुण

अर्थात् शक्ति, पर्याय अर्थात् अवस्था - इन तीनों में वाचक और वाच्य भेद है; किन्तु तीनों का स्वरूप अभेद गिनकर (समझकर यदि) एक नाम लिया जाये तो तीनों को अर्थ कहा जाता है। गुण शब्द शक्ति को बताता है, पर्याय शब्द अवस्था को बताता है; फिर भी यदि वाचक में भेद नहीं रखा जाये तो अर्थ - ऐसे एक ही शब्द से तीनों पहिचाने जाते हैं।^१

द्रव्य का स्वभाव गुण-पर्याय का पिंड है, गुण का स्वभाव अर्थात् वह त्रिकाली शक्तिरूप भाव है और पर्याय अर्थात् व्यक्त अवस्था-दशा; इसप्रकार स्वभावभेद है। इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय के नामभेद तीन हैं; किन्तु तीनों का वाचक भेद निकालकर यदि तीनों को एक ही शब्द से कहें तो उनको अर्थ कहा जाता है।^२

दिव्यवाणी में वस्तु की जो मर्यादा भगवान ने कही है कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय को प्राप्त होता है - यही वस्तु की मर्यादा है। अतः आत्मा भी अपने गुण-पर्याय को प्राप्त होता है; किन्तु दूसरे पदार्थ आत्मा की पर्याय को पहुँच जावे - ऐसी वस्तु की मर्यादा नहीं है तथा आत्मा दूसरे पदार्थ की पर्याय को पहुँचे - ऐसी भी वस्तु की मर्यादा नहीं है - यह महासिद्धान्त है।^३

जिसप्रकार भूमि के बिना वृक्ष नहीं उगते, वैसे ही वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय के भान बिना चारित्र नहीं हो सकता। वीतराग द्वारा कहे गए द्रव्य-गुण-पर्याय के यथार्थ ज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन होता है।^४

यहाँ 'अर्थ' शब्द का आशय शब्दार्थ नहीं है, अपितु यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को अर्थ कहते हैं। गुण-पर्याय द्रव्य को प्राप्त करते हैं; इसलिए अर्थ हैं। आत्मा, परमाणु आदि जितने भी पदार्थ हैं, वे अपने ही गुण-पर्याय को पहुँचते हैं। पर्याय, द्रव्य से प्राप्त होती है।^५

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२६६-२६७

२. वही, पृष्ठ-२६७

४. वही, पृष्ठ-२८०-२८१

३. वही, पृष्ठ-२६८

५. वही, पृष्ठ-२८१

शुद्ध अशुद्ध पर्याय का पिंड द्रव्य है। अशुद्ध पर्याय द्वारा और शुद्ध पर्याय द्वारा द्रव्य प्राप्त किया जाता है। गुण कायमी स्वभाव है, पर्याय क्षणिक स्वभाव है, मिथ्यात्व-राग-द्वेष भी क्षणिक स्वभाव है।^१

समयसार में भी बन्ध-मोक्ष की पर्याय अभूतार्थ और कायमी (ध्रुव) स्वभाव को भूतार्थ कहा है, वहाँ अभेददृष्टि का कथन है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। वह ज्ञान स्व को जानता है, गुण-पर्याय को जानता है तथा अशुद्धि को जानता है।^२

इसप्रकार इस गाथा में द्रव्य-गुण-पर्याय का सामान्य स्वरूप बताते हुए मात्र इतना ही कहा गया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय - इन तीनों को अर्थ कहते हैं। द्रव्य को भी अर्थ कहते हैं; गुण को भी अर्थ कहते हैं और पर्यायों को भी अर्थ कहते हैं।

ध्यान रहे द्रव्य, गुण और पर्याय - इन तीनों को मिलाकर भी अर्थ कहते हैं और तीनों को पृथक्-पृथक् भी अर्थ कहते हैं।

द्रव्य, गुण और पर्याय - इन तीनों में कथंचित् भेदाभेद है। तात्पर्य यह है कि ये तीनों प्रदेशों की अपेक्षा एक हैं, परन्तु भाव की अपेक्षा जुदे-जुदे हैं; क्योंकि इनमें प्रदेशभेद नहीं है, पर भावभेद है।

द्रव्य-गुण-पर्याय की चर्चा आगे विस्तार से आनेवाली है; अतः यहाँ विशेष विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२८१

२. वही, पृष्ठ-२८५

अपने को जीतना ही सच्ची वीरता है, मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। दूसरों को तो इस जीव ने हजारों बार जीता है, पर अपने को नहीं जीता। दूसरों को जानने और जीतने में इस जीव ने अनन्त भव खोये हैं और दुख ही पाया है। एक बार अपने को जान लेता और अपने को जीत लेता तो ज्ञानानन्दमय हो जाता। भव-भ्रमण से छूटकर भगवान बन जाता।

- तीर्थ. महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ-५९

प्रवचनसार गाथा ८८-८९

विगत गाथाओं में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि जिनेन्द्रकथित द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान बिना मोह का नाश संभव नहीं है; अतः द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान करने के लिए जिनेन्द्रकथित शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए।

अब इन गाथाओं में यह बताया जा रहा है कि जिनेश्वर के उपदेश की प्राप्ति होने पर पुरुषार्थ कार्यकारी है; इसकारण जो जिनेश्वरदेव के उपदेशानुसार पुरुषार्थ करता है; मोह को नाश करनेवाला वह अल्पकाल में ही सभीप्रकार के दुखों से मुक्त हो जाता है।

गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोणहमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥८८॥
णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

(हरिगीत)

जिनदेव का उपदेश यह जो हने मोहरु क्षोभ को ।

वह बहुत थोड़े काल में ही सब दुखों से मुक्त हो ॥८८॥

जो जानता ज्ञानात्मक निजरूप अर परद्रव्य को ।

वह नियम से ही क्षय करे दृगमोह एवं क्षोभ को ॥८९॥

जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त कर मोह-राग-द्वेष का नाश करता है; वह अल्पकाल में ही सर्व दुखों से मुक्त हो जाता है।

जो निश्चय से ज्ञानात्मक निज को और पर को, निज-निज द्रव्यत्व से संबद्ध (संयुक्त) जानता है; वह मोह का क्षय करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जिसप्रकार तीक्ष्णतलवारधारी मनुष्य तलवार से शत्रुओं पर अत्यन्त वेग से प्रहार करे, तभी तत्संबंधी दुखों से मुक्त होता है, अन्यथा नहीं; उसीप्रकार अतिदीर्घ उत्पातमय संसारमार्ग में किसी भी प्रकार से जिनेन्द्रदेव के अतितीक्ष्ण असिधारा के समान उपदेश को प्राप्त कर जो पुरुष मोह-राग-द्वेष पर अति दृढ़तापूर्वक प्रहार करता है, वही शीघ्र सब दुखों से मुक्त होता है; अन्य कोई व्यापार (प्रयत्न-क्रियाकाण्ड) समस्त दुखों से मुक्त नहीं करता।

इसलिए मैं मोह का क्षय करने के लिए सम्पूर्ण आरंभ से, प्रयत्न से पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

जो निश्चय से अपने को अपने चैतन्यात्मक द्रव्यत्व से संबद्ध और पर को पर के यथायोग्य द्रव्य से संबद्ध ही जानता है; सम्यक्प्रकार से स्व-पर विवेक को प्राप्त वह पुरुष सम्पूर्ण मोह का क्षय करता है। इसलिए मैं स्व-पर के विवेक के लिए प्रयत्नशील हूँ।”

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करने में आचार्य अमृतचन्द्र का ही अनुसरण करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इन दो गाथाओं का भाव दो छन्दों में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं -

(षट्पद)

जो जन श्रीजिनराजकथित उपदेश पाय करि ।

मोह राग अरु द्वेष इन्हें घातै उपाय धरि ॥

सो जन उद्यमवान बहुत थोरे दिनमाहीं ।

सकल दुःखसों मुक्त होय भवि शिवपुर जाहीं ॥

यातैं जिनशासन कथन का सार सुधारस पीजिए ।

वृन्दावन ज्ञानानंदपद ज्यों उतावली लीजिए ॥४५॥

जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष को उपाय से घातता है; वह उद्यमवान भव्य पुरुष बहुत थोड़े दिनों में

सर्वदुखों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इसलिए वृन्दावन कवि कहते हैं कि जिनशासन के सार का अमृतपान कीजिए और अतिशीघ्र ही ज्ञानानन्दमय मुक्तिपद को प्राप्त कर लीजिए।

(मनहरण)

आतमा दरव ही है ज्ञानरूप सदाकाल,

ज्ञान आतमीक यह आतमा ही आप है।

ऐसी एकताई ज्ञान आतम की वृन्दावन,

ताको जो प्रतीति प्रीति करें जपै जाप है ॥

तथा पुगलादि को सुभाव भलीभाँति जानै,

जान भेद जैसे जीव कर्म को मिलाप है।

सोई भेदज्ञानी निजरूप में सुथिर होय,

मोह को विनासै जातैं नसै तीनों ताप है ॥४६॥

सदाकाल यह आत्मा ज्ञानरूप है और आत्मीक ज्ञान भी स्वयं आत्मा ही है। वृन्दावन कवि कहते हैं कि ज्ञान और आत्मा की ऐसी एकता की जो व्यक्ति प्रतीति करता है, प्रीति करता है, जाप करता है और पुद्गलादि परद्रव्यों का स्वभाव भी भलीभाँति जानता है तथा जीव और कर्मों का मिलाप का रहस्य भी जानता है; वह भेदज्ञानी जीव निजस्वभाव में लीन होकर मोह का नाश कर देता है, जिससे त्रिविध ताप का नाश हो जाता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इन सब पापों का मूल अज्ञान है-मिथ्या भ्रान्ति है, उसका छेदन करने के लिए भगवान का उपदेश तलवार जैसा है, जो मिथ्या भ्रान्ति और राग-द्वेष को काट ही डाले (नष्ट कर दे) - ऐसा ही है।”

आत्मा अमृतस्वरूप है, उसे कहने में निमित्त उनके वचन अमृत हैं।

ज्ञानी को पूर्णदशा न हो, तबतक राग आता है; किन्तु वह संसारमय उत्पात (अशांत) मार्ग है-शान्ति नहीं।^१

इस उत्पातमय संसारमार्ग में किसी भी प्रकार से अर्थात् तेरे सुनने की योग्यता के कारण से और पुण्य प्रताप के योग से जिनेन्द्रदेव का उपदेश मिल जाए तो वह उपदेश मिथ्यात्व-राग-द्वेष को नष्ट करे - ऐसी तीक्ष्ण असिधारा के समान है।^२

पुण्य-पाप की रुचि छोड़, स्वभाव की रुचि कर - ऐसा उपदेश सुनना लोगों को कड़क-तीखा पड़ता है। शुभराग की पहचान करना, शुभराग को लाना, शुभराग को करते-करते आगे बढ़ जाएगा - वीतराग की वाणी इसप्रकार नहीं होती। प्रवचनसार की एक-एक गाथा चौदह पूर्व का रहस्य दर्शाती है।

राग करना अथवा नहीं करने का प्रश्न ही नहीं, ज्ञानस्वभावी आत्मा की रुचि करने पर राग की रुचि (स्वयमेव) छूट जाएगी और स्थिरता द्वारा राग छूट जाएगा।^३

जैसे हाथ में तलवार मिली हो, किन्तु उसे मात्र रखे रहे तो वह किसी काम की नहीं होती। वैसे ही जिनेन्द्रदेव का उपदेश मिला; किन्तु जो ज्ञानस्वरूप है - ऐसे स्वभाव में ढलने पर राग नहीं होता; स्वभाव ज्ञायकज्योति है, उसमें एकाकार-अन्तरदृष्टि होने पर, मोह-राग-द्वेष के ऊपर दृढ़ प्रहार करता है - ऐसा भगवान के उपदेश में कहा है।^४

शुभरागादि क्रियाएँ धर्म का अथवा मुक्ति का कारण नहीं है; अन्य कोई व्यापार, समस्त दुख से परिमुक्त नहीं करता; स्वभाव-सन्मुखता के सिवाय अन्य कोई भी क्रिया अथवा किसी भी भाव से जीव, दुखों से मुक्त

नहीं हो सकता। जिस भाव से तीर्थंकर नाम नामकर्म बंधता है, वह भाव पुण्यास्रव है, वह केवलज्ञान का कारण नहीं है।^१

ज्ञानात्मक लक्षणवाला आत्मा है और अन्य लक्षणों से लक्षित वे अन्य पदार्थ हैं; इसप्रकार स्व-पर के भेदज्ञान की सिद्धि होती है और इसी भेदज्ञान से ही मोह का क्षय हो सकता है; इसीलिए स्व-पर स्वरूप की भिन्नता की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं।^२

मिथ्यादर्शन अर्थात् दर्शनमोह और अशान्ति व राग-द्वेष वह चारित्र-मोह है; इसप्रकार दोनों ही प्रकार का मोह स्वसन्मुख सावधानीरूप विवेक से नाश को प्राप्त होता है।^३”

उक्त दोनों गाथाओं और उनकी टीका में मात्र इतनी-सी बात कही है कि जिसप्रकार तलवार धारण करने मात्र से शत्रु को नहीं जीता जाता; जबतक उक्त तलवार का उग्र पुरुषार्थ द्वारा प्रयोग न किया जाय, शत्रु पर वार न किया जाय, तबतक शत्रुओं को समाप्त नहीं किया जा सकता; तत्संबंधी आकुलता भी समाप्त नहीं होती।

उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवान का उपदेश प्राप्त हो जाने मात्र से कर्म शत्रुओं को नहीं जीता जा सकता; जबतक आत्मा मोह-राग-द्वेष पर तीव्र प्रहार नहीं करता; तबतक मोह-राग-द्वेष का नाश नहीं होता; दुखों से मुक्ति प्राप्त नहीं होती; अन्य कोई धार्मिक क्रियाकाण्ड ऐसा नहीं है कि जिससे दुखों से मुक्त हुआ जा सके।

इसलिए जो पुरुष सर्व दुखों से मुक्त होना चाहते हैं; उन्हें जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से स्व-पर भेदविज्ञान करके मोह-राग-द्वेष के नाश के लिए आत्मानुभूतिपूर्वक पर से भिन्न निज आत्मा में अपनापन स्थापित करके उसी में जम जाना, रम जाना चाहिए। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-२९६

२. वही, पृष्ठ-३०१

३. वही, पृष्ठ-३०२

प्रवचनसार गाथा-९०

विगत गाथाओं में यह कहा गया है कि जो स्व और पर की भिन्नता जानकर स्व में जमते-रमते हैं; मोह को क्षय करनेवाले वे सर्व दुखों से मुक्त हो जाते हैं।

अब इस गाथा में यह बताया जा रहा है कि अपनी निर्मोहता चाहते हो तो आगम के अभ्यास से स्व-पर भेदविज्ञान करो, स्व-पर का विवेक करो।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।

अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

(हरिगीत)

निर्मोह होना चाहते तो गुणों की पहिचान से।

तुम भेद जानो स्व-पर में जिनमार्ग के आधार से ॥९०॥

इसलिए यदि आत्मा अपनी निर्मोहता चाहता है तो जिनमार्ग से गुणों के द्वारा सभी द्रव्यों में स्व और पर को जानो।

आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मोह का क्षय करने के प्रति प्रवणबुद्धिवाले ज्ञानीजनों ! इस जगत में आगम में कथित अनन्त गुणों में से असाधारणपना को प्राप्त विशेष गुणों द्वारा स्व-पर का विवेक प्राप्त करो; जो इसप्रकार है -

सत् और अहेतुक (अकारण) होने से स्वतःसिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से स्व-पर के ज्ञायक मेरे चैतन्य द्वारा जो समानजातीय या असमानजातीय द्रव्यों को छोड़कर मेरे आत्मा में वर्तनेवाले आत्मा के द्वारा मैं अपने आत्मा को तीनोंकाल में ध्रुवत्व को धारण करनेवाला द्रव्य जानता हूँ।

इसप्रकार पृथक् रूप से वर्तमान स्वलक्षणों के द्वारा आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्मा को भी तीनोंकाल में ध्रुवत्व धारक द्रव्य के रूप में निश्चित करता हूँ। इसलिए मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ और आत्मान्तर (अन्य आत्मा) भी नहीं हूँ; क्योंकि मकान के एक कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाश की भाँति यह द्रव्य इकट्ठे होकर रहते हुए भी मेरा चैतन्य निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ मुझे पृथक् बतलाता है।

इसप्रकार स्व-परविवेक के धारक इस आत्मा को विकार करनेवाला मोहांकुर उत्पन्न ही नहीं होता।”

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में इस गाथा के अर्थ को समझाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका का ही अक्षरशः अनुकरण करते दिखाई देते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को प्रस्तुत करते हुए एक मनहरण कवित्त लिखते हैं, जिसमें सोदाहरण गाथा का भाव प्रस्तुत किया गया है। साथ में पाँच दोहे भी लिखते हैं, जिनमें विषयवस्तु को बड़ी ही सरलता से प्रस्तुत किया गया है।

दोहे मूलतः इसप्रकार हैं -

(दोहा)

दरवनि में दो भाँति के गुन वरतंत सदीव ।

हैं सामान्यस्वरूप इक एक विशेष अतीव ॥४८॥

तामें आतमरसिकजन गुन विशेष उरधार ।

द्रव्यनि को निरधार करि सरधा धरैं उदार ॥४९॥

एकक्षेत्र-अवगाह में हैं षड्द्रव्य अनाद ।

निज निज सत्ता को धरैं जुदे जुदे मरजाद ॥५०॥

ज्यों का त्यों जानों तिन्हें तामें सो निजरूप ।

भिन्न लखो सब दरवतैं चिदानंद चिद्रूप ॥५१॥

ताके अनुभवरंग में पगो 'वृन्द' सरवंग ।

मोह महारिपु तुरत सब होय मूलतैं भंग ॥५२॥

सभी द्रव्यों में दो प्रकार के गुण सदा ही रहते हैं। उनमें एक तो सामान्य गुण हैं और दूसरे विशेष गुण हैं।

आत्मरसिकजन उन गुणों में से विशेष गुणों को हृदय में धारण करके उनके आधार पर द्रव्यों का निर्धारण करते हैं और उक्त निर्धारण (निर्णय) की श्रद्धा धारण करते हैं।

यद्यपि ये सभी षट्द्रव्य अनादि से ही एकक्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं; तथापि सभी भिन्न-भिन्न मर्यादा में रहते हुए अपनी-अपनी सत्ता को धारण किये हुए हैं।

उन सभी को जैसे वे हैं, वैसे ही जानकर उनमें से निजरूप जो चैतन्य-स्वरूप चिदानन्द है, उसे सभी द्रव्यों से भिन्न देखो, भिन्न जानो।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि निजरूप उस आत्मा के अनुभव के रंग में सर्वांग सरावोर हो जावो। इससे महाशत्रु मोह अति शीघ्र जड़मूल से भंग हो जावेगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“एकेन्द्रिय से सिद्ध परमात्मा पर्यन्त जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सभी मेरे आत्मा के समान ही एक जाति की हैं, फिर वे तीनों ही काल मेरे आत्मा से पृथक् ही हैं और असमानजाति पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - वे सभी मेरे से भिन्नरूप होने से उन छहों द्रव्यों के साथ मेरा कोई भी संबंध नहीं है।

स्व-स्वामी संबंध, कर्ता-कर्म संबंध, आधार-आधेय संबंध - ऐसा एकत्व बतानेवाला किसी भी प्रकार का संबंध परद्रव्य के साथ कभी भी नहीं है, मेरे ज्ञानादि गुणों के साथ ही मेरा संबंध है; इसलिए अन्य

द्रव्यों के साथ माने हुए संबंध को छोड़कर ज्ञान-दर्शनस्वभाव द्वारा मैं मेरे आत्मा को सम्पूर्णरूप से तीनों ही काल निश्चल ध्रुवत्व को धारण करता हुआ स्वद्रव्य को धारण करता हुआ स्वद्रव्य जानता हूँ।^१

इसप्रकार स्वद्रव्य से एकत्व और पर से पृथक्त्व निश्चित करनेवाले को ही धर्म अथवा सुख उत्पन्न होता है।^२

ज्ञान की स्व-परप्रकाशक स्वभावशक्ति के कारण निश्चित करता हूँ कि अपना संबंध स्वद्रव्य के साथ और पर का संबंध उनके गुणों के साथ है।^३

पर से पृथक्त्व और स्वरूप से एकत्वपना जानकर ज्ञान को स्वसन्मुख करें, स्वद्रव्य के साथ एकता करे तो भ्रम और दुखरहित पृथक्त्व की-मुक्ति की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्रदशारूप धर्म होता है।^४

सर्व पदार्थों से भिन्नता, पृथक्त्व, मुक्तपना वर्तमान में भी है, भूतकाल में भी था और भविष्यकाल में भी पृथक्त्व ही रहेगा; इसप्रकार वर्तमान स्वलक्षण द्वारा निर्णय किया जा सकता है।^५

एक कमरे में जलाये गये अनेक दीपक के प्रकाश के समान इस जगतरूपी कमरे में छहों द्रव्य (अनन्त जीव-अजीव पदार्थ) एकक्षेत्र अवगाहनरूप इकट्ठे रहने पर भी मेरा चैतन्य निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ, मुझे नित्य स्व-लक्षण द्वारा पृथक् जानने में आता है। मेरा चैतन्य मुझे सदा ही पर से पृथक् रूप ज्ञात होता है।

इसप्रकार ज्ञान का और आत्मा का, आत्मा के साथ एकत्व और पर से पृथक्त्व का निर्णय करते ही स्वसन्मुखतारूप मुक्ति का उपायरूप धर्म होता है। इसतरह जिनने स्व-पर का विवेक निश्चित किया है - ऐसे आत्मा को विकार करनेवाला मोह का अंकुर उत्पन्न नहीं होता।^६

स्व-पर का विवेक भावभासनरूप होना चाहिए, उसके द्वारा मोह

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३०७

३. वही, पृष्ठ-३०८

५. वही, पृष्ठ-३१०-३११

२. वही, पृष्ठ-३०८

४. वही, पृष्ठ-३०८

६. वही, पृष्ठ-३११

का नाश होता है और वह भेदज्ञान जिनागम द्वारा स्व-पर के यथार्थ लक्षण को यथार्थरूप से पहचानने से किया जा सकता है।^१”

उक्त गाथा और उसकी टीका में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिसप्रकार एक कमरे में अनेक दीपक जलते हों तो ऐसा लगता है कि सबका प्रकाश परस्पर मिल गया है, एकमेक हो गया है; किन्तु जब एक दीपक उठाकर ले जाते हैं तो उसका प्रकाश उसके ही साथ जाता है और उतना प्रकाश कमरे में कम हो जाता है; इससे पता चलता है कि कमरे में विद्यमान सभी दीपकों का प्रकाश अलग-अलग ही रहा है।

उसीप्रकार इस लोक में सभी द्रव्य एकक्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं, महासत्ता की अपेक्षा से एक ही कहे जाते हैं; तथापि स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा वे जुदे-जुदे ही हैं। इस लोक में विद्यमान सभी चेतन-अचेतन पदार्थों से मेरी सत्ता भिन्न ही है - ऐसा निर्णय होते ही पर से एकत्व का मोह विलीन हो जाता है और राग-द्वेष भी टूटने लगते हैं।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि यद्यपि ज्ञान जीव का असाधारण गुण है, विशेष गुण है; तथापि वह सभी जीवों में पाया जाता है। सभी जीवों में पाये जाने के कारण एकप्रकार से वह सामान्य गुण भी है।

इस ज्ञान नामक गुण के माध्यम से जड़ से भिन्न सभी जीवों को तो जाना जा सकता है; परन्तु परजीवों से भी भिन्न अपने आत्मा को नहीं। हमें तो परजीवों से भी भिन्न निज आत्मा को जानना है, हम उसे कैसे जाने?

मेरा ज्ञानगुण मेरे में है और आपका ज्ञानगुण आपमें। मेरा ज्ञानगुण ही मेरे लिए ज्ञान है; क्योंकि मैं तो उसी से जानने का काम कर सकता हूँ, आपके ज्ञानगुण से नहीं। आपका ज्ञानगुण तो मेरे लिए एकप्रकार से ज्ञान नहीं, ज्ञेय है। अन्य ज्ञेयों के समान यह भी एक ज्ञेय है।

अतः अपने ज्ञानगुण से अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानो, पहिचानो और उसी में जम जावो, रम जावो; सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है।●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३११

प्रवचनसार गाथा-९१

विगत गाथा में यह कहा गया था कि स्व-पर का विवेक धारण करनेवालों को मोहांकुर उत्पन्न नहीं होता; इसलिए हमें भेदविज्ञानपूर्वक स्व-पर को जानने में पूरी शक्ति लगा देना चाहिए।

अब इस गाथा में यह कहा जा रहा है कि जिस श्रमण को ऐसा भेदविज्ञान नहीं है, वह श्रमण श्रमण ही नहीं है, श्रमणाभास है।

सत्तासंबद्धे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।

सद्दहदि ण सो समणो सत्तो धम्मो ण संभवदि ॥९१॥

(हरिगीत)

द्रव्य जो सविशेष सत्तामयी उसकी दृष्टि ना।

तो श्रमण हो पर उस श्रमण से धर्म का उद्भव नहीं ॥९१॥

जो जीव श्रमण अवस्था में इन सत्तासहित सविशेष पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता; वह श्रमण श्रमण नहीं है, उससे धर्म का उद्भव नहीं होता।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सादृश्यास्तित्व से समानता को धारण करते हुए भी स्वरूपास्तित्व से विशेषता से युक्त द्रव्यों को स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक न जानता हुआ, न श्रद्धा करता हुआ जो जीव मात्र श्रमणता (द्रव्यमुनित्व) से आत्मा का दमन करता है; वह वास्तव में श्रमण नहीं है।

जिसे रेत और स्वर्णकणों का अन्तर ज्ञात नहीं है, उस धूल को धोनेवाले पुरुष को जिसप्रकार स्वर्णलाभ नहीं होता; उसीप्रकार उक्त श्रमणाभासों में से निरुपराग आत्मतत्त्व की उपलब्धि लक्षणवाले धर्म का उद्भव नहीं होता, धर्मलाभ प्राप्त नहीं होता।”

आचार्य जयसेन ने इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए भी नया कुछ भी नहीं कहा है।

कविवर वृन्दावनदासजी भी इस गाथा के भाव को तीन छन्दों में प्रस्तुत करते हुए सोदाहरण वही बात कह देते हैं; जो तत्त्वप्रदीपिका में कही गई है।

नमूने के तौर पर उनमें से एक छन्द इसप्रकार है -

(नरेन्द्र)

यों सामान्य-विशेष-भावजुत दरवनि को नहिं जानै।

स्वपरभेदविज्ञान विना तब निजनिधि क्यों पहिचाने ॥

तो सम्यक्त भाव बिनु केवल दरवलिंग को धारी।

तप-संजमकरि खेदित हो है बरै नाहिं शिवनारी ॥५४॥

जो व्यक्ति सामान्य-विशेषात्मक द्रव्यों को नहीं जानता है; वह व्यक्ति स्व-पर भेदविज्ञान के बिना अपनी निधि अर्थात् निज भगवान आत्मा को कैसे जान सकता है? इसप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से रहित वह श्रमण केवल द्रव्यलिंग धारी ही है। वह जिनागमकथित संयम को धारण कर व अनेकप्रकार के उग्र तपों को तपकर खेदखिन्न ही होनेवाला है; क्योंकि उसे शिवनारी की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेवकथित पदार्थों की श्रद्धा बिना स्व-सन्मुखतारूप धर्म का लाभ नहीं होता। सर्वज्ञकथित आप्त, आगम और पदार्थ का स्वरूप जाने बिना तथा मिथ्यामतपक्ष के तत्त्व की श्रद्धा छोड़े बिना शुद्धात्म अनुभवरूप धर्म की प्राप्ति होती ही नहीं - ऐसा न्यायपूर्वक गाथा ९१ द्वारा विचार करते हैं।”

जो जीव नग्न दिगम्बर होकर २८ मूलगुण सहित द्रव्यमुनिपना पालन

करता हो, फिर भी स्व-पर की पृथकता सहित पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता अर्थात् प्रत्येक तत्त्व की पृथक्-पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं करता, वह जीव स्वाश्रय दृष्टि रहित होने से उसे निश्चय सम्यक्त्वपूर्वक परमसामयिक संयमरूप मुनित्व का अभाव है अर्थात् वह मुनि नहीं है।

जिसप्रकार, जिसे धूल और स्वर्णकण का विवेक (ज्ञान) नहीं है - ऐसे धूल धोया को चाहे कितनी भी मेहनत करने पर स्वर्ण की प्राप्ति नहीं होती; उसीप्रकार जिसे स्व-पर का विवेक नहीं है - ऐसे जीव भले ही द्रव्यलिंगी मुनि होकर चाहे जितने भी कष्ट सहन करे; बाईस परीषह, पंचमहाव्रत आदि क्रिया संबंधी कष्ट उठावे, फिर भी उनको पराश्रयदृष्टि होने से इसमें से अंशमात्र भी वीतरागभावरूप धर्म होता ही नहीं।^१”

सराफा बाजार में और उसकी नालियों में बहुत स्वर्णकण गिर जाते हैं; जिन्हें कुछ लोग धूल को छान-छान कर निकालते हैं, धो-धोकर निकालते हैं। जो लोग यह काम करते हैं, उन्हें धूल-धोया कहते हैं।

जिस धूल-धोया को स्वर्णकण और कंकणों में अन्तर समझ में नहीं आता, उसे स्वर्णकणों की प्राप्ति कैसे हो सकती है? वह कितनी ही मेहनत क्यों न करे, उसे स्वर्णकणों की प्राप्ति नहीं होगी।

इसीप्रकार जिस श्रमण को स्व-पर का विवेक नहीं है, वह श्रमण तप करने के नाम पर कितना ही कष्ट क्यों न उठावे; परन्तु उसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। न तो उसे स्वयं अनंतसुख की प्राप्ति होगी और न उससे अन्य जीवों का ही कल्याण हो सकता है। ●

१. दिव्यध्वनिसार भाग-२, पृष्ठ-३१७

सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं, परमात्मा कोई अलग नहीं होते। स्वभाव से तो सभी आत्माएँ स्वयं परमात्मा ही हैं, पर अपने परमात्मस्वभाव को भूल जाने के कारण दीन-हीन बन रहे हैं। जो अपने को जानते हैं, पहिचानते हैं और अपने में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं; वे पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं। - आप कुछ भी कहो, पृष्ठ-१३

प्रवचनसार गाथा-९२

९१वीं गाथा में यह कहा गया है कि जो स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक स्व-पर पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता, वह श्रमण श्रमण नहीं है, उससे धर्म का उद्भव नहीं होता।

अब इस गाथा में यह बता रहे हैं कि मोहदृष्टि से रहित, आगमकुशल, वीतरागचारित्र में आरूढ़ श्रमण साक्षात् धर्म हैं और उनसे धर्म का उद्भव होता है।

इस गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के आरंभ से ही बात को उठाते हैं।

उनका कथन मूलतः इसप्रकार है -

“उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणं संपत्ती

- इसप्रकार पाँचवी गाथा में प्रतिज्ञा करके,

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिदिट्ठो

- इसप्रकार ७वीं गाथा में साम्य ही धर्म है - ऐसा निश्चित करके,

परिणमदि जेण दव्वं तत्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं ।

तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥

- इसप्रकार ८वीं गाथा में जो आत्मा का धर्मत्व कहना आरंभ किया और जिसकी सिद्धि के लिए -

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्दसंपओग जुदो ।

पावदि णिव्वाणसुहं..... ॥

- इसप्रकार ११वीं गाथा में निर्वाणसुख के साधनभूत शुद्धोपयोग का अधिकार आरंभ किया, विरोधी शुभाशुभ उपयोग को हेय बताया, शुद्धोपयोग का वर्णन किया, शुद्धोपयोग के प्रसाद से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के सहज ज्ञान और आनन्द को समझाते हुए ज्ञान और सुख के

स्वरूप का विस्तार किया; अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग के प्रसाद से उस आत्मा के धर्मत्व को सिद्ध करके परमनिस्पृह, आत्मतृप्त ऐसी पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुए, कृतकृत्यता को प्राप्त करके अत्यन्त अनाकुल होकर, भेदवासना की प्रगटता का प्रलय करते हुए ‘मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ’ – इसप्रकार रहते हैं।”

उक्त उत्थानिका में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की सम्पूर्ण विषयवस्तु को संक्षेप में प्रस्तुत करके अन्त में यह कहा गया है कि धर्मपरिणत संत ही धर्म हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है –

जो णिहदमोहदृष्टि आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।

अब्भुट्टिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥१२॥

(हरिगीत)

आगमकुशल दृगमोहहत आरूढ हों चारित्र में।

बस उन महात्मन श्रमण को ही धर्म कहते शास्त्र में ॥१२॥

जो आगम में कुशल हैं, जिनकी मोहदृष्टि नष्ट हो गई है और जो वीतरागचारित्र में आरूढ हैं; उन महात्मा श्रमण को ही धर्म कहा है।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“हमारा मनोरथ यह है कि यह आत्मा स्वयं ही धर्म हो। उसमें विघ्न डालनेवाली एकमात्र बहिर्मोहदृष्टि ही है और वह बहिर्मोहदृष्टि आगमकौशल्य तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो जाने के कारण अब मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी।

इसलिए वीतरागचारित्ररूप पर्याय में परिणत मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर, समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से सदा निष्कंप ही रहता है।

अधिक विस्तार से बस होओ। जयवंत वर्तो, स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म; जयवंत वर्तो शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वोपलब्धि; जिसके प्रसाद

से अनादि संसार से बंधी हुई मोहग्रंथि तत्काल छूट गई है और जयवंत वर्तो परमवीतरागचारित्ररूप शुद्धोपयोग; जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है।”

आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति की उत्थानिका में ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की विषयवस्तु की संक्षेप में आद्योपान्त चर्चा करते हैं तथा गाथा का भाव भी लगभग उन्हीं के समान स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी इस गाथा के भाव को अत्यन्त सरल भाषा में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(मनहरण)

जाने मोहदृष्टि को विशिष्टपने घातकरि,

पायो निजरूप भयो सांचो समकिती है।

सरवज्ञभाषित सिद्धान्त में प्रवीन अति,

जथारथ ज्ञान जाके हिये में जगती है ॥

वीतरागचारित में सदा सावधान रहै,

सोई महामुनि शिवसाधक सुमती है।

ताही भावलिंगी मुनिराज को धरम नाम,

विशेषपनेतैं कह्यो सोई शुद्ध जती है ॥६२॥

जिन्होंने मोहदृष्टि को विशेषरूप से घात कर आत्मा में अपनत्वरूप सच्चा (निश्चय) सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, सर्वज्ञभाषित सिद्धान्तों में प्रवीणता प्राप्त की है; जिनके हृदय में यथार्थज्ञान प्रगट हो गया है, जो वीतरागचारित्र में सदा सावधान रहते हैं; शिव की साधना करनेवाले सुमतिज्ञान के धारी वे भावलिंगी महामुनि ही साक्षात् धर्म हैं। यदि विशेषरूप से कहें तो वे ही शुद्धयती हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

“कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि अप्रतिहत भाव से यह आत्मा ही स्वयं धर्मरूप से परिणमित हुआ है, इसलिए मुझे फिर से मोहदृष्टि उत्पन्न होनेवाली ही नहीं है; इसलिए वीतरागचारित्ररूप से प्रगट पर्याय में परिणमित हुआ मेरा आत्मा स्वयं धर्म होकर समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से सदा ही निष्कम्प ही रहता है। शास्त्रादि के विकल्प उठते हैं, वे गौण हैं।

बारम्बार ज्ञानानन्द में डुबकी मारकर वे अतीन्द्रिय आनन्द में लीन हो जाते हैं और निश्चल स्वभाव में निर्विकारपने निश्चलता का ही अनुभव करते हैं।

अन्तर्मुखदृष्टि द्वारा ही बहिर्मुखदृष्टि नष्ट की जाती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसे यथार्थतया समझना यह उपादान है और वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत आगम (शास्त्र) वह निमित्त है, उसकी यहाँ बात कही गई है। धर्मी जीव को ही आगमकौशल्य निपुण कहा है। उन्होंने आगमकथित स्व-पर का व आत्मा का अपने अन्तर्मुखज्ञान द्वारा यथार्थ निर्णय किया है।

आगम में ऐसा कहा है कि बहिर्मुखदृष्टि को नष्ट करने का उपाय पराश्रय रहित अन्तर्मुखदृष्टि है - ऐसा जानकर वह उपाय करने पर मोह की गांठ नष्ट हो जाती है; इसके अलावा कोई दूसरी विधि वस्तुदर्शन में नहीं है। निर्मोही-निष्कम्प स्वभाव के आश्रय से निष्कम्पदशा होती है।

तीर्थंकर परमात्मा की वाणी में ऐसा आया है कि पुण्य-पाप और देहादि निमित्त के लक्ष्य से सम्यक्त्व नहीं होता और मिथ्यात्व नहीं जाता; इसलिए विपरीत दृष्टि छोड़ और स्व-सन्मुखता द्वारा स्वभाव में एकता की दृष्टि, स्वभाव में एकता करनेवाला ज्ञान और आचरण - यही मोक्ष का मार्ग है।^१”

देखो, इस गाथा में आगमकुशल सम्यग्दृष्टि वीतरागचारित्रवंत भावलिंगी संतों को ही धर्म कहा है। तात्पर्य यह है कि धर्म तो भावात्मक

वस्तु है, श्रद्धादि गुणों का सम्यक् परिणमन ही है। ऐसा धर्म धर्मात्मा में ही पाया जाता है, धर्मात्माओं को छोड़कर धर्म कहाँ रहेगा ? कहा भी है -

“न धर्मो धार्मिके बिना^१ धर्म धर्मात्माओं के बिना नहीं होता।”
धर्मपरिणत आत्मा ही धर्म है, धर्मात्मा है।

यदि मूर्तिमन्त धर्म के दर्शन करना हैं तो मुनिराजों के दर्शन कर लीजिए। वे चलते-फिरते धर्म हैं।

मैंने देव-शास्त्र-गुरु पूजन में वीतरागी सन्तों को चलते-फिरते सिद्धों के रूप में देखा है और लिखा है कि -

चलते-फिरते सिद्धों से गुरु चरणों में शीश झुकाते हैं।

हम चले आपके कदमों पर बस यही भावना भाते हैं।।

जरा सोचो तो सही कि जिन मुनिराजों को यहाँ साक्षात् धर्म कहा है; वे मुनिराज कैसे होंगे ? जगतप्रपंच में उलझे, दंद-फंद में पड़े, विकथाओं में रत, परमवीतरागता से विरत वेषधारी लोग भी मात्र वेष के होने से साक्षात् धर्म तो हो नहीं सकते। अतः शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति से परिणत मुनिराज ही धर्म हैं।

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार की सम्पूर्ण विषयवस्तु समेटते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि अधिक विस्तार से क्या लाभ है ? समझदारों के लिए तो जितना कह दिया, उतना ही पर्याप्त है। वे तो इतने में ही सबकुछ समझ जावेंगे। जो इतने से नहीं समझेंगे, उन्हें तो कितना ही कहो, कुछ होनेवाला नहीं है।

सर्वान्त में जिनवाणी और उससे प्राप्त होनेवाली आत्मोपलब्धि तथा शुद्धोपयोग की जयकार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि इनके प्रसाद से ही आत्मोपलब्धि होती है और आत्मा धर्मात्मा हो जाता है, धर्म हो

जाता है। इसलिए हम सबका यही एकमात्र कर्तव्य है कि हम सब आगम का अभ्यास करें; जिससे हम सबको भी आत्मोपलब्धि और शुद्धोपयोग प्राप्त हो और हम भी धर्ममय हो जावें, धर्मात्मा हो जावें।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसके बाद दो मन्दाक्रान्ता छन्द प्राप्त होते हैं। प्रथम छन्द में शुद्धोपयोग का फल निरूपित है और दूसरा छन्द ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के बीच की संधि को बताता है।

वे दोनों छन्द मूलतः इसप्रकार हैं -

(मन्दाक्रान्ता)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निष्प्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्ज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥५॥

(मनहरण)

विलीन मोह-राग-द्वेष मेघ चहुं ओर के,
चेतना के गुणगण कहाँ तक बखानिये।
अविचल जोत निष्कंप रत्नदीप सम,
विलसत सहजानन्द मय जानिये ॥
नित्य आनंद के प्रशमरस में मगन,
शुद्ध उपयोग का महत्त्व पहिचानिये।
नित्य ज्ञानतत्त्व में विलीन यह आतमा,
स्वयं धर्मरूप परिणत पहिचानिये ॥

इसप्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके यह आत्मा स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्यानंद के प्रसार से सरस आत्मतत्त्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलता के कारण दैदीप्यमान ज्योतिर्मय और सहजरूप से विलसित स्वभाव से प्रकाशित रत्नदीपक की भाँति निष्कंप प्रकाशमय

शोभा को प्राप्त करता है।

घी या तेल से जलनेवाले दीपक की लों वायु के संचरण से कांपती रहती है और यदि वायु थोड़ी-बहुत भी तेज चले तो बुझ जाती है; परन्तु रत्नदीपक में न तो घी या तेल की जरूरत है और न वह वायु के प्रचंड वेग से काँपता ही है। जब वह कांपता भी नहीं तो फिर बुझने का प्रश्न नहीं उठता।

यही कारण है कि यहाँ ज्ञानानन्दज्योति की उपमा रत्नदीपक से दी गई है। क्षायोपशमिक ज्ञान और आनन्द तेल के दीपक के समान अस्थिर रहते हैं, अनित्य होते हैं और क्षणभंगुर होते हैं; किन्तु क्षायिकज्ञान और क्षायिक आनन्द रत्नदीपक के समान अकंप चिरस्थाई होते हैं।

शुद्धोपयोग के प्रसार से होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख अकंप चिरस्थाई होने से परम उपादेय हैं।

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत्
तत्सिद्धयर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या
प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहांकुरस्य ॥६॥

(मनहरण)

आतमा में विद्यमान ज्ञानतत्त्व पहिचान,
पूर्णज्ञान प्राप्त करने के शुद्धभाव से।
ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन के उपरान्त अब,
ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन करते हैं चाव से ॥
सामान्य और असामान्य ज्ञेयतत्त्व सब,
जानने के लिए द्रव्य गुण पर्याय से।
मोह अंकुर उत्पन्न न हो इसलिए,
ज्ञेय का स्वरूप बतलाते विस्तार से ॥

आत्मा के आश्रित रहनेवाले ज्ञानतत्त्व का इसप्रकार यथार्थतया निश्चय करके, उसकी सिद्धि के लिए, केवलज्ञान प्रगट करने के लिए

प्रशम के लक्ष्य से ज्ञेयतत्त्व को जानने के इच्छुक मुमुक्षु सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानते हैं; जिससे मोहांकुर की कभी किंचित्मात्र भी उत्पत्ति न हो।

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार के अन्त में और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार के आरंभ में लिखे गये इन छन्दों में मात्र यही बताया गया है कि जबतक ज्ञेयतत्त्वों अर्थात् सभी पदार्थों का स्वरूप पूरी तरह स्पष्ट नहीं होगा; तबतक ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन की समझ से उपशमित मोहांकुर कभी भी अंकुरित हो सकते हैं।

उन मोहांकुरों के पूर्णतः अभाव के लिए ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में ज्ञेयों का सामान्य और विशेष स्वरूप बताकर ज्ञान और ज्ञेय में विद्यमान स्वभावगत-भिन्नता का स्वरूप भी स्पष्ट करेंगे; जिससे पर में एकत्वरूप दर्शनमोह के पुनः अंकुरित होने की संभावना संपूर्णतः समाप्त हो जावे और यह आत्मा अनन्तकाल तक अनन्त आनन्द का उपभोग करता रहे।

इसके बाद आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति टीका में दो गाथायें प्राप्त होती हैं; जिनमें विगत गाथा में प्रतिपादित साक्षात् धर्मपरिणत मुनिराजों की स्तुति-वंदन-नमन द्वारा प्राप्त पुण्य का फल दिखाया गया है।

ध्यान रहे ये गाथाएँ तत्त्वप्रदीपिका टीका में उपलब्ध नहीं होतीं।

ये दोनों गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं -

जो तं दिट्टा तुट्टो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ॥८॥
तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति ॥९॥

(हरिगीत)

देखकर संतुष्ट हो उठ नमन वन्दन जो करे।

वह भव्य उनसे सदा ही सद्धर्म की प्राप्ति करे ॥८॥

उस धर्म से तिर्यच-नर नर-सुरगति को प्राप्त कर।

ऐश्वर्य-वैभववान अर पूरण मनोरथवान हों ॥९॥

विगत गाथा में उल्लिखित मुनिराजों को देखकर जो संतुष्ट होता हुआ वंदन-नमन द्वारा उनका सत्कार करता है; वह उनसे धर्म ग्रहण करता है।

उक्त पुण्य द्वारा मनुष्य व तिर्यच, देवगति या मनुष्यगति को प्राप्त कर वैभव और ऐश्वर्य से सदा परिपूर्ण मनोरथवाले होते हैं।

जिसकी जिसमें श्रद्धा व भक्ति होती है; वह उनके वचनों को भी श्रद्धा से स्वीकार करता है; न केवल स्वीकार करता है; अपितु तदनुसार अपने जीवन को ढालता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि वह उनसे सद्धर्म की एवं पुण्य की प्राप्ति करता है। पहली गाथा में इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है।

उनसे प्राप्त सद्धर्म अथवा पुण्य के फल में वैभव और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है - यह बताया गया दूसरी गाथा में।

टीका में वैभव और ऐश्वर्य को परिभाषित कर दिया गया है। कहा है कि राजाधिराज, रूप-लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदि परिपूर्ण सम्पत्ति वैभव कहलाती है और आज्ञा के फल को ऐश्वर्य कहते हैं।

अन्त में लिखा है कि उक्त पुण्य यदि भोगादि के निदान से रहित हो और सम्यक्त्व पूर्वक हो तो उसे मोक्ष का परम्पराकारण भी कहा जाता है।

ऐसा नहीं लगता कि ये गाथायें आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित होगी; क्योंकि इनमें प्रतिपादित विषयवस्तु और संरचना - दोनों ही आचार्य कुन्दकुन्द की स्तुति-वंदन-नमन द्वारा प्राप्त पुण्य का फल दिखाया गया है। न ही न ही नहीं, स्वभाव के सामर्थ्य का श्रद्धान है, ज्ञान है। स्व-स्वभाव के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान का नाम ही धर्म है; धर्म की साधना है, आराधना है, उपासना है, धर्म की भावना है, धर्मभावना है।

- बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ-१७३

प्रवचनसार पद्यानुवाद

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

मंगलाचरण एवं पीठिका

सुर असुर इन्द्र नरेन्द्र वंदित कर्ममल निर्मलकरन ।
 वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन ॥१॥
 अवशेष तीर्थकर तथा सब सिद्धगण को कर नमन ।
 मैं भक्तिपूर्वक नमूँ पंचाचारयुत सब श्रमणजन ॥२॥
 उन सभी को युगपत तथा प्रत्येक को प्रत्येक को ।
 मैं नमूँ विदमान मानस क्षेत्र के अरहंत को ॥३॥
 अरहंत सिद्धसमूह गणधरदेवयुत सब सूरिगण ।
 अर सभी पाठक साधुगण इन सभी को करके नमन ॥४॥
 परिशुद्ध दर्शनज्ञानयुत समभाव आश्रम प्राप्त कर ।
 निर्वाणपद दातार समताभाव को धारण करूँ ॥५॥
 निर्वाण पावें सुर-असुर-नरराज के वैभव सहित ।
 यदि ज्ञान-दर्शनपूर्वक चारित्र सभ्यक् प्राप्त हो ॥६॥
 चारित्र ही बस धर्म है वह धर्म समताभाव है ।
 दृगमोह-क्षोभविहीन निज परिणाम समताभाव है ॥७॥
 जिसकाल में जो दरव जिस परिणाम से हो परिणमित ।
 हो उसीमय वह धर्मपरिणत आतमा ही धर्म है ॥८॥
 स्वभाव से परिणाममय जिय अशुभ परिणत हो अशुभ ।
 शुभभाव परिणत शुभ तथा शुधभाव परिणत शुद्ध है ॥९॥
 परिणाम बिन ना अर्थ है अर अर्थ बिन परिणाम ना ।
 अस्तित्वमय यह अर्थ है बस द्रव्यगुणपर्यायमय ॥१०॥
 प्राप्त करते मोक्षसुख शुद्धोपयोगी आतमा ।
 पर प्राप्त करते स्वर्गसुख हि शुभोपयोगी आतमा ॥११॥
 अशुभोपयोगी आतमा हो नारकी तिर्यग कुनर ।
 संसार में रुलता रहे अर सहस्रों दुख भोगता ॥१२॥

शुद्धोपयोगाधिकार

शुद्धोपयोगी जीव के है अनूपम आत्मोत्थसुख ।
 है नंत अतिशयवंत विषयातीत अर अविच्छिन्न है ॥१३॥
 हो वीतरागी संयमी तपयुक्त अर सूत्रार्थ विद् ।
 शुद्धोपयोगी श्रमण के समभाव भवसुख-दुःख में ॥१४॥
 शुद्धोपयोगी जीव जग में घात घातीकर्मरज ।
 स्वयं ही सर्वज्ञ हो सब ज्ञेय को हैं जानते ॥१५॥
 त्रैलोक्य अधिपति पूज्य लब्धस्वभाव अर सर्वज्ञ जिन ।
 स्वयं ही हो गये तातैं स्वयम्भू सब जन कहें ॥१६॥
 यद्यपि उत्पाद बिन व्यय व्यय बिना उत्पाद है ।
 तथापी उत्पादव्ययथिति का सहज समवाय है ॥१७॥
 सभी द्रव्यों में सदा ही होंय रे उत्पाद-व्यय ।
 ध्रुव भी रहे प्रत्येक वस्तु रे किसी पर्याय से ॥१८॥
 असुरेन्द्र और सुरेन्द्र को जो इष्ट सर्व वरिष्ठ हैं ।
 उन सिद्ध के श्रद्धालुओं के सर्व कष्ट विनष्ट हों ॥१९॥
 अतीन्द्रिय हो गये जिनके ज्ञान सुख वे स्वयंभू ।
 जिन क्षीणघातिकर्म तेज महान उत्तम वीर्य हैं ॥२०॥
 अतीन्द्रिय हो गये हैं जिन स्वयंभू बस इसलिए ।
 केवली के देहगत सुख-दुःख नहीं परमार्थ से ॥२०॥

ज्ञानाधिकार

केवली भगवान के सब द्रव्य गुण-पर्याययुत ।
 प्रत्यक्ष हैं अवग्रहादिपूर्वक वे उन्हें नहीं जानते ॥२१॥
 सर्वात्मगुण से सहित हैं अर जो अतीन्द्रिय हो गये ।
 परोक्ष कुछ भी है नहीं उन केवली भगवान के ॥२२॥
 यह आत्म ज्ञानप्रमाण है अर ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है ।
 हैं ज्ञेय लोकालोक इस विधि सर्वगत यह ज्ञान है ॥२३॥
 अरे जिनकी मान्यता में आत्म ज्ञानप्रमाण ना ।
 तो ज्ञान से वह हीन अथवा अधिक होना चाहिए ॥२४॥

ज्ञान से हो हीन अचेतन ज्ञान जाने किसतरह ।
 ज्ञान से हो अधिक जिय किसतरह जाने ज्ञान बिन ॥२५॥
 हैं सर्वगत जिन और सर्व पदार्थ जिनवरगत कहे ।
 जिन ज्ञानमय बस इसलिए सब ज्ञेय जिनके विषय हैं ॥२६॥
 रे आतमा के बिना जग में ज्ञान हो सकता नहीं ।
 है ज्ञान आतम किन्तु आतम ज्ञान भी है अन्य भी ॥२७॥
 रूप को ज्यों चक्षु जाने परस्पर अप्रविष्ट रह ।
 त्यों आत्म ज्ञानस्वभाव अन्य पदार्थ उसके ज्ञेय हैं ॥२८॥
 प्रविष्ट रह अप्रविष्ट रह ज्यों चक्षु जाने रूप को ।
 त्यों अतीन्द्रिय आत्मा भी जानता सम्पूर्ण जग ॥२९॥
 ज्यों दूध में है व्याप्त नीलम रत्न अपनी प्रभा से ।
 त्यों ज्ञान भी है व्याप्त रे निःशेष ज्ञेय पदार्थ में ॥३०॥
 वे अर्थ ना हों ज्ञान में तो ज्ञान न हो सर्वगत ।
 ज्ञान है यदि सर्वगत तो क्यों न हों वे ज्ञानगत ॥३१॥
 केवली भगवान पर ना ग्रहे छोड़े परिणमें ।
 चहुं ओर से सम्पूर्णतः निरवशेष वे सब जानते ॥३२॥
 श्रुतज्ञान से जो जानते ज्ञायकस्वभावी आतमा ।
 श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥३३॥
 जिनवरकथित पुद्गल वचन ही सूत्र उसकी ज्ञप्ति ही ।
 है ज्ञान उसको केवली जिनसूत्र की ज्ञप्ति कहें ॥३४॥
 जो जानता सो ज्ञान आतम ज्ञान से ज्ञायक नहीं ।
 स्वयं परिणत ज्ञान में सब अर्थ थिति धारण करें ॥३५॥
 जीव ही है ज्ञान ज्ञेय त्रिधावर्णित द्रव्य हैं ।
 वे द्रव्य आतम और पर परिणाम से संबद्ध हैं ॥३६॥
 असद्भूत हों सद्भूत हों सब द्रव्य की पर्याय सब ।
 सद्ज्ञान में वर्तमानवत् ही हैं सदा वर्तमान सब ॥३७॥
 पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या नष्ट जो हो गई हैं ।
 असद्भावी वे सभी पर्याय ज्ञानप्रत्यक्ष हैं ॥३८॥

पर्याय जो अनुत्पन्न हैं या हो गई हैं नष्ट जो ।
 फिर ज्ञान की क्या दिव्यता यदि ज्ञात होवें नहीं वो ॥३९॥
 जो इन्द्रियगोचर अर्थ को ईहादिपूर्वक जानते ।
 वे परोक्ष पदार्थ को जाने नहीं जिनवर कहें ॥४०॥
 सप्रदेशी अप्रदेशी मूर्त और अमूर्त को ।
 अनुत्पन्न विनष्ट को जाने अतीन्द्रिय ज्ञान ही ॥४१॥
 ज्ञेयार्थमय जो परिणमे ना उसे क्षायिक ज्ञान हो ।
 कहें जिनवरदेव कि वह कर्म का ही अनुभवी ॥४२॥
 जिनवर कहें उसके नियम से उदयगत कर्मांश हैं ।
 वह राग-द्वेष-विमोह बस नित वंध का अनुभव करे ॥४३॥
 यत्न बिन ज्यों नारियों में सहज मायाचार त्यों ।
 हो विहार उठना-बैठना अर दिव्यध्वनि अरिहंत के ॥४४॥
 पुण्यफल अरिहंत जिन की क्रिया औदयिकी कही ।
 मोहादि विरहित इसलिए वह क्षायिकी मानी गई ॥४५॥
 यदी स्वयं स्वभाव से शुभ-अशुभरूप न परिणमें ।
 तो सर्व जीवनिकाय के संसार भी ना सिद्ध हो ॥४६॥
 जो तात्कालिक अतात्कालिक विचित्र विषमपदार्थ को ।
 चहुं ओर से इक साथ जाने वही क्षायिक ज्ञान है ॥४७॥
 जाने नहीं युगपद् त्रिकालिक अर्थ जो त्रैलोक्य के ।
 वह जान सकता है नहीं पर्यय सहित इक द्रव्य को ॥४८॥
 इक द्रव्य को पर्यय सहित यदि नहीं जाने जीव तो ।
 फिर जान कैसे सकेगा इक साथ द्रव्यसमूह को ॥४९॥
 पदार्थ का अवलम्ब ले जो ज्ञान क्रमशः जानता ।
 वह सर्वगत अर नित्य क्षायिक कभी हो सकता नहीं ॥५०॥
 सर्वज्ञ जिन के ज्ञान का माहात्म्य तीनों काल के ।
 जाने सदा सब अर्थ युगपद् विषम विविध प्रकार के ॥५१॥
 सर्वार्थ जाने जीव पर उनरूप न परिणमित हो ।
 बस इसलिए है अबंधक ना ग्रहे ना उत्पन्न हो ॥५२॥

नमन करते जिन्हें नरपति सुर-असुरपति भक्तगण ।
मैं भी उन्हीं सर्वज्ञजिन के चरण में करता नमन ॥२॥*

सुखाधिकार

मूर्त और अमूर्त इन्द्रिय अर अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख ।
इनमें अमूर्त अतीन्द्रिय ही ज्ञान-सुख उपादेय हैं ॥५३॥
अमूर्त को अर मूर्त में भी अतीन्द्रिय प्रच्छन्न को ।
स्व-पर को सर्वार्थ को जाने वही प्रत्यक्ष है ॥५४॥
यह मूर्ततनगत जीव मूर्तपदार्थ जाने मूर्त से ।
अवग्रहादिकपूर्वक अर कभी जाने भी नहीं ॥५५॥
पौद्गलिक स्पर्श रस गंध वर्ण अर शब्दादि को ।
भी इन्द्रियाँ इक साथ देखो ग्रहण कर सकती नहीं ॥५६॥
इन्द्रियाँ परद्रव्य उनको आत्मस्वभाव नहीं कहा ।
अर जो उन्हीं से ज्ञात वह प्रत्यक्ष कैसे हो सके ? ॥५७॥
जो दूसरों से ज्ञात हो बस वह परोक्ष कहा गया ।
केवल स्वयं से ज्ञात जो वह ज्ञान ही प्रत्यक्ष है ॥५८॥
स्वयं से सर्वांग से सर्वार्थग्राही मलरहित ।
अवग्रहादि विरहित ज्ञान ही सुख कहा जिनवरदेव ने ॥५९॥
अरे केवलज्ञान सुख परिणाममय जिनवर कहा ।
क्षय हो गये हैं घातिया रे खेद भी उसके नहीं ॥६०॥
अर्थान्तगत है ज्ञान लोकालोक विस्तृत दृष्टि है ।
नष्ट सर्व अनिष्ट एवं इष्ट सब उपलब्ध हैं ॥६१॥
घातियों से रहित सुख ही परमसुख यह श्रवण कर ।
भी न करें श्रद्धान तो वे अभवि भवि श्रद्धा करें ॥६२॥
नरपती सुरपति असुरपति इन्द्रियविषयदवदाह से ।
पीड़ित रहें सह सके ना रमणीक विषयों में रमें ॥६३॥
पंचेन्द्रियविषयों में रती वे हैं स्वभाविक दुःखीजन ।
दुःख के बिना विषयविषय में व्यापार हो सकता नहीं ॥६४॥
इन्द्रिय विषय को प्राप्त कर यह जीव स्वयं स्वभाव से ।
सुखरूप हो पर देह तो सुखरूप होती ही नहीं ॥६५॥

स्वर्ग में भी नियम से यह देह देही जीव को ।
सुख नहीं दे यह जीव ही बस स्वयं सुख-दुखरूप हो ॥६६॥
तिमिरहर हो दृष्टि जिसकी उसे दीपक क्या करें ।
जब जिय स्वयं सुखरूप हो इन्द्रिय विषय तब क्या करें ॥६७॥
जिसतरह आकाश में रवि उष्ण तेजरु देव है ।
बस उसतरह ही सिद्धगण सब ज्ञान सुखरु देव हैं ॥६८॥
प्राधान्य है त्रैलोक्य में ऐश्वर्य ऋद्धि सहित हैं ।
तेज दर्शन ज्ञान सुख युत पूज्य श्री अरिहंत हैं ॥६९॥
हो नमन बारम्बार सुरनरनाथ पद से रहित जो ।
अपुनर्भावी सिद्धगण गुण से अधिक भव रहित जो ॥७०॥*

शुभपरिणामाधिकार

देव-गुरु-यति अर्चना अर दान उपवासादि में ।
अर शील में जो लीन शुभ उपयोगमय वह आत्मा ॥६९॥
अरे शुभ उपयोग से जो युक्त वह तिर्यग्गति ।
अर देव मानुष गति में रह प्राप्त करता विषयसुख ॥७०॥
उपदेश से है सिद्ध देवों के नहीं है स्वभावसुख ।
तनवेदना से दुखी वे रमणीक विषयों में रमे ॥७१॥
नर-नारकी तिर्यच सुर यदि देहसंभव दुःख को ।
अनुभव करें तो फिर कहो उपयोग कैसे शुभ-अशुभ ? ॥७२॥
वज्रधर अर चक्रधर सब पुण्यफल को भोगते ।
देहादि की वृद्धि करें पर सुखी हों ऐसे लगे ॥७३॥
शुभभाव से उत्पन्न विध-विध पुण्य यदि विद्यमान हैं ।
तो वे सभी सुरलोक में विषयेषणा पैदा करें ॥७४॥
अरे जिनकी उदित तृष्णा दुःख से संतप्त वे ।
हैं दुखी फिर भी आमरण वे विषयसुख ही चाहते ॥७५॥
इन्द्रियसुख सुख नहीं दुख है विषम बाधा सहित है ।
है बंध का कारण दुखद परतंत्र है विच्छिन्न है ॥७६॥
पुण्य-पाप में अन्तर नहीं है - जो न माने बात ये ।
संसार-सागर में भ्रमों मद-मोह से आच्छन्न वे ॥७७॥

विदितार्थजन परद्रव्य में जो राग-द्वेष नहीं करें ।
 शुद्धोपयोगी जीव वे तनजनित दुःख को क्षय करें ॥७८॥
 सब छोड़ पापारंभ शुभचारित्र में उद्यत रहें ।
 पर नहीं छोड़े मोह तो शुद्धात्मा को ना लहें ॥७९॥
 हो स्वर्ग अर अपवर्ग पथदर्शक जिनेश्वर आपही ।
 लोकाग्रथित तपसंयमी सुर-असुर वंदित आपही ॥५॥^०
 देवेन्द्रों के देव यतिवरवृषभ तुम त्रैलोक्यगुरु ।
 जो नमें तुमको वे मनुज सुख संपदा अक्षय लहें ॥६॥^०
 द्रव्य गुण पर्याय से जो जानते अरहंत को ।
 वे जानते निज आत्मा दृगमोह उनका नाश हो ॥८०॥
 जो जीव व्यपगत मोह हो - निज आत्म
 उ प ल ि ष ध क र ॥
 वे छोड़ दें यदि राग रुष शुद्धात्म उपलब्धि करें ॥८१॥
 सर्व ही अरहंत ने विधि नष्ट कीने जिस विधी ।
 सबको बताई वही विधि हो नमन उनको सब विधी ॥८२॥
 अरे समकित ज्ञान सम्यक्चरण से परिपूर्ण जो ।
 सत्कार पूजा दान के वे पात्र उनको नमन हो ॥७॥^०
 द्रव्यादि में जो मूढ़ता वह मोह उसके जोर से ।
 कर राग रुष परद्रव्य में जिय क्षुब्ध हो चहुंओर से ॥८३॥
 बंध होता विविध मोहरु क्षोभ परिणत जीव के ।
 बस इसलिए सम्पूर्णतः वे नाश करने योग्य हैं ॥८४॥
 अयथार्थ जाने तत्त्व को अति रती विषयों के प्रति ।
 और करुणाभाव ये सब मोह के ही चिह्न हैं ॥८५॥
 तत्त्वार्थ को जो जानते प्रत्यक्ष या जिनशास्त्र से ।
 दृगमोह क्षय हो इसलिए स्वाध्याय करना चाहिए ॥८६॥
 द्रव्य-गुण-पर्याय ही हैं अर्थ सब जिनवर कहें ।
 अर द्रव्य गुण-पर्यायमय ही भिन्न वस्तु है नहीं ॥८७॥
 जिनदेव का उपदेश यह जो हने मोहरु क्षोभ को ।

वह बहुत थोड़े काल में ही सब दुखों से मुक्त हो ॥८८॥
 जो जानता ज्ञानात्मक निजरूप अर परद्रव्य को ।
 वह नियम से ही क्षय करे दृगमोह एवं क्षोभ को ॥८९॥
 निर्मोह होना चाहते तो गुणों की पहिचान से ।
 तुम भेद जानो स्व-पर में जिनमार्ग के आधार से ॥९०॥
 द्रव्य जो सविशेष सत्तामयी उसकी दृष्टि ना ।
 तो श्रमण हो पर उस श्रमण से धर्म का उद्भव नहीं ॥९१॥
 आगमकुशल दृगमोहहत आरूढ़ हों चारित्र में ।
 बस उन महात्मन श्रमण को ही धर्म कहते शास्त्र में ॥९२॥
 देखकर संतुष्ट हो उठ नमन वन्दन जो करे ।
 वह भव्य उनसे सदा ही सद्धर्म की प्राप्ति करे ॥८॥^०
 उस धर्म से तिर्यच नर नरसुरगति को प्राप्त कर ।
 ऐश्वर्य-वैभववान अर पूरण मनोरथवान हों ॥९॥^०

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनाधिकार

सम्यक् सहित चारित्रयुत मुनिराज में मन जोड़कर ।
 नमकर कहूँ संक्षेप में सम्यक्त्व का अधिकार यह ॥१०॥^०
 गुणात्मक हैं द्रव्य एवं अर्थ हैं सब द्रव्यमय ।
 गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्ययमूढ़ ही हैं परसमय ॥९३॥
 पर्याय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में ।
 थित जीव ही हैं स्वसमय - यह कहा जिनवरदेव ने ॥९४॥
 निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययध्रुवयुक्त गुण-
 पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें ॥९५॥
 गुण-चित्रमयपर्याय से उत्पादव्ययध्रुवभाव से ।
 जो द्रव्य का अस्तित्व है वह एकमात्र स्वभाव है ॥९६॥
 रे सर्वगत सत् एक लक्षण विविध द्रव्यों का कहा ।
 जिनधर्म का उपदेश देते हुए जिनवरदेव ने ॥९७॥
 स्वभाव से ही सिद्ध सत् जिन कहा आगमसिद्ध है ।

यह नहीं माने जीव जो वे परसमय पहिचानिये ॥१८॥
 स्वभाव में थित द्रव्य सत् सत् द्रव्य का परिणाम
 ज ।
 उत्पादव्ययध्रुवसहित है वह ही पदार्थस्वभाव है ॥१९॥
 भंगबिन उत्पाद ना उत्पाद बिन ना भंग हो।
 उत्पादव्यय हो नहीं सकते एक ध्रौव्यपदार्थ बिन ॥१००॥
 पर्याय में उत्पादव्ययध्रुव द्रव्य में पर्यायें हैं।
 बस इसलिए तो कहा है कि वे सभी इक द्रव्य हैं ॥१०१॥
 उत्पादव्ययथिति द्रव्य में समवेत हों प्रत्येक पल।
 बस इसलिए तो कहा है इन तीनमय हैं द्रव्य सब ॥१०२॥
 उत्पन्न होती अन्य एवं नष्ट होती अन्य ही।
 पर्याय किन्तु द्रव्य ना उत्पन्न हो ना नष्ट हो ॥१०३॥
 गुण से गुणान्तर परिणमें द्रव्य स्वयं सत्ता अपेक्षा।
 इसलिए गुणपर्याय ही हैं द्रव्य जिनवर ने कहा ॥१०४॥
 यदि द्रव्य न हो स्वयं सत् तो असत् होगा नियम से।
 किम होय सत्ता से पृथक् जब द्रव्य सत्ता है स्वयं ॥१०५॥
 जिनवीर के उपदेश में पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता।
 अतद्भाव ही अन्यत्व है तो अतत् कैसे एक हों ॥१०६॥
 सत् द्रव्य सत् गुण और सत् पर्याय सत् विस्तार है।
 तदरूपता का अभाव ही तद्-अभाव अर अतद्भाव है ॥१०७॥
 द्रव्य वह गुण नहीं अर गुण द्रव्य ना अतद्भाव यह।
 सर्वथा जो अभाव है वह नहीं अतद्भाव है ॥१०८॥
 परिणाम द्रव्य स्वभाव जो वह अपृथक् सत्ता से सदा।
 स्वभाव में थित द्रव्य सत् जिनदेव का उपदेश यह ॥१०९॥
 पर्याय या गुण द्रव्य के बिन कभी भी होते नहीं।
 द्रव्य ही है भाव इससे द्रव्य सत्ता है स्वयं ॥११०॥
 पूर्वोक्त द्रव्यस्वभाव में उत्पाद सत् नयद्रव्य से।
 पर्यायनय से असत् का उत्पाद होता है सदा ॥१११॥
 परिणमित जिय नर देव हो या अन्य हो पर कभी भी।
 द्रव्यत्व को छोड़े नहीं तो अन्य होवे किसतरह ॥११२॥
 मनुज देव नहीं है अथवा देव मनुजादिक नहीं।

लेखक के महत्वपूर्ण प्रकाशन

०१. समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००	३२. मैं स्वयं भगवान हूँ	३.००
०२. समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००	३३. रीति-नीति	३.००
०३. समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००	३४. शाकाहार	२.५०
०४. समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००	३५. तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
०५. समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००	३६. चैतन्य चमत्कार	२.००
०६. प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३०.००	३७. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
०७. समयसार का सार	२५.००	३८. गोम्मटेश्वर बाहुबली	१.००
०८. पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	३९. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
०९. परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००	४०. अनेकान्त और स्याद्वाद	१.००
१०. चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००	४१. शाश्वत तीर्थधाम सम्मोदशिखर	१.५०
११. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	१५.००	४२. सार समयसार	१.५०
१२. धर्म के दशलक्षण	१६.००	४३. बिन्दु में सिन्धु	२.००
१३. क्रमबद्धपर्याय	१२.००	४४. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना	१.५०
१४. बिखरे मोती	१६.००	४५. कुन्दकुन्द शतक पद्यानुवाद	१.००
१५. सत्य की खोज	१६.००	४६. शुद्धात्म शतक पद्यानुवाद	१.००
१६. अध्यात्मनवनीत	१५.००	४७. समयसार पद्यानुवाद	३.००
१७. आप कुछ भी कहो	८.००	४८. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
१८. आत्मा ही है शरण	१५.००	४९. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
१९. सुक्ति-सुधा	१८.००	५०. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
२०. बारह भावना : एक अनुशीलन	१२.००	५१. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
२१. दृष्टि का विषय	१०.००	५२. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद ।	३.००
२२. गागर में सागर	७.००	५३. अर्चना जे.बी.	१.००
२३. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	७.००	५४. कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित)	१.२५
२४. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००	५५. शुद्धात्मक शतक (अर्थ सहित)	१.००
२५. आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम	५.००	५६. बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
२६. जिनवरस्य नयचक्रम	६.००	५७. बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
२७. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	५८. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	३.००
२८. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१२.००	५९. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
२९. मैं कौन हूँ	४.००	६०. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
३०. निमित्तोपादान	३.५०	६१. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
३१. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००	६२. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००